सद्गुरवे नमः

सद्गुरु कबीर विरचित

बीजक

1. रमैनी 2. बीजक

अभिलाष दास

प्रकाशक
कबीर पारख संस्थान
संत कबीर मार्ग, प्रीतम नगर, इलाहाबाद-211011
Visit us : www.kabirparakh.com
E-mail : kabirparakh@yahoo.com

पहली बार से चौथी बार 1969 से 1987 तक
परिशोधित एवं परिवर्द्धित पांचवीं बार वि०सं० 2047 सन् 1990
इक्कीसवीं बार वि०सं० 2073 सन् 2016
सत्कबीराब्द 618

ISBN : 81-8422-005-7

© कबीर पारख संस्थान

मूल्य : 250.00

लेजरटाइप-सेटर
अमन कम्प्यूटर
बेनीगंज, इलाहाबाद-16
मो. : 9935836794

मुद्रक
इण्डियन प्रेस (प्रा.लि.)
पन्नालाल रोड, इलाहाबाद-1

Bijak Vyakhya : ABHILASH DAS

बीजक : पारख प्रबोधिनी व्याख्या

भाग–1

❖ रमैनी

❖ शब्द

समर्पित

उन साधु-सज्जनों एवं देवियों के कर-कमलों में
जो अपने मत की विरोधी बातों को सुनने
में भी सक्षम, निष्पक्ष विचारक
एवं सत्यान्वेषी हैं।

आभार और अभिवादन

मैंने पूरे बीजक की टीका सन् 1966 ई. में शंकर भक्त के आश्रम (मुहम्मद नगर, बस्ती, उ. प्र.) में रहकर लिखी थी। वह 1969 ई. में पहली बार छपी ओर उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती गयी। परन्तु कुछ दिनों के बाद मुझे उसकी कमियों का अनुभव होने लगा। पंडित परशुराम चतुर्वेदी जो कबीर साहेब पर एकनिष्ठ तथा यशस्वी लेखक हो चुके हैं, उनके अनुज पंडित नर्मदेश्वर चुतर्वेदी ने भी मुझसे कहा था कि आपने बीजक टीका लिखने में अथक परिश्रम किया है, परन्तु उसके हर स्थल के अर्थ विद्वान लोग नहीं मानेंगे।

बीजक पर मेरे निरन्तर चिंतन, मनन और प्रवचन बढ़ते गये। उधर पहली वाली बीजक टीका के संस्करण-पर-संस्करण छपते गये। अंततः करीब बारह वर्षों के परिपाक विचार के बाद बीजक की आदि से अंत तक पुनः व्याख्या लिखने का संकल्प दृढ़ हुआ। वर्ष के प्रायः मेरे आठ-नौ महीने भारत के विविध प्रदेशों के प्रवचन-कार्यक्रमों में भ्रमण करते हुए जाते हैं, और तीन-चार महीने इलाहाबाद कबीर पारख संस्थान में वर्षावास होता है। मैं सब जगह उसको अबाधगति से लिखता गया।

अबकी बार लिखते समय न यह सोचता था कि मेरे पारंपरिक महापुरुषों ने किस पंक्ति का क्या अर्थ किया है और न यह सोचता था कि मैंने स्वतः पहली वाली टीका में क्या लिखा था; अपितु हर पंक्ति पर यह सोचता था कि कबीर साहेब कहना क्या चाहते हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—इन तीन शब्द-शक्तियों को आधार बनाकर लिखता गया। लिखते-लिखते कबीर साहेब के पारदर्शी विचारों से मन गद्गद हो जाता था। जब मैं 1988 ई. में भोपाल के कार्यक्रमों में था, एक प्रातः व्याख्या लिखते समय मन ऐसा आनंदित हुआ कि उसी डायरी के अंत के पृष्ठ में लिखा—

"*इस समय का मेरा परम प्रिय विषय है बीजक-व्याख्या लिखना। इस समय समाधि-सुख के बाद मेरा दूसरा सुख यही है। इस समय न मेरा मन किसी से मिलने के लिए कहता है, न प्रवचन देने के लिए, न भ्रमण करके कार्यक्रम देने के लिए और न अन्य विषयों पर लेख लिखने के लिए। इस समय केवल बीजक-व्याख्या लिखने के लिए मन में रुचि है। इसीलिए इन धुआंधार कार्यक्रमों में भी सुबह कुछ समय निकालकर इसे लिखता हूं।*

परन्तु कार्यक्रम देने, प्रवचन देने, यात्रा करने तथा कम-से-कम पारख प्रकाश के लिए लिखने एवं उसके संपादन के लिए भी विवश हूं। सद्गुरु कबीर देव के बीजक की पंक्तियां कितनी मार्मिक, कितनी महान भाव वाली, कितनी गहन-गंभीर तथा कितनी तथ्यपूर्ण हैं, यह उन पर सोचने से पता चलता है।"

सन् 1969 ई. में छपी बीजक पारख प्रबोधिनी टीका परिशोधित, परिमार्जित एवं परिवर्धित कर दो खण्डों में बीजक पारख प्रबोधिनी व्याख्या नाम से सन् 1990 ई. में पांचवें संस्करण के रूप में छपी और चारों तरफ फैलने लगी; और तब से गुरुजनों, संतों, भक्तों, स्वमत के पाठकों, परमत के पाठकों, विद्वानों तथा सर्व सामान्य पाठकों की ओर से बीजक व्याख्या की प्रशंसा में मेरे ऊपर चारों तरफ से कृपा, स्नेह, प्रेम, श्रद्धासमर्पण की बारिश होने लगी। पाठकों से लेखक को इससे बड़ा उपहार और क्या मिल सकता है! मेरे गुरुदेव श्री रामसूरत साहेब ने कहा कि अबकी बार बीजक की हर पंक्ति और हर भाव का समाधान हुआ है और यह स्वर हजारों पाठकों के हैं। पंडित नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने बीजक-व्याख्या के दोनों खण्ड पढ़ने के बाद सन् 1990 ई. में ही कबीर पारख संस्थान में आकर कहा—"आपके दो खण्डों वाली बीजक-व्याख्या के लिए आप को शतशः बधाई। अब, इससे अच्छी टीका कोई लिख देगा तब देखा जायेगा।"

कबीर साहेब के आविर्भाव-काल का छह सौवां वर्ष समाप्त हो रहा है। कोई भी टीकाकार उनकी हर पंक्ति के पूर्ण भावप्रकाशन का दावा नहीं कर सकता, फिर हर प्रकार से अकिंचन इन पंक्तियों का लेखन यह दावा कैसे करेगा! वस्तुतः चाहे किसी ग्रंथ की टीका-व्याख्या हो या किसी भावप्रकाशन पर लेख या प्रवचन हो, जो सर्वाधिक अच्छा समाधान प्रस्तुत करे वही सफल माना जाता है। इस भारी भरकम ग्रंथ के सातवें संस्करण का समय आ गया है। सभी पाठकों का उससे संतोष और मेरा अपना भी पूर्ण संतोष मेरे हृदय को सफलता की अनुभूति करा रहे हैं। सभी वर्ग के पाठकों ने जो अपनी प्रसन्नता व्यक्त की है, उसके लिए मैं अपनी ओर से आभार प्रकट करते हुए सबका अभिवादन करता हूं; और जिनकी टीकाओं तथा रचनाओं से मुझे इसको लिखने में सहयोग मिला है उनका आभार हृदय से स्वीकार करता हूं।

कबीर पारख संस्थान
कबीर नगर, इलाहाबाद
दिसम्बर 1997

विनम्र
अभिलाष दास

कबीर साहित्य के मर्मज्ञ तथा आलोचालक विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की सम्मति

मुझे इस बात का बड़ा खेद है कि अभी तक मैं श्री अभिलाष साहेब जी की अनुपम टीका 'पारख प्रबोधिनी' को पढ़कर उसके विषय में कुछ लिख नहीं पाया था। वास्तव में उसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रति प्राप्त करते ही, मैंने देख लिया था और सोचा था कि पूरा ग्रन्थ पढ़ जाने पर कभी अपने विचार प्रकट करूंगा। परन्तु अपना कार्यक्रम प्रायः व्यस्त रहने के कारण ऐसा आज तक भी नहीं कर पाया। पूर्ण ग्रन्थ अवश्य पढ़ जाऊंगा। मैंने जितना देखा है उसके आधार पर भी मैं कह सकता हूं कि प्रस्तुत कार्य बड़े मनोयोगपूर्वक सम्पन्न किया गया है। इसके अन्तर्गत जो कुछ भी कथन किया गया दिखता है वह तर्कसंगत एवं साधार लगता है जिस कारण मुझे आशा है यह कृति 'कबीर बीजक' के गम्भीर अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन सिद्ध होगी।

बलिया — आपका

2-2-70 — **परशुराम चतुर्वेदी**

कबीरपंथ-जगत के मूर्द्धन्य विद्वान
पंडित श्री रामेश्वरानंद साहेब जी की सम्मति

आपकी भेजी हुई बीजक टीका समय पर मिल गयी थी, प्राप्ति की सूचना राजादरवाजा वाराणसी को भेज दी गयी थी। पुनरपि अनेक धन्यवाद।

शिक्षण प्रारम्भ में श्री गुरुदयाल साहेब, श्री रामरहस साहेब तथा श्री पूरण साहेब के विचार से परिचित हुआ था। इसके उपरान्त श्री काशी साहेब के विचार भी यथामति मनन किया था। बाकी पारखी संतों के विचार बहुत कम जानने को मिले हैं, जिन लोगों के विचार पर दृष्टि करने का अवसर मिला है उनमें आपके विचार परम उदार प्रतीत हुए। आशा ही नहीं परम विश्वास है कि आपसे साधु समाज को बड़ा लाभ होगा, इस समय भी है। टीका के कई अंशों पर दृष्टि पड़ी, प्रायः सर्वत्र सत्य, शिव, सुन्दर का साक्षात्कार-सा हुआ। स्थाली पुलाक न्याय से मैं मानता हूं कि इस टीका से पारखी जगत सर्वाधिक लाभान्वित होगा। ब्रह्म, राम, हरि आदि शब्दों में समन्वय दृष्टि स्तुत्य है। भाषा प्रांजल तथा मनोरम है, विमत दार्शनिकों पर कटाक्ष कोमलता और शिष्टता के साथ है। आचारांश अधिक प्रशंसनीय है। भावव्यंजना में राग-द्वेष की तीव्रता का अभाव नितांत आकर्षक है। ग्रन्थ-रत्न भेजकर मुझे आपने प्रेमानुगृहीत किया है।

पानी दरवाजा, बड़ोदा — आपका

12-3-70 — **रामेश्वरानंद**

दो शब्द

पारख सिद्धान्त के गम्भीर चिंतक, ज्ञान-वयोवृद्ध, विरक्त संत श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब जी के उद्‌गार

सर्व के सच्चे सुहृद, विनम्र, निष्पक्ष विवेक-युक्त सत्य सिद्धान्त का चित्रण करने में अद्‌भुत लेखक साहेब जी ने सुवर्ण-कसौटी एवं तुलनात्मक दृष्टि से मूल ग्रन्थकर्ता गुरुवर कबीर देव के हृदिभाव को खूब ही तौला है। इसमें जो आपका अथक प्रयत्न है वह अनन्त साधुवाद के योग्य है। एक तो इसकी टीका अविभंग युक्तियुक्त है, दूसरे गुरुजन सम्मत है, तीसरे असद् मत का निरसन करते हुए भी विनम्रता-सहित जो सर्वोचित मर्यादा रक्षत्व के दृष्टिकोण से आपका प्रवचन हुआ है वह तो सोने में सुगन्ध का काम किया है। मैं क्या, कोई भी पाठक टीका पढ़ते-पढ़ते इसके रस से जब ज्ञानमग्न होगा तब वह भी मुक्तकण्ठ से यह कहे बिना नहीं रह सकता कि हां, टीका द्वारा बहुत कुछ मूल के सद्‌भाव का समदर्शन किया गया है। टीका पढ़कर सिद्धान्त-रहस्य का चित्र हृदयपट पर आकर्षक ढंग से उभर आता है। उसमें श्रद्धा, विवेक तथा सत्संग जोड़ दिया जाये तो वह सजीव होकर पाठकगण के आदर्श-जीवन का प्रकाशस्तम्भ बन सकता है।

सुस्वादिष्टता के साथ सुपाच्य तथा सुपाच्य के साथ बलप्रद व्यंजन हो तो क्या पूछना! प्रस्तुत टीका कुछ ऐसे ही बन पड़ी है। यह प्रियकर है, ग्राह्य है तथा मानवमात्र के लिए कल्याणकारक है। मानवमात्र के कल्याण की पुनीत दृष्टि तथा उदार चेतृत्व भावना से प्रेरित होकर एवं सक्रिय तत्परतापूर्वक टीका लिखकर तथा प्रकाशन कराकर जनता के सामने जो यह अलौकिक सिद्धान्तव्यंजन उपस्थित किया गया है, इसके लिए पाठकवृन्द का स्वाभाविक (मेरे बिना कहे ही) टीकाकार की प्रतिभा और समाज के प्रति उनकी अनन्त उपकारता सोचकर साधुवाद की ओर ध्यान गये बिना रह नहीं सकता।

प्रस्तुत टीका की भाषा में धारावाहिकता है। कथनशैली में स्पष्टता तथा मधुरता है। आलोचनात्मक होते हुए भी सर्व शुभ मर्यादाओं का संरक्षण है। सबके दोषों का परिहार करते हुए, गुणों का समादर है। सामाजिक ऐक्य तथा उन्नति पर गम्भीर चिंतन है। भौतिकीय साम्यवाद से हटकर चैतन्यपक्षीय

साम्यवाद का समर्थन है। सद्गुरु कबीर के मौलिक पारख-सिद्धान्त का स्पष्ट निदर्शन है। मानव-जीवन का जो परम या चरम लक्ष्य है—विश्वसंघर्ष ज्वाला से रहित परमशान्ति—पारख—ज्ञानस्वरूप की स्थिति; उसका इसमें विशद विवेचन हुआ है।

मननकर्ताओं से मेरा अन्तिम निवेदन यह है कि ग्रन्थमूल एवं टीकाकार के सद्भाव पर ध्यान देकर इसका मनन करें तथा सर्वगुणग्राही बनकर स्वयं तरण-तारण बनें।

'दो शब्द ही लिख दीजिये' इस प्रेम भरे सद्भाव से प्रेरित होकर मैंने अपने हृदिभाव को यथा-तथा कह डाला है। आशा है टीकाकार साहेब जी इतने ही में बहुत कुछ सन्तोष मानेंगे और ग्रन्थ मनन करने वाले साधु-सज्जन भी प्रमुदित होंगे।

टीकाकार के सुशील, विनम्र प्रेमयुक्त
सद्भावना का पोषक
प्रेमदास

महामानव-अभिनन्दन

ऐ हो उदार चेता, मानव महान प्रानी।
तू ही तो सर्व हेता, अतिशय महान ज्ञानी॥टेक॥
तू ही तो ऋषि मुनी हो, मन्थन विवेक कर कर।
मथ मथ के घीव काढ़े, विज्ञान ज्ञान खानी॥ 1॥
तू ही तो आगे शोधा, जड़भास को निरोधा।
होकर कबीर रविवत, तू ही महान दानी॥ 2॥
तेरी उदार दृष्टी, सबके लिये सुअवसर।
सब के ही प्रति सुमंगल, सद्भाव प्यार आनी॥ 3॥
तू सत्य शान्त पावन, निर्मल रुचिर सुहावन।
व्यक्तित्व, तेरी रचना, उत्थान सब प्रदानी॥ 4॥
तू ही विशाल होकर, गुरु संत रूप दर्शे।
तेरी ही शरण जाकर, जन प्रेम नित अघानी॥ 5॥

भूमिका

1. सद्गुरु कबीर की महत्ता

हिन्दी संत-कवि ही नहीं, अपितु संपूर्ण हिन्दी साहित्य तथा भारतीय संत कवियों में कबीर का अन्यतम स्थान तो है ही, पूरे विश्व की संत-परंपरा में भी वे शीर्ष स्थानीय हैं। उनका अवतरण मध्यकाल में हुआ था। यह वह काल था जब उदात्त भारतीय चिन्तन सरणी स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवहमान धारा से हटकर परंपरावाद एवं शास्त्र-प्रमाण की संकीर्ण पंकिल भूमि तक ही सिमट गयी थी। इस काल में धार्मिक संकीर्णता, जातीय संघर्ष, सांप्रदायिक उन्माद एवं सामाजिक भेदभाव चरमसीमा पर थे। तत्कालीन शासकों के साथ मिलकर पंडे-पुजारी और मुल्ला-मौलवी सामान्य जनता का हर तरह से शोषण कर रहे थे। आम जनता की स्थिति "दो पाटन के बीच में, साबुत गया न कोय" जैसी थी। रक्षक ही भक्षक बन रहा था।

मध्ययुग के उस संक्रमण काल में अद्भुत प्रतिभा, साहस एवं व्यक्तित्व लेकर कबीर का अवतरण हुआ। उनकी मर्मभेदी दृष्टि धार्मिक पाखण्ड एवं अंधविश्वासों के कुहासों को चीरकर शाश्वत सत्य एवं मानवता को देख लेने में पूर्णरूपेण सक्षम थी। धार्मिक जड़ता, जाति-व्यवस्था एवं वर्णाभिमान के समर्थकों को उन्होंने खुली चुनौती दी और धार्मिक स्वतंत्रता तथा मानव-समानता पर आधारित समाज-संरचना पर बल दिया। किसी भी प्रकार के असत्य और पाखण्ड के साथ समझौता करना तो वे सीखे ही नहीं थे। इसीलिए उन्होंने शास्त्रानुमोदित परंपरा-पोषित सुखद मार्ग को नहीं अपनाया, अपितु मानवता के उद्धारार्थ सत्य के कंटीले रास्ते को चुना और उस पर वे इकला चल पड़े। उनकी दृष्टि में सत्य सर्वोपरि था। सत्य ही उनका साध्य था और साधन भी।

2. जन्मकाल और जीवन-वृत्त

सद्गुरु कबीर ने अपना कोई जीवन-वृत्त नहीं लिखा है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह निर्धारित हुआ है कि उनका जन्म विक्रम संवत 1456 में हुआ था और मृत्यु वि.सं. 1575 में। परन्तु जिस तरह श्रद्धेया मां सीता के माता-पिता का पता नहीं चलता, उसी तरह सद्गुरु कबीर के माता-पिता का पता नहीं चलता। जिस तरह राजा जनक ने सीता जी को शिशुरूप में खेत में पाया था, उसी तरह नीरू-नीमा नामक जुलाहे दंपती ने कबीर को लहरतारा

तालाब के किनारे पाया था। सीता जी एवं कबीर साहेब—दोनों के माता-पिता का पता न चलने के कारण श्रद्धालुओं द्वारा दोनों के जीवन में चमत्कारपूर्ण कथानक जोड़कर दोनों को अलौकिक बताया गया, यद्यपि ऐसा करना सत्य का अपलाप करना है। भले ही सीता जी एवं सद्गुरु कबीर दोनों के माता-पिता का पता न चलता हो, परन्तु दोनों अपने-अपने क्षेत्र में महान हैं। लेकिन यह ज्वलंत सत्य है कि हर इनसान मां-बाप से ही पैदा होता है। नीरू-नीमा जुलाहे दंपती के यहां पाले-पोषे जाने के कारण कबीर साहेब के मन में किसी प्रकार की हीन-भावना बिलकुल ही नहीं थी, बल्कि उन्होंने अपने को अनेक जगह जोलाहा कहकर ही व्यक्त किया है, यथा 'जोलहा दास कबीरा हो', 'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा।' आदि। अपनी प्रारंभिक युवावस्था तक वे कपड़ा बुनने का काम करते रहे हों, इसमें किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

3. वे विरक्त संत थे

समस्त कबीर साहित्य में सद्गुरु कबीर का विरक्त रूप ही झलकता है, परन्तु उनके नाम से पायी जाने वाली अनेक वाणियां जो रूपकों एवं प्रतीकों में कही गयी हैं तथा श्लेषात्मक हैं, उनके वास्तविक अर्थ को न समझकर उनका शाब्दिक अर्थ करते हुए अनेक लेखकों ने कबीर साहेब को गृहस्थ ही नहीं सिद्ध किया बल्कि किसी ने तो उनकी दो पत्नियां होने का फतवा दे दिया। परन्तु समस्त कबीरपंथ के साथ-साथ अनेक विद्वान जो उनकी वाणियों के आध्यात्मिक रूपक एवं कथन-शैली को समझते हैं, वे इस मान्यता का समर्थन नहीं करते। कबीर-वाणी में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त 'लोई' शब्द जो आम जनता तथा 'लोग' का वाचक है और जो इसी अर्थ में कबीर के पूर्ववर्ती गोरखनाथ तथा नाथपंथियों की वाणियों में भी प्रयुक्त हुआ है, उस 'लोई शब्द को घसीटकर अनेक विद्वानों ने उसे कबीर की पत्नी बना डाला। परन्तु यह ज्वलंत सत्य है कि कबीर साहेब बाल-ब्रह्मचारी आजीवन विरक्त संत थे।

4. उनका राम

कबीर-वाणी में जितनी बार 'राम' शब्द का प्रयोग हुआ है, उतनी बार किसी और शब्द का नहीं। अकेले बीजक में इसका प्रयोग लगभग 170 बार हुआ है। परन्तु यह ध्यान रखना होगा कि जहां इसका प्रयोग घट-घटवासी चेतन तत्त्व, स्वसत्ता के अर्थ में है वहां पर यह विधिपरक है और जहां आत्मतत्त्व से भिन्न किसी लोकवासी के लिए है वहां निषेधपरक। दाशरथि राम का अनेक स्थलों पर उल्लेख करते हुए भी कबीर ने कहीं पर भी उन्हें

अपना इष्ट या उपास्य नहीं माना है, बल्कि दाशरथि राम को उपास्य मानने वालों की उन्होंने आलोचना की है। यथा—"दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना। राम नाम का मर्म है आना।"[1] इसी तरह अनेक पदों में भी देखा जा सकता है। यहीं पर स्वामी रामानन्द से उनका विरोध भी दिखाई पड़ता है। किंवदंती के अनुसार स्वामी रामानन्द कबीर के गुरु माने जाते हैं। हो सकता है प्रारंभिक साधनाकाल में कबीर साहेब ने स्वामी रामानन्द से कुछ सीखा-समझा हो, परन्तु आगे चलकर सैद्धान्तिक अन्तर पड़ने से उन्होंने उनकी आलोचना की है। क्योंकि स्वामी रामानन्द दाशरथि राम के प्रेम में मतवाले थे[2] और कबीर साहेब किसी शरीरधारी को संसार का हर्ता-कर्ता मानकर उसे अपना उपास्य मानने एवं उसके प्रेम में मतवाले रहने के सख्त खिलाफ थे। यद्यपि उन्होंने स्वयं भी रामरस पीने की सलाह दी है, यथा—कोई राम रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे युग जीयहुगे (बीजक, शब्द-20), परन्तु यहां उनका रामरस दाशरथि राम या किसी कल्पना लोकवासी राम का प्रेमरस नहीं, अपितु आत्माराम, जो स्वचेतन सत्ता के रूप में प्रत्येक घट में विराजमान है, उसका प्रेमरस है। कबीर-वाणी के अध्येताओं को इस अन्तर को ख्याल में रखना चाहिए।

5. वेद-कितेब पर उनकी दृष्टि

लोकप्रचलित धारणा है कि कबीर साहेब ने वेद-शास्त्रों का केवल खण्डन ही किया है, परन्तु यह धारणा पूर्णतः सही नहीं है। पहले यह याद रखना होगा कि कबीर साहेब किसी के खिलाफ नहीं थे, यदि खिलाफ थे तो अंधविश्वास, पाखण्ड एवं असत्य के। जब समाज के मार्गदर्शक कहे जाने वाले पंडित और मुल्ला समाजहित-विरोधी पाखण्डपूर्ण अलीक धारणाओं को वेद-कितेब समर्थित बताकर एवं उन्हें जनसमाज पर जबर्दस्ती थोपकर जनता को गुमराह कर रहे थे, तब कबीर साहेब को कहना पड़ा—'नौधा वेद कितेब है, झूठे का बाना।' (शब्द 113), 'वेद कितेब दोउ फंद पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा।' (शब्द-32) आदि। बीजक में 'वेद' शब्द 52 बार उल्लिखित हुआ है और अनेक जगह आदर के साथ भी—यथा—'लोक वेद मों देऊँ देखाई' (रमैनी-37), 'आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव' (साखी-131), 'जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय। सोई देउँ सिखापना, कोई नहीं पतियाय' (साखी-123) आदि। परन्तु यह ध्यान रखना

---

1. शब्द-109।
2. रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके। (शब्द 77)

होगा कि कबीर साहेब ने आंख मूंदकर कहीं भी वेद-कुरान का समर्थन नहीं किया है।

6. शुद्ध मानवीय दृष्टिकोण

तथाकथित ईश्वर और ईश्वर-वाणी के नाम पर अंधविश्वास, भ्रम एवं पाखण्ड फैलाकर मानव समाज का वंचन तो किया ही जा रहा था, मानव-मानव के बीच ईर्ष्या, घृणा एवं सांप्रदायिक भेदभाव की दीवार खड़ी की जा रही थी। अदृश्य ईश्वर के नाम पर प्रत्यक्ष ईश्वर इनसान के खून की होली खेली जा रही थी और निर्जीव पानी-पत्थर के सामने सजीव प्राणियों की बलि दी जा रही थी। कबीर की अन्तरात्मा यह सब देखकर तिलमिला उठी। धर्म के ऐसे ठेकेदारों को उन्होंने आड़े हाथों लिया। परन्तु कबीर की अन्तरात्मा इस बात से सबसे ज्यादा दुखी थी कि ईश्वरीय-वाणी का पाखण्ड रचकर पुरोहितों द्वारा समाज के विशालतम अंग को अछूत तथा शूद्र घोषितकर उसके समस्त मानवीय अधिकारों से उसे वंचित किया जा रहा था। तथाकथित नीची मानी गयी जाति में पैदा होने से कोई मनुष्य नीच, अछूत, अस्पृश्य, अंत्यज है, इसलिए उसे अमुक-अमुक क्षेत्र में उन्नति करने का कोई अधिकार नहीं है, ऐसा फतवा देना जघन्य अपराध है और यह अपराध समाज के मुट्ठीभर तथाकथित उच्चवर्ण के लोग ईश्वर और ईश्वर-वाणी का आधार लेकर हजारों वर्षों से करते चले आ रहे थे। कबीर साहेब ने इसका खुलकर विरोध किया और कहा मानव समाज में उत्पन्न सारे भेदभाव घृणित स्वार्थ-बुद्धि की देन हैं । उनकी दृष्टि में मानव हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र आदि न होकर केवल मानव है और मानव मात्र को सब दिशा में उन्नति करने का समान अधिकार है।

7. विश्वसत्ता की समझ

ज्यादातर धार्मिकों ने संसार को समझने के लिए विवेक-बुद्धि का नहीं, अपितु भावुकता एवं श्रद्धा का सहारा लिया है। इसलिए संसार के बारे में उनका दृष्टिकोण एवं चिंतन सत्य से बहुत दूर चला गया है। वस्तुतः संसार को समझने के लिए हमें संसार में ही झांकना होगा। संसार जड़-तत्त्वों के असंख्यात परमाणुओं का संव्यूहन है। जड़ द्रव्यों की स्वभावसिद्ध गतिशीलता से ही यहां नानाविध वस्तुओं के उत्पाद-विनाश अनवरत होते रहते हैं और इस प्रकार संसार अबाध गति से निरंतर चल रहा है। जड़ द्रव्यों के स्वयंसिद्ध गुण-धर्मों को न समझकर उनके संचालन के लिए किसी पृथक सुप्रीम सत्ता की कल्पना करना वस्तुतथ्य एवं सत्य से दूर हो जाना तथा अन्धकार में

हाथ-पैर मारना है। जड़ द्रव्यों की न तो किसी काल-विशेष में नये सिरे से सृष्टि होती है और न ही प्रलय। संसार सृष्टि-प्रलय से रहित अनादि-अनंत है। कबीर साहेब की दृष्टि में संसार मन का प्रतिबिम्ब एवं गंधर्वनगर की भांति असत्य न होकर अपने क्षेत्र में ठोस एवं सत्य है। हां, संसार से हमारा सम्बन्ध औपाधिक एवं स्वप्नवत अवश्य है। इसीलिए कबीर साहेब ने कहा है—"झूठ झूठा कै डारहू, मिथ्या यह संसार। तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार" ॥ र.सा. 60 ॥

8. माया की परिभाषा

साधारण जनता ही नहीं, विद्वत जगत में भी यह धारणा घर कर गयी है कि माया दुस्तरा है, अघटित घटना पटीयसी तथा दुरत्यया है। दार्शनिक जगत में तो माया की ऐसी उलझी हुई व्याख्या की गयी है कि वह अबूझ पहेली बनकर रह गयी है। माया को किसी ईश्वर की ऐसी शक्ति बतायी गयी है कि उससे पार पाना बहुत ही मुश्किल है। जिस मनुष्य पर किसी प्रभु की कृपा हो वही माया से बच सकता है, दूसरा नहीं। इस सम्बन्ध में कबीर साहेब का दृष्टिकोण बहुत ही सरल, सटीक और सहज बोधगम्य है। उन्होंने कहा कि 'संतो आवै जाये सो माया।' वस्तुतः मनुष्य का मन जिसमें मोहित हो जाये वही उसके लिए माया है। मन का मोह ही माया है और माया मन का ही स्वरूप है। बीजक के 59वें शब्द में माया का बहुत ही सटीक चित्रण कबीर साहेब ने किया है। माया से बचने के लिए किसी प्रभु की कृपा नहीं, अपितु विवेक-विचार की आवश्यकता है। इसके लिए साखी 104 से 107 तक की व्याख्या देखें।

9. बीजक उनका सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ

यह तो नहीं कहा जा सकता कि बीजक के अतिरिक्त कबीर साहेब के नाम से प्रचलित अन्य वाणियां उनके द्वारा ही कही गयी हैं, क्योंकि उनमें प्रक्षेपों की भरमार है। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि 120 वर्ष के लम्बे जीवन में उन्होंने बीजक के अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं है। बीजक के अतिरिक्त भी उनकी बहुत-सारी वाणियां हैं; परन्तु उनकी समस्त वाणियों में बीजक सर्वाधिक प्रामाणिक है। प्रसिद्ध वैष्णव सन्त नाभादास जी महाराज ने कबीर साहेब की प्रशंसा करते हुए जो छप्पय कहा है, उसकी एक पंक्ति है—"हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।" रमैनी, शब्द और साखी का यह क्रम किसी और कबीर-वाणी में नहीं, अपितु बीजक में ही है। बीजक ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें कबीर साहेब का क्रांतिकारी स्वरूप पूर्णरूपेण उभरा है।

10. बीजक के पदों का गूढ़त्व और सूत्रत्व

बीजक में कबीर साहेब ने अपने नामवाची कबीर, कबिरा, कबीरा, कबिरन, कबीरन आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया, स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ टीकाकारों के ख्याल से ये सभी शब्द एकार्थबोधक हैं और कबीर साहेब ने इन सबका प्रयोग अपने लिए ही किया है, केवल छंद प्रवाह बनाये रखने के लिए मात्राओं में हेर-फेर है। कुछ अन्य टीकाकारों के ख्याल से उपरोक्त सभी शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ बोधक हैं। परन्तु दोनों दृष्टि एकांगी हैं। उपर्युक्त सभी शब्द हर जगह कबीर साहेब के नाम एवं व्यक्तित्व से भिन्न अर्थ रखते हैं, ऐसी बात नहीं है, परन्तु हर जगह इन सबका एक ही अर्थ किया जाये तो पूरे अर्थ की संगति ही नहीं बैठ सकती। उदाहरणार्थ—भ्रमि भ्रमि कबिरा फिरै उदास; कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई; कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय; झूठा खसम कबीरन जाना; कबिरा बनौरी गावै; तथा तामहँ भ्रमि-भ्रमि रहल कबीरा आदि। केवल 86वें शब्द में 1 बार 'कबिरा', 4 बार 'कबीरा' कहकर छठीं बार 'कहहिं कबीर' का प्रयोग हुआ है।

बीजक हमें बरबस ही सूत्र ग्रन्थों की याद दिलाता है, जिसमें छोटा-सा वाक्य बहुत बड़े अर्थगांभीर्य एवं भाव को छिपाये रहता है। बीजक में रूपक, प्रतीक, अन्योक्तिकथन, उलटवांसी शैली, कहीं पूर्वपक्ष की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराने के लिए कहे गये वचन आदि होने से हर सिद्धान्त के मानने वालों को अपने दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना के लिए जगह मिल जाती है।

11. बीजक की अनेक टीकाएं

देशी-विदेशी अनेक विद्वानों द्वारा बीजक को प्रामाणिक कबीर साहित्य मानकर उसकी अब तक दर्जनों टीकाएं हो चुकी हैं तथा आज भी होती जा रही हैं। बीजक की अब तक हुई अनेक टीकाएं ऐसी हैं जिनकी भाषा-शैली पुरानी होने से वह आज सबकी समझ में ठीक से नहीं आती। कुछ में तो अर्थ अत्यन्त अस्पष्ट एवं भ्रामक हो गया है। और कुछ टीकाएं तो ऐसी हुई हैं जिनमें सारे पाखण्ड एवं कुरीतियों को जलाकर राख कर देने वाला कबीर का क्रांतिकारी विदग्धात्मक रूप ही ओझल हो गया है और वहां पर कबीर को परम्परापोषित भक्तकवि बनाकर रख दिया गया है तथा उन्हें किसी अदृश्य, अज्ञात शक्ति के आगे गिड़गिड़ाने वाला भावुक भक्त बना डाला गया है।

कोई भी ग्रन्थ चाहे वह मौलिक हो या टीका, यदि वह मनुष्य के आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास को न जगाकर उसे सदैव किसी दूसरे का

सहारा पकड़ने एवं उसकी कृपा पाने के लिए रोने-गिड़गिड़ाने की सीख देता है, तो वह मानव समाज की उन्नति में सहायक न होकर बाधक ही बनेगा। इसके विपरीत जो ग्रन्थ मनुष्य को पशु सामान्य धरातल से उठाकर उसे मानवीय धरातल तक लाता है एवं परमुखापेक्षिता तथा परावलम्बन की बैसाखी छुड़ाकर स्वावलम्बन की प्रेरणा देता है, वही मानव-समाज की उन्नति में सहायक हो सकता है।

12. बीजक की क्रांतिकारी टीकाएं तथा यह व्याख्या

कबीर साहेब के क्रांतिकारी विचार उभारने वाली सद्गुरु श्री रामरहस साहेब की भावात्मक टीका 'पंचग्रन्थी' तथा सद्गुरु श्री पूरण साहेब की व्याख्यात्मक टीका 'त्रिज्या' आदि से लेकर कई अन्य टीकाएं हुई हैं। इसी सन्दर्भ में पूज्यवर गुरुदेव संत श्री अभिलाष साहेब जी की 'पारख प्रबोधिनी टीका' आज से बीस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई थी और अब तक उसके चार संस्करण निकल भी चुके हैं। परन्तु बहुत दिनों से टीकाकार पूज्य गुरुदेव जी यह महसूस कर रहे थे कि उस टीका का संशोधन कर उसे और सर्वांगीण, स्वाभाविक तथा समीचीन बनाया जाये। इसके लिए आवश्यक था पूरी टीका नये सिरे से पुनः लिखी जाये, लेकिन ऐसा करना श्रम तथा समय साध्य था। अनेक नये ग्रन्थों के सृजन तथा अन्य कारणों से यह कार्य काफी समय के लिए रोक देना पड़ा, यद्यपि उनके मन में इसकी रूपरेखा काफी पहले बन गयी थी। अंततः लगभग डेढ़ वर्ष के अथक परिश्रम से यह टीका 'पारख प्रबोधिनी व्याख्या' के नाम से 14 अक्टूबर, 1988 को लिखकर पूरी हुई। अधिक विस्तृत होने से यह टीका दो खण्डों में रखी गयी है। रमैनी तथा शब्द प्रकरण प्रथम खण्ड में हैं एवं ज्ञान चौंतीसा से साखी प्रकरण तक दूसरे खण्ड में।

कोई भी लेखक चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो उसके सारे के सारे विचार सबको एक समान ग्राह्य और मान्य नहीं हो सकते। प्रस्तुत टीका (व्याख्या) के लिए भी यही बात है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह टीका मूल पदों के अधिकतम निकट रखी गयी है तथा उनके भावों को प्रकट करने में अधिक सक्षम है। वर्ण्य विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रमाणों से संयुक्त यह टीका इतना आकर्षक बन गयी है कि इसका पूर्ण समर्थन न करने वाले भी इसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

इस ग्रन्थ के सभी प्रकरण के आदि-अंत में हेतु छंद के रूप में एक छंद तथा दोहा एवं फल छंद के रूप में एक छंद तथा चौपाई दिये गये हैं, जो

प्रथम संस्करण से हैं। ये सभी छंद, दोहे तथा चौपाइयां परम श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब जी की रचनाएं हैं।

टीकाकार द्वारा टीका के प्रथम संस्करण के समय विस्तृत भूमिका लिखी गयी थी, जो पूर्व के चारों संस्करणों तक छपती रही। अब वह भूमिका 'कबीर : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' के नाम से स्वतन्त्र रूप से पुस्तकाकार में छपी है। अबकी बार पूरी टीका ही विवेचनात्मक एवं विस्तृत होने से वह भूमिका इस संस्करण में नहीं रखी गयी और व्याख्याकार पूज्य गुरुदेव जी द्वारा मेरे लिए आज्ञा हुई कि इस संस्करण के लिए भूमिका लिख दी जाये। उनकी आज्ञा एवं कृपा पाकर यह विनम्र प्रयास किया गया है। आशा है यह व्याख्या सभी वर्ग के पाठकों के लिए समान उपयोगी तथा जाति, वर्ण एवं वर्ग विहीन समाज-संरचना की दिशा में प्रेरणादायी होगी और आध्यात्मिक बोध एवं शांति की प्राप्ति के लिए साधन बनेगी।

कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद — विनम्र

5 नवम्बर, 1989 — **धर्मेन्द्र दास**

विषयानुक्रमणिका

प्रथम प्रकरण : **रमैनी**

क्रम	*विषय*	*पृष्ठ*
	ग्रंथ की प्रस्तावना	
1.	अन्तर ज्योति शब्द एक नारी	37
	जीव और जीव की इच्छा रूपी नारी गायत्री	
2.	जीव रूप एक अन्तर बासा	49
	सृष्टि कहां से हुई और राम कौन है?	
3.	प्रथम आरम्भ कौन को भयऊ	53
	परखकर जाल से बचने वाला ही निर्मल होता है	
4.	प्रथम चरण गुरु कीन्ह विचारा	56
	हंसदशा भ्रांतियों से परे है	
5.	कहलौं कहौं युगन की बाता	61
	कल्पनाएं छोड़कर मन को शून्य करो	
65.	बर्णहु कौन रूप औ रेखा	65
	सृष्टि अनादि तथा अनंत है	
7.	तहिया होते पवन नहिं पानी	72
	तत्त्वमसि-विचार	
8.	तत्त्वमसी इनके उपदेशा	71
	स्वयं बंधे देवताओं की उपासना से बन्धन नहीं कटेगा	
9.	बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता	75
	वासनाओं का त्याग अमृतस्थिति है	
10.	राही ले पिपराही बही	78
	भ्रांति और विषय-वासनाओं की नींद तोड़ो	
11.	आँधरि गुष्टि सृष्टि भइ बौरी	82
	माया से बचो	
12.	माटिक कोट पषाण को ताला	86

निस्सार भोगों को त्यागो
13. नहिं परतीत जो यह संसारा 89
पुरोहितों की मानवता-विरोधी व्यवस्था की भर्त्सना
14. बड़ सो पापी आहि गुमानी 94
अज्ञान-रात्रि में मनुष्य का भटकाव
15. वोनई बदरिया परिगौ संझा 100
16. चलत-चलत अति चरन पिराना 100
तुम स्वयं महान हो, अपने रामरूप का स्मरण करो
17. जस जिय आपु मिले अस कोई 103
संशय-पशु को मारो
18. अद्‌बुद पन्थ वरणि नहिं जाई 107
भ्रांति छोड़ो, राम में रमो
19. अनहद अनुभव की करि आशा 110
मन के विकारों से हटकर अविनाशी राम में रमो
20. अब कहु राम नाम अविनाशी 113
राम के ज्ञान से ही दुखों से छुटकारा है
21. बहुत दुःख दुख दुख की खानी 116
मोह-मन्दिर में मत घुसो
24. अलख निरंजन लखै न कोई 120
विषयसुख अल्प है, आत्मसुख नित्य है
23. अल्प सुख दुख आदिउ अन्ता 124
तुम स्वयं सर्वोच्च सत्ता हो
24. चन्द्र चकोर की ऐसी बात जनाई 128
जिसे खोजते हो वह तुम स्वयं हो
25. चौंतिस अक्षर का इहै विशेषा 131
निज चेतन स्वरूप को पहचानने वाला सर्वोच्च है
26. आपुहिं कर्ता भये कुलाला 133
संसार प्रकृति-पुरुषमय है
27. ब्रह्मा को दीन्हों ब्रह्मण्डा 138
कर्म-पट बीनने वाला जीव-जोलाहा
28. अस जोलहा काहु मर्म न जाना 140

रजोगुण से उठकर स्वरूपज्ञान में स्थित होओ
29. बज्रहु ते तृण खिन में होई 142
अविनाशी का बोध पाखंड से बाहर है
30. औ भूले षट दर्शन भाई 146
क्या धर्मशास्त्रज्ञ होने का फल अहंकार, पाखंड और शोषण है ?
31. सुमृति आहि गुणन को चीन्हा 150
विवेकहीन के लिए वेद-शास्त्र निरर्थक हैं
32. अन्ध सो दर्पण वेद पुराना 154
शास्त्रजाल का बन्धन
33. वेद की पुत्री सुमृति भाई 156
मोक्ष विचार
34. पढ़ि पढ़ि पण्डित करु चतुराई 163
विद्याभिमान तथा वर्णाभिमान का निराकरण
35. पण्डित भूले पढ़ि गुनि वेदा 167
जीव ही राम तथा श्रेष्ठ है
36. ज्ञानी चतुर बिचक्षण लोई 173
37. एक सयान सयान न होई 176
आत्मसंतोष जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है
38. यहि बिधि कहौं कहा नहिं माना 182
सत्य संप्रदाय तथा जाति-पांति से ऊपर है
39. जिन्ह कलमा कलि माहिं पढ़ाया 185
40. आदम आदि सुधि नहिं पाई 190
दुखमय संसार-समुद्र और सुखस्वरूप राम
41. अम्बु कि राशि समुद्र की खाई 195
अद्वैत-मीमांसा
42. जब हम रहल रहल नहिं कोई 200
स्वेच्छाचारिता का फल पतन
43. जिन्ह जिव कीन्ह आपु विश्वासा 205
कुसंग तथा मन की मलिनता रूपी नरक से बचो
44. कबहुँ न भयउ संग औ साथा 209
संसार की नश्वरता तथा माया-मोह के खतरे के दर्शन
45. हरणाकुश रावण गौ कंसा 211

46. बिनसे नाग गरुड़ गलि जाई 216
47. जरासिन्धु शिशुपाल सँघारा 231
मुसलिम मुल्लाओं से निवेदन
48. मानिकपुर कबीर बसेरी 231
49. दर की बात कहो दरबेसा 235
बन्धनों का मूल ममता
50. कहइत मोहि भयल युगचारी 239
स्वरूपस्थिति रहनी का विषय है
51. जाकर नाम अकहुवा रे भाई 242
परमतत्त्व को अपनी आत्मा से अलग खोजना भ्रम है
52. जेहि कारण शिव अजहुँ वियोगी 246
53. महादेव मुनि अन्त न पाया 248
देहधारी मरणधर्मा है
54. मरिगौ ब्रह्मा काशी को बासी 257
55. गये राम औ गये लछमना 255
विषयी जीवन की सारहीनता
56. दिन दिन जरै जलनी के पाऊ 259
स्वर्ग आकाश में नहीं, मन की पवित्रता में है
57. कृतिया सूत्र लोक एक अहई 262
सद्गुरु की असीम अनुकम्पा
58. तैं सुत मान हमारी सेवा 267
दृश्य से हटकर अपने द्रष्टास्वरूप में लौटो
59. चढ़त चढ़ावत भँड़हर फोरी 273
विषय-वैराग्य
60. छाड़हु पति छाड़हु लबराई 275
धर्म, ईश्वर और शास्त्र पर विवेक
61. धर्म कथा जो कहतहि रहई 280
ऊंच-नीच-रहित मानव समान है
62. जो तू करता बर्ण बिचारा 286
63. नाना रूप वर्ण एक कीन्हा 294
काल्पनिक सिद्धियों का व्यामोह छोड़कर आत्म-परख करो
64. काया कंचन जतन कराया 302

मुख्य मानवीय-गुण विचार है
65. अपने गुण को अवगुण कहहू 309
जीवन में सन्मार्ग और परोपकार की महत्ता
66. सोई हित बन्धू मोहि भावै 315
भक्ति क्या है ?
67. देह हलाय भक्ति नहिं होई 321
स्वरूपस्थिति-सुख
68. तेहि वियोगते भयउ अनाथा 325
साधु-वेषधारियों का व्यामोह
69. ऐसा योग न देखा भाई 330
वाणी-सुधार
70. बोलना कासो बोलिये रे भाई 332
निर्लिप्तवाद का दिखावा
71. सोग बधावा जिन्ह समकै माना 338
माया का आश्चर्यजनक तथा पतनकारी रूप
72. नारी एक संसारहि आई 341
73. चली जात देखी एक नारी 345
मानव की एकता मौलिक है, भेदभाव भ्रमजन्य है
74. तहिया होते गुप्त अस्थूल न काया 350
मोक्ष के आदर्श बोधवान संत हैं, संसारी अवतार नामधारी नहीं
75. तेहि साहेब के लागहु साथा 355
विवेक द्वारा माया से मुक्त होकर स्वरूप-राम में रमण
76. माया मोह सकल संसारा 359
स्व-स्वरूप की पहचान
77. एकै काल सकल संसारा 363
देहाभिमान की निन्दा
78. मानुष जन्म चूकेहु अपराधी 369
तुम्हारा लक्ष्य तुमसे अलग नहीं
79. बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी 373
80. बहुतक साहस करु जिय अपना 377
उपासना मलिन देवों की नहीं, निर्मल संतों की करो
81. देव चरित्र सुनहु हो भाई 381

सुख के लिए बनायी गयी दुनिया का व्यामोह
82. सुख के वृक्ष एक जगत्र उपाया 384
राजनैतिक और आध्यात्मिक क्षत्रियत्व पर विचार
83. क्षत्री करे क्षत्रिया धर्मा 389
दुखदायी माया-मोह को छोड़ो
84. ये जियरा तैं अपने दुखहिं सम्हार 395

द्वितीय प्रकरण : **शब्द**

गुरु-भक्ति, माया-विरति तथा असंगता
1. सन्तो भक्ति सतोगुर आनी 405
सावधानी ही साधना है
2. सन्तो जागत नींद न कीजै 411
घर के झगड़े का सुलझाव
3. सन्तो घर में झगरा भारी 420
धार्मिक भ्रांतियों पर विचार
4. सन्तो देखत जग बौराना 423
माया के भटकाव से बचो
5. सन्तो अचरज एक भौ भारी 429
6. सन्तो अचरज एक भौ भारी 431
स्व-स्वरूप-ज्ञान और सहज समाधि
7. सन्तो कहौं तो को पतियाई 434
अवतार-मीमांसा
8. सन्तो आवै जाय सो माया 439
व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक सुधार के लिए प्रेरणा
9. सन्तो बोले ते जग मारे 453
हिन्दू, मुसलमान तथा मानव मात्र का एक ही रास्ता है अहिंसा और संयम
10. संतो राह दुनों हम दीठा 460
पूजा के नाम पर हत्या करने वाले पुरोहितों की भर्त्सना
11. सन्तो पाँड़े निपुण कसाई 463
नाना मातों के भक्तों की मस्ती
12. सन्तो मते मातु जन रंगी 466

माया-मोह की सारहीनता
13. राम तेरी माया दुन्द मचावै 479
संशय-छेदन
14. रामुरा संशय गाँठि न छूटै 483
भवसागर से अपने आप को बचाओ
15. रामुरा चली बिनावन मा हो 490
हठयोग की कल्पनाओं की परख
16. रामुरा झीझी जन्तर बाजै 495
पुरोहित-मीमांसा
17. रामहि गावै औरहि समझावै 499
अवतार-समीक्षा
18. राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो 506
राम-भजन
19. ये तत्तु राम जपो हो प्रानी 509
रामरस-पान
20. कोई राम रसिक रस पीयहुगे 513
तीर्थ, मंत्रादि के पाखंड एवं विषयों को छोड़कर राम में रमो
21. राम न रमसि कौन डण्ड लागा 517
उच्चतम एवं परमपद की दशा
22. अवधू छाड़हु मन विस्तारा 524
माया की लीला
23. अवधू कुदरत की गति न्यारी 529
हठयोग का वर्णन
24. अवधू सो योगी गुरु मेरा 533
हठयोग की उपलब्धि माया के भीतर है
25. अवधू वो तत्तु रावल राता 536
सत्य का पथिक बिरला है
26. भाई रे बहोत बहोत क्या कहिये 539
स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति
27. भाई रे अद्‌बुद रूप अनूप कथ्यो है 543
मनोवृत्ति की स्थिति
28. भाई रे गइया एक बिरंचि दियो है 550

विषय-निवृत्ति से ही निजस्वरूप की स्थिति
29. भाई रे नयन रसिक जो जागे 557
अनेकता में एकता
30. भाई रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया 562
अविवेक से उलटी गति
31. हंसा संशय छूरी कुहिया 567
भ्रामक गुरुओं का परदाफाश एवं युगों का ऐतिहासिक अध्ययन
32. हंसा हो चित चेतु सकेरा 571
हंस को चेतावनी
33. हंसा प्यारे सरवर तजि कहाँ जाय 580
हंसदशा का चित्रण तथा हरि और राम शब्दों का ऐतिहासिक अध्ययन
34. हरिजन हंस दशा लिये डोले 583
जीव न किसी की पत्नी है न अंश, वह स्वयं पूर्ण है
35. हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया 590
36. हरि ठग ठगत ठगौरी लाई 592
37. हरि ठग ठगत सकल जग डोलै 595
व्यक्ति का निजात्मस्वरूप ही हरि है
38. हरि बिनु भर्म बिगुर्चनि गन्दा 597
सत्य को असत्य परास्त नहीं कर सकता
39. ऐसो हरि सो जगत लरतु है 601
रट्टू सुग्गा मत बनो, राम को पहचानो
40. पण्डित बाद बदे सो झूठा 602
छुआछूत पर विचार तथा उसका ऐतिहासिक अध्ययन
41. पण्डित देखहु मन में जानी 607
मोक्ष-विचार
42. पण्डित शोधि कहो समुझाई 612
43. पण्डित मिथ्या करहु विचारा 617
माया-विचार
44. बुझ बुझ पण्डित करहु विचारा 619
देह सबकी नाशवान है, वासना-त्याग ही अमरत्व है
45. को न मुवा कहो पण्डित जना 625

हिंसक और मांसाहारी पण्डितों से प्रश्न
46. पण्डित एक अचरज बड़ होई 628
छुआछूत का धोखा
47. पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी 632
अनेकता में एकता के सूत्र
48. पण्डित देखहु हृदय विचारी 643
समाधि एवं मोक्षतत्त्व का वर्णन
49. बुझ बुझ पण्डित पद निर्बान 648
संसार-वृक्ष से छुटकारा लो
50. बुझ बुझ पण्डित बिरवा न होय 656
मनोदशा का वर्णन
51. बुझ बुझ पण्डिन मन चितलाय 660
ब्रह्मज्ञानियों को चेतावनी
52. बूझ लीजै ब्रह्मज्ञानी 667
संसार-वृक्ष और एषणा-लता
53. वै बिरवा चीन्हे जो कोय 674
निजस्वरूप से पृथक परमतत्त्व खोजने वालों पर व्यंग्य
54. साँई के संग सासुर आई 677
मनुष्य की विपरीतता पर व्यंग्य
55. नर को ढाढ़स देखो आई 683
सच्चा पथ जानो
56. नर को नहिं परतीत हमारी 687
दूसरों की सेवा और आत्म-शोधन ही हरि-भजन है
57. ना हरि भजसि न आदत छूटी 692
मनोविकारों की दावग्नि बुझाओ
58. नर हरि लागि दौं बिकार बिनु इन्धन 700
माया ठगिनी का पर्दाफ़ाश
59. माया महा ठगिनी हम जानी 707
सद्गुरु-भगवान ही मोह-पाश से छुड़ा सकता है
60. माया मोह मोहित कीन्हा 710

देहाभिमानी की दुर्गति
61. मरिहो रे तन का लै करिहो 715
स्वरूपस्थिति एवं सहज समाधि की रहनी
62. माई मैं दूनों कुल उजियारी 720
गगन-मंडल के फूल
63. मैं कासों कहौं को सुने को पतियाय 726
साधारण लोगों को उपदेश
64. जोलहा बीनहु हो हरि नामा 730
योगियों पर विचार
65. योगिया फिरिगौ नगर मँझारी 733
66. योगिया के नगर बसो मति कोई 734
जगत के उपादान स्वरूप ब्रह्म-मान्यता की समीक्षा
67. जो पै बीज रूप भगवान 737
भवचक्र-चरखे का वर्णन
68. जो चरखा जरि जाय 750
शरीर-वीणा का वादक चेतन श्रेष्ठ है
69. जन्त्री जन्त्र अनूपम बाजे 753
जीव-वध और मांसाहार त्याज्य है
70. जस मास पशु की तस मास नर की 757
ढूंढो मत ठहरो
71. चातृक कहाँ पुकारो दूरी 759
देहाभिमान छोड़कर राम-भजन करो
72. चलहु का टेढ़ो टेढ़ो टेढ़ो 764
73. फिरहु का फूले फूले फूले 769
योग के नाम पर प्रपंच तथा अ-समीक्षा
74. ऐसो योगिया बदकर्मी 773
जाति, धर्म और अध्यात्म की एकता
75. ऐसो भरम बिगुर्चन भारी 777
हम अपने स्वरूप को स्वयं भूल गये हैं
76. आपन पौ आपुहि बिसर्‍यो 782

अपने पुरुषार्थ का भरोसा करो
77. आपन आश कीजै बहुतेरा 786
हरिबाजी से हटकर आत्मा राम में रमो
78. अब हम जानिया हो 792
निजस्वरूप-स्थिति ही परम प्राप्तव्य है
79. कहहु हो अम्मर कासों लागा 794
अपने आप को वासनाओं से मुक्त करो
80. बन्दे करिले आप निबेरा 798
परोक्ष-भक्तिरूपी चुनरी का चित्रण तथा राम और कृष्ण-भक्ति का ऐतिहासिक अध्ययन
81. ऊतो रहु ररा ममा की भाँति हो 802
हठयोग का दिग्दर्शन, मन के संयम से शांति
82. तुम यहि विधि समझो लोई 811
धर्म के नाम पर हत्या करना निंदनीय है
83. भूला बे अहमक नादाना 816
एक मानव-जाति, एक मानवता-धर्म तथा आत्माराम का बोध बाह्याचार में ढक गये हैं
84. काजी तुम कौन कितेब बखानी 820
देह-गेह तुम्हारे नहीं हैं
85. भूला लोग कहैं घर मेरा 824
तुम्हारा प्राप्तव्य तुम्हारी हृदय-गुहा में ही विद्यमान है
86. कबिरा तेरो घर कन्दला में 829
हठयोग द्वारा षटचक्र वेधन का स्वरूप
87. कबिरा तेरो बन कन्दला में 841
तुम्हारा लक्ष्य बाहर नहीं है
88. सावज न होइ भाई सावज न होई 847
जीवन क्षणभंगुर है, शीघ्र भव-बन्धनों से मुक्ति लो
89. सुभागे केहि कारण लोभ लागे 850
वीतराग संतपुरुष तथा निजात्मदेव ही उपासनीय हैं
90. सन्त महन्तो सुमिरो सोई 854
आशा-तृष्णा-वश सब देहधारी दुखी हैं
91. तन धरि सुखिया काहु न देखा 859

मन के पारखी बनो
92. ता मन को चीन्हो मोरे भाई 863
संसार की विपरीतता
93. बाबू ऐसो है संसार तिहारो 867
बाहर ब्रह्म की कल्पना में क्यों भटकते हो ?
94. कहो हो निरंजन कौने बानी 872
जग की उलटी रीति
95. को अस करे नगर कोटवलिया 875
मोह-काल से सावधान
96. काको रोवों गैल बहुतेरा 878
साम्प्रदायिकता-विहीन सत्य
97. अल्लाह राम जियो तेरी नाँईं 881
बाह्याडंबर छोड़कर सारतत्त्व पर ध्यान दो
98. आव बे आव मुझे हरि को नाम 891
जीवन की नश्वरता
99. अब कहाँ चलेउ अकेले मीता 895
तुम समर्थ हो, माया-मोह की दीनता छोड़ो
100. देखउ लोगा हरि केर सगाई 898
मन की विपरीतता को समझकर उसे छोड़ो
101. देखि देखि जिय अचरज होई 902
हृदय-घर के स्वामी आत्मदेव को पहचानो
102. हो दारी के ले देउँ तोहि गारी 906
क्या काशी क्या मगहर ऊसर?
103. लोगा तुमहीं मति के भोरा 910
बगुला भक्तों से सावधान
104. कैसे तरो नाथ कैसे तरो 918
भूत-प्रेत-योनि केवल भ्रम है
105. ये भ्रम भूत सकल जग खाया 922
भूलभुलैया में जीवन मत बिताओ
106. भँवर उड़े बग बैठे आई 925

विषयों को छोड़कर अपने स्वामित्व में प्रतिष्ठित होओ
107. खसम बिनु तेली को बैल भयो 927
अपरिपक्व साधक का मनोभाव
108. अब हम भैलि बहुरि जलमीना 933
दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना
109. लोग बोले दूरि गये कबीर 934
कोई देव तुम्हारा कर्म-बंधन नहीं काट सकता
110. आपन कर्म न मेटो जाई 943
दैवासुर संपदा
111. है कोई गुरु ज्ञानी 953
मनुष्य सबसे श्रेष्ठ है
112. झगरा एक बढ़ो राजाराम 958
साथियों की चिन्ता न कर सत्य के उपासक बनो
113. झूठेहि जनि पतियाउ हो 962
सारशब्द एवं निर्णय वचनों से ही कल्याण है
114. सार शब्द से बाँचिहो 969
सभी की भूल-व्याधि की औषध परख है
115. सन्तो ऐसी भूल जग माहीं 976

बीजक-महिमा

यह बीजक ज्ञान कबीर गुरू का, बन्ध नशाने वाला है।
सब जीवों के हित मारग को, स्पष्ट बताने वाला है॥टेक॥

सब जीव सदा से भूले ही, विषयों में रमते आये हैं।
उस रमते राम के बन्धन को, कहि विविध 'रमैनी' टाला है॥ 1॥

खानी वाणी के शब्द जाल में, जीव सभी उलझाये हैं।
कहि 'शब्द' सैन अति अनुभव से, सब बन्धन काटि निकाला है॥ 2॥

विद्वानों के वाणी मद को, हरि 'ज्ञान चौंतीसा' से लीन्हा।
विप्रों की मति-गति शुद्धि हेतु, कहि 'विप्रमतीसी' आला है॥ 3॥

'कहरा' कहि कहर हरे जिव का, कहि 'बसन्त' विषयासक्ति हरे।
मन माया के तम हरे आप, कहि 'चाचर' ज्ञान उजाला है॥ 4॥

अन्तः में स्थिर परम रमैया राम, 'बेलि' में आप कहे।
खानी वाणी की विरह व्यथा, 'बिरहुली' विवेक विशाला है॥ 5॥

अविनाशी जीव कर्म के वश, जन्मादि हिण्डोले में झूले।
परकरण 'हिण्डोला' कहि विधिवत, पारख पद दिया निराला है॥ 6॥

जड़ साक्ष्य दृश्य से सदा पृथक, साक्षी चिद्रूप सदा अपना।
'साखी' कहि सकल ज्ञान खानी, मत पथ द्वन्द्वों का काला है॥ 7॥

ग्यारह परकरणों से भूषित, है पारख ज्ञान भरा 'बीजक'।
रविवत इसके परकाश किरण, तम मोह नशाने वाला है॥ 8॥

अति गूढ़-अगूढ़ द्विविधि पद्यों, शैली युक्ती से भरा ग्रन्थ।
विद्वान भी हैं टक्कर खाते, 'अभिलाष' अल्प मति वाला है॥ 9॥

गुरु सन्त पारखी के द्वारा, गुरुमुख पढ़ने से भेद खुलै।
बोधक ''सूरत'' की कृपा दृष्टि से, पाया बोध उजाला है॥10॥

गुरु-उपकार स्मृति तथा वन्दना

जिन गुरु कबीर कृपालु के, सच्चिद स्व पारख बोध से।
सब ग्रन्थ पन्थ अनन्त, नाना वेष के परिशोध से॥
भ्रम तम फट्यो, भव भय मिट्यो, निज पद डट्यो अविरोध से।
तिन गुरु कबीर महान के, पद कंज नमूँ प्रमोद से॥ 1॥

अविकार अक्षय अकाम चेतन, राम जो निज रूप है।
तेहि आप आप बिसारि, मानव भ्रमत भ्रम तम कूप है॥
जड़ मानना जड़ की क्रिया, जड़ दृश्य भास विरूप है।
सबका प्रकाशक भास्कर, पारख स्व चेतन रूप है॥ 2॥

सन्तुष्ट है नित तृप्त है, नित बोधमय प्रज्ञान है।
जेहि जानता तेहि से पृथक, द्रष्टा स्वरूप सुजान है॥
निज बोध बिन इत उत भ्रमै, निज बोध पाय महान है।
इमि गुरु कबीर निदेश से, लहि परम पारख थान है॥ 3॥

सब सन्त हैं श्रद्धेय मन, क्रम वचन जे संयम लिये।
तिन मध्य पारख प्राप्त जे, शिरमौर गुरु सम नित जिये॥
उन सर्व के पद कमल में, करबद्ध नत मस्तक हिये।
बलिहार बारम्बार जो, उपकार शुचि सन्तन किये॥ 4॥

जिनकी कृपा से बोध लहि, सन्देह भ्रम सबही गये।
अरु भेद बीजक का मिल्यो, पद-अर्थ-भाव मनन भये॥
उन प्रेरणा के स्रोत, 'सूरत देव' बोधक चरण में।
करबद्ध नत मस्तक नमूँ, लीजै निभा निज शरण में॥ 5॥

बीजक समुद्र समान, अवगाहन कठिन तिसका करन।
करता प्रवेश ये दास, प्रभु कीजै कृपा अशरन शरन॥
निर्भ्रान्त निर्भय पक्ष-रहित, कबीर-गुरु के बैन की।
व्याख्या सरस शुचि बोधगम्य, चहौ सुअंजन नैन की॥ 6॥

रमैनी

हेतु छन्द

भ्रम मान्यता के ऐन में,
ये जीव सब परवश रहे।
इह ऐन बन्धन बाध्य कर,
ऐनी ये जिव पद किमी लहे।
निज भूल-वश रमते अहो,
दुख मूल जड़ मग में ढहे।
इहि विधि विलोकि व्यथा विध्वंसक,
प्रभु रमैनी तब कहे।

दोहा

दुख दुरूह दुर्मति सबन, दावानल सद्बोध।
सो कबीर गुरु धन्य प्रभु, दिव्य परख अविरोध॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

प्रथम प्रकरण : रमैनी

ग्रंथ की प्रस्तावना

रमैनी-1

अन्तर ज्योति शब्द एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी॥ 1॥
ते तिरिये भग लिंग अनन्ता। तेउ न जानै आदिउ अन्ता॥ 2॥
बाखरि एक बिधाते कीन्हा। चौदह ठहर पाट सो लीन्हा॥ 3॥
हरिहर ब्रह्मा महन्तो नाऊँ। तिन्ह पुनि तीन बसावल गाऊँ॥ 4॥
तिन्ह पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा। छौ दर्शन छानबे पाखण्डा॥ 5॥
पेट न काहू वेद पढ़ाया। सुन्नति कराय तुरुक नहिं आया॥ 6॥
नारी मोचित गर्भ प्रसूती। स्वांग धरे बहुतै करतूती॥ 7॥
तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥ 8॥
एकै जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयउ निनारा॥ 9॥
भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया॥10॥
अविगति की गति काहु न जानी। एक जीव कित कहूँ बखानी॥11॥
जो मुख होय जीभ दश लाखा। तो कोइ आय महन्तो भाखा॥12॥

साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, ई ले ऊ ब्यौहार।
राम नाम जानै बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार॥ 1॥

शब्दार्थ—अन्तर=भीतर। ज्योति=ज्ञान-ज्योति, चेतन। शब्द=वाक-शक्ति। नारी=कल्पना, माया। त्रिपुरारी=तीन पुर के शत्रु; तारकासुर के तीन पुत्र—तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली के पुरों को नष्ट करने वाले महादेव। बाखरि=बखारी, कोठी, संग्रहालय। पाट=विस्तार, फैलाव। महन्तो=महान। सुन्नति=खतना। नारी मोचित=नारी के पेट से खिंचकर। गर्भ प्रसूती=गर्भस्थ

बच्चा पैदा होता है। स्वांग=वेष, दिखावा। करतूती=कर्मकांड। तहिया=गर्भ में। जनी=स्त्री, माया। जना=उत्पन्न किया हुआ; उत्पत्ति। भौ=भव, उत्पन्न। अविगति=अज्ञात। ई=इहलोक, मोटी माया, खानी-जाल। ऊ=परलोक, झीनी माया, वाणी-जाल। राम=हृदय-निवासी चेतन तत्त्व।

भावार्थ—सभी देहधारियों के भीतर एक ज्ञान-ज्योति है, जिसे जीव, चेतन या आत्मा कहते हैं। मानव विवेकशील प्राणी है। उसके पास शब्द-शक्ति तथा कल्पना-शक्ति की विशेषता है। मानव अपनी अंतर्ज्योति एवं ज्ञान-शक्ति से कल्पना का विस्तार करता है तथा अपनी मनःकल्पना को शब्दों में व्यक्त करता है। मानव की मनःकल्पना और शब्द-योजना रूपी नारी या माया से ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की उत्पत्ति (स्थापना) हुई।[1] अर्थात सृष्टि को समझने के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की कल्पना की गयी॥ 1॥ इन तीनों ने बहुत-से पुत्री-पुत्र पैदा किये, परन्तु ये भी सृष्टि का आदि और अंत नहीं जान सके॥ 2॥ ब्रह्मा रजोगुणी होने से क्रियाशील थे, इसलिए उन्होंने तात्कालिक वाणियों का एक बड़ा संग्रह तैयार किया, जिसका पीछे से चौदह विद्याओं के रूप में विस्तार हुआ॥ 3॥ विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा महान प्रसिद्ध नाम वाले हुए। इन्होंने क्रमशः तीन गांव बसाये जिन्हें विष्णुपुर, शिवपुर तथा ब्रह्मपुर कह सकते हैं, अथवा इन्होंने क्रमशः भक्ति, ज्ञान और कर्मकांड चलाये॥ 4॥ फिर इन्होंने ब्रह्मांड को खंडों में बांटा। अर्थात पृथ्वी पर विभागपूर्वक राज्य स्थापित किये। अथवा वाणी का विविध विषयों में विभाजन किया। फिर छह दर्शन और छानबे पाखंडों का विस्तार हुआ॥ 5॥

माता के पेट से कोई न तो वेद पढ़कर आता है जो अपने आप को जन्मजात ब्राह्मण कह सके तथा न कोई सुन्नत कराकर आता है कि वह अपने आप को जन्मजात मुसलमान कह सके॥ 6॥ माता के पेट से पैदा होने के बाद ही लोग नाना स्वांग तथा कर्मकांड करते हैं॥ 7॥ माता के पेट में तो हम और तुम एक ही प्रकार रज-वीर्य से बने हैं, एक ही प्रकार सब में प्राण व्याप्त हुए हैं तथा एक ही प्रकार सब वहां मूढ़ता में पड़े रहे हैं॥ 8॥ एक ही प्रकार माता से संसार के सभी लोग जन्म लेते हैं, फिर किस ज्ञान से भिन्न वर्ण और जाति की कल्पना कर ली जाती है!॥ 9॥ एक ही द्वार से बालक रूप में सब पैदा होते हैं, जिससे पैदा होते हैं उसी में आसक्त होकर पुरुष कहलाते हैं॥ 10॥ अज्ञात की दशा का किसी को पता नहीं है। कितना विवरण देकर कहूं कि एक मनुष्य

---

1. अंतर्ज्योति, शब्द और एक नारी से ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव पैदा हुए यह एक सरल अर्थ है, परन्तु जादुई है। इससे मानवीय बुद्धि से कोई मतलब नहीं है।

जीव ही श्रेष्ठ है[1] ॥ 11 ॥ यदि किसी के मुख में दस लाख जीभ हों, तो ऐसा महान पुरुष भले आकर अज्ञात की बातें कह सके॥ 12 ॥

सद्गुरु कबीर पुकारकर कह रहे हैं कि मनुष्य लोक-परलोक, खानी-वाणी एवं मोटी-झीनी माया के व्यवहार को लेकर उसमें उलझ गया है। राम ऐसा नाम किसका है, रामतत्त्व क्या है, इसे जाने बिना संसार के लोग भ्रांति-सागर में डूब रहे हैं॥ 1 ॥

व्याख्या—पहले यह समझ लेना है कि 'बीजक' का अर्थ क्या है ! सद्गुरु कबीर की इस महान रचना का नाम 'बीजक' है। उन्होंने स्वयं इसका नामकरण करने के साथ अर्थ भी बता दिया है। अतएव 'बीजक' का अर्थ जानने के लिए 'बीजक' से बाहर नहीं जाना है। सद्गुरु ने 37वीं रमैनी की साखी में कहा है—

बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥

अर्थात बीजक उस धन को बताता है जो कहीं गुप्त रूप से गड़ा हो। इसी प्रकार बीजक के शब्द जीव के वास्तविक स्वरूप को बताते हैं, परन्तु इसे कोई बिरला समझता है।

पहले समय में बैंक तो होते नहीं थे। उस समय लोग अपने धन को चांदी, सोना, रत्नादि के रूप में करके और धातु के पात्र में रखकर किसी गुप्त स्थान में गाड़ देते थे और उसे समझने के लिए ताम्र आदि किसी धातु-पत्र पर सांकेतिक शब्दों (कोडवर्ड) में लिख देते थे, जिसे उनके परिवार तथा अनुगामी लोग ही पढ़कर समझ पाते थे। उसे ही 'बीजक' कहा जाता था। इसलिए बीजक के शब्द गूढ़ एवं रहस्यात्मक कहे जाते थे। सांकेतिक शब्दों में धन का परिचय देने वाला वह ताम्रपत्र ही 'बीजक' कहलाता था। जैसे वह बीजक गड़े हुए गुप्त धन को बताता था, वैसे सद्गुरु कबीर का 'बीजक' ग्रंथ इस शरीर में छिपे हुए जीव-तत्त्व का बोध कराता है और जगत के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करता है। इसलिए इसका नाम 'बीजक' है। इस ग्रंथ में जगह-जगह गूढ़ प्रयोग भी हैं, इसलिए भी इसका 'बीजक' नाम सार्थक है।

साखी प्रकरण की 27वीं साखी में सद्गुरु कहते हैं—

पाँच तत्त्व के भीतरे, गुप्त बस्तु अस्थान।
बिरला मर्म कोइ पाइहैं, गुरु के शब्द प्रमान॥

---

1. अनेक मूल बीजक में इस प्रथम रमैनी की ग्यारहवीं पंक्ति में "एक जीभ कित कहूँ बखानी" पाठ है, परंतु मैंने मूल बीजक के जिस पाठ को लिया है वह निर्णय मंदिर बुरहानपुर तथा महाराज राघव साहेब का पाठ है और इन दोनों पाठों में "एक जीव कित कहूँ बखानी" है। इसलिए इस पाठ के अनुसार अर्थ किया है।
वैसे "एक जीभ कित कहूँ बखानी" से अर्थ होगा कि एक जीभ से मैं कितनी व्याख्या करूं।

बीजक ग्रंथ के अंत में किसी बीजक-मर्मी संत ने पाठफल के रूप में नौ साखियां बनाकर अलग से रख दी हैं, जो प्राचीन काल से चली आ रही हैं। उनमें कहा गया है—"बीजक का अर्थ है धन का पता एवं संदेश देने वाला। जिस जगह आत्मा रूपी धन है, कबीर साहेब के बीजक-वचनों के द्वारा वहीं का उपदेश है। अतएव जो अपने हाथों में बीजक लेकर उसे पढ़ेगा, वह आत्म-धन को शोध लेगा। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम बीजक है, क्योंकि इसमें आत्मा तथा माया-मन का ज्ञान होता है। आत्मा राम (जीव) सत्य है और मायाकृत मन-मानंदी असत है। बीजक के गुरुमुख वचनों से इसकी यथार्थ परख करना चाहिए। इस ग्रंथ का नाम बीजक है। इसमें सारशब्द (निर्णय वचन) हैं तथा यह टकसार (प्रामाणिक) है। गुरु-कृपा से बीजक द्वारा सत्यासत्य की परख होती है। यहां कबीर साहेब की वाणी पूर्ण होती है।" यथा—

बीजक कहिये साख धन, धन का कहै संदेश।
आतम धन जेहि ठौर है, बचन कबीर उपदेश॥
देखै बीजक हाथ लै, पावै धन तेहि शोध।
याते बीजक नाम भौ, माया मन को बोध॥
अस्ति आत्मा राम है, मन माया कृत नास्ति।
याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥
सार शब्द टकसार है, बीजक याको नाम।
गुरु की दया से परख भई, बचन कबीर तमाम॥

आज भी व्यापारी लोग जब किसी सामान की बिक्री करते हैं, उसका बिल बनाते हैं, जिसे 'बीजक' कहा जाता है। अतः सम्पत्ति की सूचना बीजक में ही होती है।

बीजक छिपे हुए धन को बताने वाला सार, सत्य एवं गूढ़ वचन है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए मानसमर्मज्ञ श्री जयरामदास दीन जी गीताप्रेस से प्रकाशित 'मानस-शंका-समाधान' में लिखते हैं—"श्री रामचरित मानस ग्रंथ में श्री ग्रन्थकार के शब्द कहीं-कहीं 'बीजक' के तौर पर भी पाए जाते हैं, जिनकी खोज मर्मी जनों को प्राप्त होने से ही यथार्थ तत्त्व का ज्ञान होता है, जिससे अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है।" (पृष्ठ 94)

सद्गुरु कबीर-रचित 'बीजक' कोई किस्सा-कहानी की पुस्तक एवं प्रबंध-काव्य नहीं है, जिसमें नाना प्रकार के विषय-रस का वर्णन होता है। 'बीजक' का राम वैसा संकुचित नहीं है जिसके हाथ, छाती, आंख, मुख आदि के लिए कमलों तथा कामदेव की उपमा देकर उसका श्रृंगारिक वर्णन किया जा सके। कबीरदेव का बीजक सार्वजनिक, सार्वभौमिक स्वरूप-राम का परिचायक है तथा उसके ऊपर लगे हुए भ्रमजालों को छिलके की तरह उखाड़ फेंकने वाला

है, जो सार निर्णयों और गूढ़ प्रयोगों से भरा है। इसका भेद कोई मर्मी पारखी पुरुष ही देते हैं।

इसका अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि पूरा बीजक ग्रन्थ गूढ़ प्रयोगों से ही भरा है। पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, चारित्रिक, राष्ट्रीय एवं साधनात्मक विषय जो सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, अत्यन्त सरल शब्दों में वर्णित हैं। इन्हें बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, पढ़-अपढ़—सब समझ सकते हैं। अब इसके आगे हम मूल रमैनी की व्याख्या पर विचार करें।

"अन्तर ज्योति" इस रमैनी का महत्त्वपूर्ण शब्द है। अन्तर का अर्थ भीतर तथा ज्योति का अर्थ ज्ञान है। देहोपाधि में ही अन्तर या भीतर शब्द का प्रयोग हो सकता है। यह व्यक्ति के लिए ही कहा जा सकता है कि उसके भीतर ज्ञान-ज्योति है। सद्गुरु ने अगली रमैनी में कहा है "जीव रूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकासा।" यहां भी अन्तर ज्योति व्यक्ति वाचक ही है। तात्पर्य है कि मनुष्य के भीतर ज्ञान-ज्योति है। यह ज्ञान-ज्योति जीव का गुण है।

वैसे सभी जीव ज्ञानस्वरूप हैं; परन्तु खानियों के अनुसार उनमें बाह्य ज्ञान का संकोच एवं विस्तार होता है। सभी खानियों में केवल मनुष्य एक ऐसी खानि है जहां शब्द-शक्ति तथा कल्पना-शक्ति विकसित हैं। "शब्द एक नारी" में शब्द और नारी—ये दोनों महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। शब्द अर्थात शब्द-शक्ति, वाक्-शक्ति और नारी अर्थात कल्पना-शक्ति। यहां नारी शब्द माया का प्रतीक है और माया मन की इच्छा एवं कल्पना ही है। "इच्छा रूपि नारि अवतरी" अगली रमैनी में कहा गया है तथा 72वीं रमैनी में "नारी एक संसारहिं आई" कहकर यही भाव व्यक्त किया गया है। इसके लिए साखी प्रकरण की 90, 94, 104 तथा 105वीं साखियां भी देखने योग्य हैं। कबीर साहेब के ख्याल से माया कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। वह केवल मन की कल्पना या मोह है। 59वें शब्द में भी "माया महा ठगिनी हम जानी" कहकर मन के मोह एवं कल्पना का ही संकेत है। मनुष्य को पशु से अलग करने वाली ये दो ही प्रमुख शक्तियां हैं—कल्पना-शक्ति तथा शब्द-शक्ति। सारे ज्ञान-विज्ञान का विकास, भूत-प्रेत, देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म, लोक-परलोक, पुनर्जन्म-कर्मफलभोग, बंध-मोक्ष आदि की कल्पना मनुष्य ही करता है। पशु, पक्षियों एवं कीड़ों में इन कल्पनाओं की कोई गुंजाइश नहीं है।

ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न मानव जीव अपने मन की कल्पना तथा शब्द-योजना से नाना विचार प्रकट करता है। मानव की इसी कल्पना-शक्ति तथा शब्द-शक्ति के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की स्थापना हुई है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' जो बढ़े या बड़ा हो वह ब्रह्म। प्राचीन आर्य लोग अग्नि को ब्रह्म मानकर पूजते थे। ब्रह्म

(अग्नि) के चारों ओर बैठकर जो उसकी उपासना करे वह ब्राह्मण कहलाता है। फिर यज्ञ के बड़े पुरोहित को ब्रह्मा कहा गया तथा उसके साथ अन्य तीन को होता, उद्गाता तथा अध्वर्यु कहा गया। इसके बहुत बाद ब्रह्मा नाम के एक देवता की कल्पना कर ली गयी और उसे सृष्टि का देवता माना गया।

वैदिक काल में सूर्य प्रधान देवता था। वही आगे विष्णु नाम ग्रहण कर व्यक्ति-देवता बन गया।[1] पहले अनार्य जातियों में योनि तथा लिंग की पूजा व्याप्त थी। उसे आगे चलकर आर्यों के वैदिक रुद्र से मिलाकर महादेव एवं शिव के रूप में समर्थ देवता की कल्पना कर ली गयी। वैदिक रुद्र तूफान का देवता है। पीछे वह महादेव के रूप में प्रतिष्ठित होकर प्रलय का देवता बन गया। वह सिर पर अर्ध चंद्र एवं गंगा-लहर-धारी, पार्वती-पति तथा बैल पर सवारी करने वाला हो गया। यह सब मनुष्यों की मनःकल्पनाओं और शब्दों के विकास का फल है।

"ते तिरिये भग लिंग अनन्ता। तेउ न जानै आदिउ अन्ता।" पुराणों में बताया गया है कि इन तीनों ने, अर्थात ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ने बहुत-से नर-नारी पैदा किये, परन्तु वे स्वयं संसार का आदि-अन्त नहीं जान सके। ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव व्यक्ति रूप रहे हों या केवल कल्पना के जीव रहे हों, कोई फरक नहीं पड़ता। इतना सच है कि जगत का आदि और अन्त नहीं है। जगत अनादि तथा अनंत है।

"बाखरि एक बिधाते कीन्हा। चौदह ठहर पाट सो लीन्हा।" सैकड़ों वर्षों के अंतराल में परपितामह, पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, गुरु तथा शिष्यों द्वारा वेद-मंत्र बनते रहे और इन्हें लोग सुनाते-सुनते तथा कंठ करते रहे। इन सबका समय से संपादन हुआ। इस संपादन का श्रेय ब्रह्मा को दिया गया। इसलिए उनके चार मुख बना दिये गये, क्योंकि वे चारों वेदों के संपादक थे। ब्रह्मा ने वेद-मन्त्रों की बखारी बना दी। उन्होंने उन्हें चार वेदों के रूप में बड़ा संग्रह किया।

फिर तो उस वाणी ने "चौदह ठहर पाट सो लीन्हा।" अपना विस्तार चौदह विद्याओं में किया। वेदों के सहित चौदह विद्याओं का विस्तार इस प्रकार है—'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष) और चारों वेद।'[2] चौदह विद्याएं इस प्रकार भी गिनायी जाती हैं—'ब्रह्मज्ञान, रसायन, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण,

---

1. डॉ. रांगेय राघव, महायात्रा गाथा 2/2/281-282।
2. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
   वेदास्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

संगीत, वैद्यक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र में प्रवीणता, नाटक-चाटक तथा चातुरी।'[1]

"हरिहर ब्रह्मा महन्तो नाऊँ। तिन्ह पुनि तीन बसावल गाऊँ।" पुराणों में कहा गया कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव—ये महान नामधारी हुए। इन्होंने तीन गांव बसाये—ब्रह्मपुर, विष्णुपुर तथा शिवपुर। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने स्वर्ग, पाताल तथा पृथ्वी को आबाद किया। इनके द्वारा धर्म के प्रसिद्ध तीन कांडों को चलाये जाने की भी बात कही गयी, जैसे ब्रह्मा ने कर्मकांड, विष्णु ने भक्तिकांड तथा महादेव ने ज्ञानकांड चलाया।

"तिन्ह पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा। छौ दर्शन छानबे पाखण्डा।" कहा जाता है कि उन त्रिदेवों ने ब्रह्मांड का खंड किया है। खंड तो समझ में आता है कि वह टुकड़ा है; परन्तु ब्रह्मांड क्या है, इसे समझना है। ब्रह्मांड पूरे विश्व को कहते हैं और पूरा विश्व कितना है, इसे कोई नहीं जानता। देश अनंत है, अतः विश्व भी अनंत है। ब्रह्मादि किसी व्यक्ति द्वारा उसके खंड, टुकड़ा तथा विभाग करने की बात एक घोर कल्पना है। हां, इस पृथ्वी को, या कहना चाहिए कि पृथ्वी के जितने हिस्से को वे जानते थे, उसे ब्रह्मांड मानकर उन्होंने उसका राज्यों में विभाजन किया होगा, यह कहा जाये तो ठीक है।

यहां 'ब्रह्मांड' का लाक्षणिक अर्थ वेद मानकर कहा जा सकता है कि ब्रह्मा ने वेद का विभाग किया और उसी को आधार मानकर पीछे छह दर्शन तथा छानबे पाखंडों का विस्तार हुआ। योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण[2]—ये छह दर्शन हैं। इनमें विभेद इस प्रकार है—दस संन्यासी, बारह योगी, चौदह दरवेश, अठारह ब्राह्मण, अठारह जंगम तथा चौबीस सेवड़ा (जैनी या बौद्ध)।[3]

गिरि, पुरी, भारती, वन, पर्वत, आरण्य, सरस्वती, सागर, आश्रम तथा तीर्थ—ये दसनामी संन्यासी हैं। औघड़-नाथ आदि भेद से बारह प्रकार के योगी

---

1. ब्रह्मज्ञानरसायनं च कविता वेदस्तथा ज्योतिषम्।
   व्याकरणं सधनुर्धरं जलतरं सङ्गीतकं वैद्यकम्॥
   अश्वारोहणकोकशास्त्रनिपुणं नाट्यं तथा चातुरी।
   विद्या नाम चतुर्दश प्रतिदिनं शेषाः कलाः कीर्तितः॥
2. योगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेश।
   छठवाँ कहिये ब्राह्मण, छौ घर छौ उपदेश॥
3. दस संन्यासी बारह योगी, चौदह शेष बखान।
   ब्राह्मण अठारह अठारह जंगम, चौबीस सेवड़ा परमान॥
   (पंचग्रन्थी, मानुष विचार)
   जैनों में चौबीस तीर्थंकर तथा बौद्धों में चौबीस बुद्ध माने जाते हैं।

हैं। इसी प्रकार मुसलिम फकीरों में भी बारह भेद हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों, शैवों तथा सेवड़ों में अपने-अपने भेद-प्रभेद हैं। अब कर्मकाण्डों एवं पाखंडों का विस्तार केवल छानबे में नहीं रहा, किन्तु उनकी गणना करना कठिन होगा। संसार का कोई पंथ, संप्रदाय एवं समाज नहीं है जिसमें पाखंड नहीं घुस आये हैं। पाखंड का अर्थ है ढोंग, ढकोसला, छलावा आदि। सभी संप्रदायों का कर्तव्य है कि वे अपने-अपने मतों में घुस आये पाखंडों का त्याग करते रहें।

इस प्रकार इस प्रथम रमैनी की प्रथम पांच पंक्तियों में सद्गुरु ने हिन्दू परम्परा द्वारा मान्य त्रिदेवों, वेदों, विद्याओं एवं कर्मकांडों के विस्तार का संक्षिप्त समीक्षात्मक परिचय दिया। अब आगे वे मानव एकता के महासूत्र कह रहे हैं—

पेट न काहू वेद पढ़ाया। सुन्नति कराय तुरुक नहिं आया॥
नारी मोचित गर्भ प्रसूती। स्वांग धरे बहुतै करतूती॥
तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥
एकै जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयउ निनारा॥
भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया॥

महा मानवतावादी कबीर उक्त पांच पंक्तियों में निर्भीकतापूर्वक घोषणा करते हैं कि मानव मूलतः समान है। माता के पेट में से ही न तो कोई यज्ञोपवीत संस्कार कराकर, वेद पढ़कर तथा ब्रह्मज्ञानी एवं ब्राह्मण बनकर आता है और न कोई सुन्नत कराकर एवं मुसलमान बनकर आता है। पैदा होने के बाद जब संसार के भेद-भाव की हवा लग जाती है, तब मनुष्य कल्पित ऊंच-नीच एवं नाना वेषों के स्वांग तथा कर्मकांडों का पाखंड करता है।

तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान या अन्य लोगों की माताएं एक समान गर्भ धारण करती हैं, एक समान बच्चे पैदा करती हैं, एक समान सबके बच्चे मैले में लिपटे पैदा होते हैं, एक समान सबके बच्चे साफ किये जाते हैं, एक समान दूध पिलाये जाते हैं और एक समान पाले जाते हैं। कोई न तो मूड़ से पैदा होता है, न गोड़ से। सब तो एक ही द्वार से पैदा होते हैं। सभी वर्ग के लोग विषय-वासनाओं में डूबे देखे जाते हैं। सभी वर्गों में पवित्र विचार के नर और नारी भी होते हैं।

चतुर लोगों ने मानवता के साथ छल किया। उसके लिए एक विराट पुरुष (ईश्वर) की कल्पना की। छलावा का काम करने के लिए ईश्वर, धर्म आदि बड़े अच्छे हथकंडे बनते हैं। हर छल के लिए इन्हें आगे रखा जाता है। तो एक प्रभु बनाया गया। कहा गया उसके मुख, हाथ, जंघे तथा पैर से लोग पैदा हुए, जिनमें क्रमशः पहले वाले उच्चतम, पीछे वाले उत्तम एवं उससे पीछे वाले अधम हुए। प्रभु ने यह ऊंच-नीच का भेद स्वयं बनाया है, ऐसा धर्मशास्त्रों में लिख दिया गया। लिखने वालों को त्रिकालज्ञ एवं आप्त होने का फतवा दिया

गया। यह ऊंच-नीच की मानसिकता मनुष्य के मन में बहुत गहरे में बैठा दी गयी। वह निरंतर गहराती गयी। कुछ वर्ग के लोग आचरण-भ्रष्ट होने पर भी पूजे जाते रहे और कुछ वर्ग के लोग ज्ञान तथा सदाचार संपन्न होने पर भी नीच दृष्टि से देखे जाते रहे; और मानवता तथा सत्य के साथ अपराध करने वाले लोग तपःपूत ऋषि, त्रिकालज्ञ, संत-शिरोमणि, आप्त एवं समाज के नायक कहलाते रहे। जन्म से ही किसी वर्ग को नीच या ऊंच कहना सबसे बड़ा पाप है और यह पाप करने वाले सबसे बड़े पुण्यात्मा माने गये। स्वतंत्रचेता कबीर साहेब को यह अत्याचार सहन नहीं हुआ और वे उन्हीं लोगों के बीच में निर्भीकतापूर्वक जोर से बोल पड़े "पेट न काहू वेद पढ़ाया। सुन्नति कराय तुरुक नहिं आया।" और ये तुरुक भी तो अपने को राहेखुदा तथा दूसरे को काफिर समझते हैं, क्योंकि इन्होंने सुन्नत करवा रखी है, इसलिए ये मुसलमान हो गये हैं। परन्तु यह भी प्राकृतिक नहीं है। पेट में से सुन्नत कराकर नहीं आये हैं। ये सब बाहरी हैं। जनेऊ के समान सुन्नत भी बाहरी स्वांग है। इससे कोई बड़ा नहीं होता। पैदा होने में तो सभी मानव एक समान हैं। ज्ञान तथा आचरण के नाते ही मानव का अपना स्तर बनता है। जन्म से सबका स्तर समान है।

"भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया।" सद्गुरु कबीर अखंड वैराग्यवान संत थे। अतः इस पंक्ति में उन्होंने बड़ी तीव्रता से अपना वैराग्यभाव व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य जिससे पैदा होता है उसी का उपभोग करके पुरुष होने की डींग मारता है। कबीर साहेब के वैरागी ख्याल से सच्चा पुरुष वह है जो नारी मात्र को माता मानकर जीवन पर्यंत विरक्त रहे।

अविगति की गति काहु न जानी। एक जीव कित कहूँ बखानी॥
जो मुख होय जीभ दस लाखा। तो कोइ आय महन्तो भाखा॥

अज्ञात एवं लापता की बात कोई नहीं जानता। कोई ऐसा महान हो जिसके मुख में लाखों जीभ हों वही चाहे कुछ कह सके—यह एक व्यंग्य है। अज्ञात की बात तो लाखों जीभ वाला ही कहता है। आदमी पहले लाखों मुख एवं जीभ वाले की कल्पना करता है, फिर आकाश-पाताल की बातें उसी से कहलायी जाती हैं। तथाकथित धार्मिक संप्रदाय वाले पहले किसी अतिमानवीय शक्ति की कल्पना करते हैं। उसके पश्चात उन्हें अपने कल्पित स्वार्थ की सिद्धि जिन बातों में दिखती है उन बातों को वे अपनी किताबों में लिख लेते हैं और कहते हैं कि यह विराट पुरुष, सुप्रीम पावर एवं जगन्नियंता-प्रभु का कथन है। जगन्नियंता-प्रभु का नाम सुनते ही लोग गाय बनकर अपने सिर झुका देते हैं। क्योंकि उनकी आत्म-शक्ति कुचल दी गयी है। वे प्रश्न करें तो नास्तिक और काफिर कहे जायें। इसलिए धर्म के नाम पर सारी अतिशयोक्तियां, चमत्कार, अवैज्ञानिक प्रस्थापनाएं, भेदभावनाएं आदि चुपचाप स्वीकार ली जाती हैं। अन्य क्षेत्र में बात

समझ में न आये तो प्रश्न कर सकते हो, किन्तु धर्मक्षेत्र में प्रश्न नहीं कर सकते; क्योंकि धर्म की सारी बातों को हजार और लाख मुख वाले ने कहा है। उसमें प्रश्न करना ही बेजा है।

परन्तु यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि कोई हजार तथा लाख मुख वाला नहीं है जिसने मानव के ज्ञान तथा आचार के विषय में आज तक कुछ कहा हो। ज्ञान करने वाला तथा मानव की आचार-संहिता बनाने वाला केवल मानव है। "एक जीव कित कहूँ बखानी" कितना वर्णन करके कहूं, एक मानव-जीव ही ज्ञान-विज्ञान-वेत्ता है। यही अतिमानवीय-शक्ति का कल्पित परदा लगाकर लोगों को छलता है, यही छला जाता है। यही सुधर जाये तो सब सुधर जाये। यदि मानव विवेकशील हो जाये, वह एक दूसरे को न ठगे, स्वयं सत्पथ पर चले, तो उसका कल्याण है, समाज का कल्याण है, देश का तथा विश्व का कल्याण है। जिसका पता नहीं, उस ईश्वर से प्रेम करने का दिखावा और मनुष्य जो प्रत्यक्ष है, उसके साथ छलावा—यह पोंगापंथी धर्म मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकता। जो कल्पित आकाशीय स्वर्ग से दृष्टि घुमाकर पृथ्वी पर सत्कर्म के बल पर स्वर्ग बसाना चाहता है तथा अज्ञात ईश्वर के पीछे दौड़ना छोड़कर ज्ञात मानव एवं प्राणियों के साथ प्रेम तथा करुणा का व्यवहार करता है, वही सच्चा धार्मिक है। वही सत्य को समझता है।

"कहहिं कबीर पुकारि के, ई ले ऊ ब्यौहार। राम नाम जानै बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार।" कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि मनुष्य 'ई' और 'ऊ' के व्यवहार में उलझा है। 'ई' से अभिप्राय सांसारिक विषयों से है तथा 'ऊ' से स्वर्ग और ईश्वर से है। विषयासक्ति, स्वर्ग की कल्पना तथा ईश्वर की कल्पना छोड़े बिना कोई सही रास्ता नहीं पा सकता। एक कवि ने कितना सुन्दर कहा है—

राह हक़ हरगिज़ न याबी, ता न गीरी चार तर्क।
तर्क दुनिया तर्क उक़बा, तर्क मौला तर्क तर्क॥[1]

अर्थात—मनुष्य को सही रास्ता तब तक नहीं मिल सकता जब तक दुनियादारी, स्वर्ग की कामना और ईश्वर की कल्पना का त्याग तथा इन तीनों के त्याग के अहंकार का त्याग नहीं कर देता।

संस्कृत में 'इहामुत्र' अर्थात 'इह' तथा 'अमुत्र' शब्द लोक और परलोक के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कबीर साहेब अपना काव्य हिन्दी में कहते हैं, इसलिए

---

1. याबी=प्राप्त होना। ता=तक। न=नहीं। गीरी=पकड़ना, कर लेना। तर्क=त्यागना। उक़बा=स्वर्ग। मौला=ईश्वर।

वे उन्हें 'ई' तथा 'ऊ' कहते हैं। कबीर साहेब पुकार-पुकार कर कहते हैं कि संसार के लोग इस दुनिया के रागरंग में उलझे हैं या परलोक तथा परोक्ष कल्पित देवी-देवता एवं ईश्वरादि की कल्पना में उलझे हैं। कुल मिलाकर वे सत्य एवं सुख को अपने से बाहर ही खोजते हैं। यही जीवन का भटकाव है।

"राम नाम जानै बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार।" अर्थात राम ऐसा नाम किसका है, राम किसे कहते हैं, इस तत्त्व को समझे बिना लोग संसार-सागर में डूब रहे हैं।

कबीर साहेब के समय से सैंकड़ों वर्ष के पूर्व से ही राम शब्द का प्रचलन हो चला था जिसके अर्थ अयोध्याधीश दशरथ-सुत राजाराम तथा परमतत्त्व एवं आत्म-अस्तित्व प्रचलित थे। राम शब्द को लेकर ये सारे भाव मिश्रित रूप से चलते थे और जनता में उलझन थी कि वस्तुतः राम शब्द से व्यक्त वह कौन-सा तत्त्व है जो जीव का परम प्राप्तव्य है। लोग राम-राम तो कह रहे थे, परन्तु रामतत्त्व क्या है इसे जानने का प्रयत्न नहीं करते थे।

सद्गुरु कबीर ने 36वीं रमैनी की साखी में कहा है "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।" अर्थात राम ऐसा नाम अपना ही समझकर खोटी वस्तु छोड़ दो। निज चेतन स्वरूप से जो कुछ पृथक है, सब खोटी वस्तु है। यदि व्यक्ति की अपनी आत्मा से अलग राम है तो वह राम नहीं है, किन्तु राम के नाम पर केवल कल्पना है। हम राम, ब्रह्म, परमात्मा, अल्लाह, गॉड या इसी ढंग के अन्य अनेक शब्द गढ़ लें, परन्तु अपनी चेतन आत्मा से अलग कुछ नहीं हो सकता जो हमारा परम विश्राम का निधान हो। हमारी चिरस्थिति हमारे अपने चेतन स्वरूप में ही होगी, अतएव निज चेतन स्वरूप ही राम है।

उक्त भावों को लेकर ही श्रुतियों में अहं ब्रह्मास्मि[1], तत्त्वमसि[2], अयमात्मा ब्रह्म[3] तथा प्रज्ञानं ब्रह्म[4] कहे गये हैं, जिनके सरल अर्थ "मैं ब्रह्म हूं, तू वही है, यह आत्मा ब्रह्म है तथा ज्ञान ही ब्रह्म है" होते हैं। गीता में भी महाराज श्री कृष्ण से कहलाया गया है—"इस देह में निवास करने वाला प्रकृति से परे जो चेतन पुरुष है वही द्रष्टा, अनुमंता (प्रेरक), भर्ता, भोक्ता, महान ईश्वर तथा परमात्मा है।"[5] गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—"कहा जाता है कि सबके घट में

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10।
2. छांदोग्य उपनिषद् 6/8/7।
3. मांडूक्य उपनिषद् 2।
4. ऐतरेय उपनिषद् 3/1/3।
5. उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
   परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ गीता 13/22॥

राम है, फिर किसलिए बाहर खोजा जाता है। यह तो लज्जाजनक कुमति है।"[1] वे और कहते हैं—"मैं वही हूं यह अखंडवृत्ति ही विज्ञान दीप की परम प्रचंड शिखा है।"[2] बाबा रघुनाथ दास जी भी कहते हैं—"जीव और ईश्वर में कितना अन्तर है? उत्तर है, मात्र इतना ही अन्तर है कि बंधनों की दशा में उसी को जीव कहा जाता है और जब उसके बंधन कट गये, तब वही शिव हो गया।"[3] जनाब मीर साहेब भी कहते हैं—"सिर से पैर तक इच्छाओं में लिपटे हुए होने से हम गुलाम हैं, अन्यथा यदि हम हृदय से इच्छारहित होते तो स्वयं ईश्वर थे।"[4] "जो यह कहता है कि जीव से ईश्वर अलग है वह अधकचरा ज्ञान वाला है। जो आत्मा में परमात्मा का बोध करा दे वही गुरु है।"[5] श्रुति कहती है—"वह तो शरीर के भीतर अपना आत्म स्वरूप है। उसे वह समझता है जो दोषों से मुक्त हो गया है।"[6]

सार यह है कि मनुष्य की आत्मा के अलावा राम कुछ नहीं है। निज आत्मस्वरूप ही राम है। हमारा चिर विश्राम-स्थल निज चेतन स्वरूप ही राम है, खुदा है, ईश्वर है, ब्रह्म है। इसके अलावा खोजना भ्रम है।

इस प्रकार यह प्रथम रमैनी जो इस ग्रन्थ का पहला छंद है, इस ग्रन्थ की प्रस्तावना एवं भूमिका रूप है। पूरे ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है, उसे सार रूप में इस रमैनी में बता दिया गया है और इसके बाद मानो पूरा ग्रन्थ इस एक रमैनी की व्याख्या है।

सद्गुरु ने 'अन्तर ज्योति' कहकर मनुष्य की अन्तश्चेतना को प्रथम एवं मुख्य स्थान दिया है। फिर पांच पंक्तियों में भारतीय ढंग से ब्रह्मादि त्रिदेवों, सृष्टि की अनंतता, वेद, चौदह विद्याएं, तीन लोक, तीन कांड, छह दर्शन, छानबे पाखंड आदि को इंगित किया है।

इसके बाद छठीं से नवीं चौपाई तक मानवीय एकता पर प्रकाश डाला है। जो उनके मुख्य विषयों में से एक है। इसके आगे दसवीं चौपाई

---

1. कहत सकल घट राममय, तो खोजत केहि काज।
   तुलसी कह यह कुमति सुनि, उर आवत अति लाज॥ (तुलसी सतसई)
2. सोहमस्मि इतिवृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥ (मानस)
3. जीव ईश में भेद किं, इतनो अहै सदीव।
   बद्धदशा में जीव कहि, मोक्ष दशा में शीव॥ (विश्रामसागर)
4. सरापा आरजू होने ने बंदा कर दिया मुझको।
   वगर्ना हम खुदा थे गर दिले बेमुद्दवा होते॥
5. कहता है खुदा खुद से जुदा जानो अधूरा है।
   दिखला दे खुद ही में खुदा, पीर उसे कहते हैं॥
6. अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः। (मु.उ.3/1/5)

में वैराग्य की तीव्रता का वर्णन है। फिर अगली दो चौपाइयों में मानव जीव की विशेषता तथा इससे पृथक अज्ञात बातों की उलझी हुई दशा का दिग्दर्शन कराया है। अंत में साहेब ने इस रमैनी की साखी में इस बात पर जोर दिया है कि लोग राम-राम तो कहते हैं, परन्तु उसको तत्त्वतः नहीं समझते और लोक-परलोक के मायाजाल में उलझे रहते हैं। वस्तुतः निज स्वरूप ही राम है। इस तरह यह प्रथम रमैनी इस ग्रन्थ का सार एवं प्रस्तावना स्वरूप है।

जीव और जीव की इच्छा रूपी नारी गायत्री

रमैनी-2

जीव रूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकासा॥ 1॥
इच्छा रूपि नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी॥ 2॥
तेहि नारी के पुत्र तीनि भयऊ। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊँ॥ 3॥
फिर ब्रह्मै पूछल महतारी। को तोर पुरुष केकरि तुम नारी॥ 4॥
तुम हम हम तुम और न कोई। तुमहि से पुरुष हमें तोरि जोई॥ 5॥

साखी—बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बियाय।
ऐसा पूत सपूत न देखा, जो बापहि चीन्है धाय॥ 2॥

शब्दार्थ—अन्तर ज्योति=ज्ञान-प्रकाश। बियाय=पैदा करना। सपूत= सुपुत्र। धाय=दौड़कर, खोजकर।

भावार्थ—जीवस्वरूप निजतत्त्व मनुष्य के भीतर निवास करता है। उसने अपना ज्ञान-प्रकाश फैला रखा है ॥ 1॥ मनुष्य के मन से इच्छा रूपी नारी का अवतरण हुआ, अर्थात उसने इच्छा प्रकट की और उसका नाम गायत्री रखा गया॥ 2॥ गायत्री, जो जीव की इच्छा रूपी नारी है, उससे तीन पुत्र पैदा हुए, जिनके नाम हैं ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव॥ 3॥ ब्रह्मा रजोगुणी क्रियाशील होने से उन्होंने माता से पूछा कि तुम्हारा पुरुष कौन है और तुम किनकी नारी हो?॥ 4॥ गायत्री ने उत्तर दिया कि तुम और हम तथा हम और तुम—बस, यही हैं, अन्य नहीं। तुम्हारे सरीखे पुरुष हैं और हम ही तुम्हारी पत्नी हैं॥ 5॥

पिता और पुत्र की पत्नी एक ही नारी-जाति की होती है और एक ही माता-पिता से पिता-पुत्र पैदा होते हैं। ऐसा योग्य पुत्र नहीं देखा जाता, जो खोज करके पिता को पहचाने॥ 2॥

व्याख्या—इसका खुलासा इस प्रकार किया जा सकता है कि सबके भीतर में बसने वाला जीव ही परम तत्त्व है। वह ज्ञानस्वरूप है और वही ज्ञान का प्रकाश करने वाला है। किन्तु जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से वह

अपने आप में अपूर्णता का आरोप करता है और कल्पना करता है कि मुझे कहीं अलग से तृप्ति मिलेगी। अतः वह ध्यान, योग, कर्म आदि द्वारा अपने से अलग कहीं पूर्णत्व का आधार खोजता है। इसी भ्रम में पड़कर मनुष्यों ने अनेक देवी-देवताओं की कल्पनाएं की हैं।

वैदिक-काल में प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मान लिया गया और उनकी प्रार्थनाओं में हजारों मंत्र बने, जो वेदों में भरे हैं। वैदिक ऋषियों ने सभी प्राकृतिक शक्तियों में अग्नि को सर्वोच्च स्थान दिया। इसीलिए प्राचीनतम वेद ऋग्वेद का पहला मंत्र 'अग्नि' शब्द से शुरू किया गया। अग्नि का महा समुच्चय सूर्य है, अतएव सूर्य की उपासना में प्रसिद्ध गायत्री मंत्र बना।

जैसे हिन्दी में सवैया, कवित्त, अरिल, चौपाई, दोहा आदि छंदों के नाम हैं, वैसे वेदों में गायत्री, जगती, त्रिष्टुप, पंक्ति, बृहती, अनुष्टुप् तथा उष्णिक्—ये सात प्रकार के मुख्य छंद हैं। इनके अतिरिक्त भी शक्करी, अष्टि, धृति आदि अनेक प्रकार के छंद हैं।

वेदों में गायत्री छंद हजारों की संख्या में हैं, परन्तु जो द्विजातियों द्वारा मुख्य उपासनीय एवं प्रसिद्ध गायत्री है, वह विश्वामित्र की रचना है तथा ऋग्वेद के तीसरे मंडल के बासठ (62) वें सूक्त का दसवां मंत्र है, जो इस प्रकार है—
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

गायत्री छंद में चौबीस (24) अक्षर होते हैं। इसमें पूरे अक्षरों को गिना जाता है, आधे को नहीं। उक्त प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में चौबीस अक्षर न होकर तेईस ही हैं, अतएव इस छंद में छांदिक दोष है; परन्तु बड़े पुरुषों द्वारा छंदों में किये गये अशुद्ध प्रयोग को 'आर्ष प्रयोग' कहकर उसे दोष नहीं माना जाता।

उक्त गायत्री में तेईस अक्षर इस प्रकार हैं—"तत्, स, वि, तुर्, व, रे, ण्यं, भ, र्गो, दे, व, स्य, धी, म, हि, धि, यो, यो, नः, प्र, चो, द, यात्।" कुछ विद्वान 'वरेण्यं' में 'ण' को पूरा 'ण' बनाकर 'वरेणियं' पढ़ लेते हैं और इस प्रकार अपनी ओर से चौबीस अक्षर बना लेते हैं।

उक्त गायत्री मंत्र का अक्षरशः अर्थ यह है—"हम उस सविता[1] देवता का ध्यान धारण करते हैं जो वरण करने योग्य तथा प्रकाशस्वरूप है और हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है।"

ऋग्वेद में उक्त स्थल पर गायत्री मंत्र में "ॐ भूर्भुवः स्वः" नहीं है। बहुत पीछे के काल में उसमें इसे मिलाया गया। 'ॐ' में तीन मात्राएं हैं अ, उ, म्। इनके क्रमशः अर्थ हैं रज, सत, तम। ॐ रज, सत, तम का समुच्चय है। 'भूः'

---

1. सायणाचार्य ने ऋग्वेद (5/81/4) भाष्य में लिखा है-'उदयात्पूर्वभावी सविता उदयास्तमयवर्ती सूर्यः।' उदय के पूर्व सविता कहलाता है और उदय से अस्त तक सूर्य।

का अर्थ पृथ्वी, 'भुवः' का अर्थ अंतरिक्ष तथा 'स्वः' का अर्थ द्युलोक एवं स्वर्ग है। पीछे गायत्री की महिमा बहुत बढ़ायी गयी और कहा गया कि गायत्री ही वेदों की मां है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सबके भीतर निवास करने वाला चेतन जीव जो ज्ञानस्वरूप है, उसी की इच्छा, उसी की कल्पना गायत्री है। गायत्री स्वयं में कोई बड़ी वस्तु नहीं है, किन्तु जो गायत्री की रचना करने वाला है, जिसकी इच्छा से गायत्री निर्मित हुई है, वह जीव श्रेष्ठ है। किसी दिन विश्वामित्र ने गायत्री की रचना प्रकाशस्वरूप सविता से सद्बुद्धि की प्रेरणा लेने के लिए की थी, पीछे से मनुष्य के अज्ञानवश वह पुत्र, धन, राज्य सब कुछ का देने वाली तथा सारे पापों को भस्म करने वाली बन बैठी। हजारों वर्षों से गायत्री का घोर दुरुपयोग किया जा रहा है। आज तो वह मंत्र (शब्द-योजना) से प्रतिमा बन गयी।

प्रश्न होता है कि गायत्री कोई शरीरधारी नारी तो नहीं है जो उससे शरीरधारी ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव पैदा हो जाते। गायत्री तो मनुष्य जीव की इच्छा रूपी नारी है, अर्थात गायत्री केवल जीव की इच्छा से रचित एक वैदिक मंत्र है; अतः उससे किसी शरीरधारी का पैदा होना सर्वथा असंभव है। अर्थ वही होना चाहिए जो सृष्टिक्रम, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं लोक-नियम के अनुसार हो। ऐसी स्थिति में शरीरधारी ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर गायत्री के उपासक माने जा सकते हैं और इसलिए उन्हें गायत्री के पुत्र कह दिया जा सकता है। जो गायत्री वेदों की मां मान ली गयी, उसे यदि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ने अपनी मां मानकर उसकी घोर उपासना की हो और उसका जनमानस में जोरदार प्रचार किया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं लगता। इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि ब्रह्मादि गायत्री के पुत्र हुए।

"फिर ब्रह्मै पूछल महतारी..." गायत्री एक मंत्र है, उससे कुछ पूछना ही असंगत है और उसके द्वारा उत्तर दिया जाना असंभव है। तब आखिर यहां का अभिप्राय क्या हो सकता है?

ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव में ब्रह्मा श्रेष्ठ थे। वे रजोगुणी होने से अधिक क्रियाशील एवं उत्साही थे। उन्होंने मानो अपनी उपास्या मांस्वरूपा गायत्री से पूछा हो कि हे मां! तुम्हारा पुरुष कौन है और तुम किसकी नारी हो? इसके बाद मानो गायत्री ने उत्तर दिया हो कि तुम और हम तथा हम और तुम को छोड़कर बीच में अन्य कोई नहीं है। तुम्हारे ही सरीखे पुरुष हैं और हमारी ही सरीखी नारियां हैं।

अभिप्राय है कि ब्रह्मादि जैसे जीव ही ने तो गायत्रीरूपी नारी को अपनी इच्छा से पैदा किया है। अतः गायत्री-जैसे अनेक मंत्रों, धारणाओं, कल्पनाओं

का जन्मदाता परम पुरुष जीव ही है और जीव ही अपनी इच्छारूपी नारी में, कल्पनाओं में विमोहित होकर फंस जाता है। गायत्री ब्रह्मा को मानो उत्तर दे रही हो कि तुम-जैसे चेतन पुरुष ही हम-जैसी कल्पनाओं के जन्मदाता हैं और उन्हीं में फंसकर स्वरूप को भूल जाने वाले हैं।

"बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बियाय। ऐसा पूत सपूत न देखा, जो बापहि चीन्है धाय।" लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि पिता और पुत्र—इन दो पदों में ही संसार के सारे पुरुष हैं और इनकी पत्नियां एक जाति की नारी ही हैं। इस दृष्टि से "बाप पूत की एकै नारी" कहना सार्थक है। इसी प्रकार "एकै माय बियाय" का भी अभिप्राय है। एक माता-जाति से ही तो सबका जन्म होता है।

आध्यात्मिक अर्थ होगा कि जीव की इच्छारूपी जो नारी है, वह उलटकर उसको विमोहने वाली है। अर्थात समस्त जीवों को व्यामोहित करने वाली एक इच्छारूपी नारी है। एक ही माया-मोह रूपी माता से सभी जीवों की जन्मादि संसृति चलती है। वही पुत्र सुपुत्र है जो खोज करके पिता को पहचाने। अर्थात वही देहधारी मानव प्रशंसनीय है जो संसृतिस्वरूपा इच्छारूपी नारी के जन्मदाता पिता को पहचाने। इच्छारूपी नारी का जन्मदाता पिता कौन है? इसे समझने के लिए अलग नहीं जाना है। इसी रमैनी के आरम्भ में कहा गया है कि मनुष्य के अन्तर में निवास करने वाला जीवस्वरूप चेतन ही इच्छारूपी नारी का जन्मदाता है।

सद्गुरु कबीर इस रमैनी में बताते हैं कि घट-घट वासी जीव ही परम चेतन तत्त्व है। वह ज्ञानस्वरूप है। वह अपने आप को भूलकर इच्छारूपी नारी को जन्म देता है। यह इच्छा चाहे मलिन विषय-वासनाओं के लिए हो और चाहे कल्पित देवी-देवताओं के लिए हो, दृश्य-भास ही में फंसाकर जीव को अपने स्वरूप से भटकाने वाली है। वही मनुष्य प्रशंसनीय है जो इच्छा के जन्मदाता—जीव के शुद्धस्वरूप को पहचानकर इच्छा का त्याग करे और अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थित हो।

बीजक एक गहन गम्भीर सागर-जैसा ग्रन्थ है। इसमें जो जितना ही गोता लगाये, वह उतने ही रत्न पाये। इसमें सरल पद भी हैं और गूढ़ार्थ भरे पद भी। इसमें कितने ही शब्द श्लेषात्मक हैं, जिससे सरलता से अनेक अर्थ निकाले जा सकते हैं। इसीलिए भिन्न विचार वालों को बीजक में सरलता से स्थान मिल जाता है। यह गुण बीजक के आयाम को व्यापक बनाता है।

पंडितों का मन दैवी चमत्कारों से भरा है। वे धर्मग्रन्थों के अधिकतम पदों का अर्थ यथासंभव चमत्कारपूर्ण करते हैं, जो कारण-कार्य-व्यवस्था एवं प्रत्यक्ष सृष्टिक्रम के विरुद्ध होता है। वे अपने पंडिताऊ तथा चमत्कारिक अर्थों

की सिद्धि के लिए पुराने धर्मग्रन्थों के उदाहरणों का जाल तो बिछा देते हैं, किन्तु ऐसी युक्ति नहीं दे पाते जिससे मानव मन को दुनिया की मिट्टी से स्पर्श करता हुआ सरल बोध हो। जब तक जड़-चेतन के स्वाभाविक स्वरूपों, विश्व के शाश्वत नियमों एवं कारण-कार्य की व्यवस्थाओं को हम ठीक से नहीं समझ लेते और धर्म तथा अध्यात्म पर लगे हुए दैवीकरण के जाल को काटकर जब तक उन पर मानवीकरण नहीं हो जाता, तब तक हमारा अर्थ-बोध शास्त्रों के स्वप्न का राज्य ही होगा। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिकों एवं आध्यात्मिकों को इस पर ध्यान देना चाहिए। उन्हें शास्त्रप्रमाणों के जाल में न उलझना चाहिए।

इस रमैनी में बताया गया कि गायत्री एक मंत्र है जो जीव की ही इच्छारूपी नारी है। जीव की इच्छा से जीव श्रेष्ठ है। गायत्री कृत्रिम शब्द-योजना है। जीव उसका कर्ता है। अतएव जीव को चाहिए कि वह अपने ही बनाये जालों में न फंसे। वह अपनी गरिमा को पहचाने।

सृष्टि कहां से हुई और राम कौन है?

रमैनी-3

प्रथम आरम्भ कौन को भयऊ। दूसर प्रगट कीन्ह सो ठयऊ॥ 1॥
प्रगटे ब्रह्मा विष्णु शिव शक्ती। प्रथमें भक्ति कीन्ह जिव उक्ती॥ 2॥
प्रगटे पवन पानी औ छाया। बहु विस्तार के प्रगटी माया॥ 3॥
प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्मण्डा। पृथ्वी प्रगट कीन्ह नौखण्डा॥ 4॥
प्रगटे सिद्ध साधक संन्यासी। ई सब लागि रहे अविनासी॥ 5॥
प्रगटे सुर नर मुनि सब झारी। तेहि के खोज परे सब हारी॥ 6॥

साखी—जीव शीव सब प्रगटे, वै ठाकुर सब दास।
कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस॥ 3॥

शब्दार्थ—आरम्भ=उत्पत्ति। ठयऊ=स्थान। शक्ति=माया, नारी। उक्ति=कथन, अंदाज, कल्पना। छाया=अग्नि, अमर कोश में छाया के चार अर्थ हैं—सूर्यप्रिया, कांति, प्रतिबिंब तथा छांह (3/3/158)। नौखण्डा=इंद्र, नाग, वरुण, गभिस्त, ताम्र, ब्रह्म, भरत, सौम्य एवं कसेरु खंड। दूसरे प्रकार से नौ खंड इस प्रकार गिनाये जाते हैं—कुरु, हिरण्यक, रम्यक, इला, हरि, केतुमाल, भद्रास्व, किन्नर तथा भरत खंड। झारी=सब-के-सब।

भावार्थ—पहले-पहल किसकी उत्पत्ति हुई? दूसरा प्रश्न यह है कि वह कौन जगह है जहां पर ठहरकर किसी ने सृष्टि की?॥ 1॥ ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव शक्ति (किसी नारी) से पैदा हुए और जीव पूर्व कथनानुसार अपने अनुमान से भक्ति करने लगे॥ 2॥ पवन, पानी और अग्नि प्रकट हुए। बहुत

विस्तार से माया प्रगट हुई॥ 3॥ अंड, पिंड और ब्रह्मांड प्रकट हुए और नौ खंडों के सहित पृथ्वी प्रकट हुई॥ 4॥ सिद्ध, साधक, संन्यासी, सुर, नर, मुनि आदि जितने संसार में जन्म लिये, सब किसी अविनाशी तत्त्व की खोज में लगे रहे, और उसी में थक-हारकर परेशान हो गये॥ 5-6॥

जीव से ही शिव (ईश्वर) देवादि की कल्पना प्रकट हुई। पीछे से कल्पित पदार्थ ही स्वामी बन बैठे और कल्पनाकर्ता जीव उनके दास बन गये। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं और कुछ नहीं जानता, मुझे केवल उस आत्म-स्वरूप का ही आशा-भरोसा है, जिसका नाम राम है अर्थात मेरा निरंतर विश्राम स्वरूपराम में ही है॥ 3॥

व्याख्या—जो लोग सृष्टि का आरम्भ मानते हैं, सद्गुरु कबीर ने उनसे प्रश्न किया है कि सर्वप्रथम किसकी सृष्टि हुई है? आगे सातवीं रमैनी में इस विषय का खुलासा है। किसी ग्रन्थ की एक-दो पंक्ति से सिद्धांत नहीं स्थिर किया जा सकता, किन्तु पूरे ग्रन्थ एवं पूर्वापर का विचार करना पड़ता है। सद्गुरु कहते हैं 'सृष्टि कब, किससे और कहां पैदा हो गयी?' अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध हुआ कि सद्गुरु सृष्टि को अनादि मानते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव यदि देहधारी जीव हैं तो ये किसी नारी से ही पैदा हुए होंगे, इसीलिए शक्ति का अर्थ नारी किया गया है। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि शरीरधारी नर-नारी के बिना केवल शक्ति से, ऊर्जा से कोई मनुष्य पैदा नहीं हो जाता। सृष्टि में जो क्रम आज नहीं दिखता, वह पहले रहा होगा, यह केवल कल्पना है और अस्वाभाविक तो है ही।

इस रमैनी के पूर्व, अर्थात दूसरी रमैनी में ब्रह्मादि द्वारा की गयी उपासना-भक्ति की चर्चा हो चुकी है। यहां कहना है कि प्रथम कथनानुसार ब्रह्मादि जीवों ने अपने अनुमान से भक्ति की। 'उक्ति' का अर्थ कहा हुआ होता है और तजबीज, अनुमान, कल्पना आदि भी होते हैं। ब्रह्मादि जीव किसी सृष्टिकर्ता की कल्पना कर उसकी भक्ति करने लगे।

"प्रगटे पवन पानी औ छाया..." छाया से अभिप्राय यहां अग्नि है। बिना अग्नि के प्रकाश नहीं तथा बिना प्रकाश के छाया की सिद्धि नहीं। आपाततः यही लगता है कि कबीर साहेब यहां यही कह रहे हैं कि वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी, अंड, पिंड, ब्रह्मांड सब पैदा हुए; किन्तु बात ऐसी नहीं है। इसका खुलासा सातवीं रमैनी में किया जायेगा।

बीजक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें अनेक मतवादियों की बातें बताकर बीच-बीच में उनकी परीक्षा की गयी है।

मनुष्य अपने शुद्धस्वरूप चेतनदेव को न समझकर बाहर देव खोजता है। जीव स्वयं अविनाशी तत्त्व है, किन्तु किसी दूसरे अविनाशी ब्रह्म को खोज रहा है। जीव से पृथक यदि कोई मन, बुद्धि, वाणी से परे वस्तु है, तो उसका मिलना

जीव की दुराशा ही है। जो इन्द्रिय और मन-बुद्धि में नहीं आता, उससे मुलाकात कैसे होगी? वस्तुतः ऐसी वस्तु की केवल कल्पना की जा सकती है। न उसकी प्राप्ति हो सकती है, न बोध। इसीलिए ऋषि थककर स्वयं कहते हैं—"ब्रह्म को जो नहीं जानता, वही जानता है तथा जो उसे जानता है वह नहीं जानता। क्योंकि वह जानने वालों के लिए अज्ञात है और नहीं जानने वालों के लिए ज्ञात है।"[1] तात्पर्य यह है कि उसे जाना नहीं जा सकता है। इसीलिए जो कहता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वही उसे जानता है। अतएव सद्गुरु कबीर का यह कहना सार्थक ही है कि 'तेहि के खोज परे सब हारी' उस ब्रह्म की खोज में सब हार गये। श्री निर्मल साहेब भी कहते हैं—

मन बुद्धि वाणी परे बतावें। पुनि तेहि दर्शन को ललचावें॥

गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

अलख कहैं देखन चहैं, ऐसे परम प्रवीन।
तुलसी जग उपदेशहीं, बनि बुध अबुध मलीन॥

तो क्या साधक को निराश हो जाना चाहिए? निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जीव जिस परम तत्त्व, परम ब्रह्म एवं परम सुखसागर को खोज रहा है, वह स्वयं है। अतएव साधक को मन की कल्पनाओं से लौटकर अपने चेतनस्वरूप के बोध एवं स्थिति की ओर मुड़ना चाहिए।

"जीव शीव सब प्रगटे, वै ठाकुर सब दास। कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस॥" जीव न होता तो शिव की कल्पना कौन करता? अतः यह कहावत सच है कि 'हम न होते तो खुदा न होता'। अफसोस है कि जीव अपनी कल्पना को ही शिव मान बैठा है, जबकि वह स्वयं शिव है। जीव अपनी कल्पित धारणाओं को ही स्वामी मानकर उसके सामने घुटने टेकता है। उसे अपने गरिमामय महत्त्व का भान ही नहीं होता।

'कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस' इसका यह स्थूल अर्थ करना कि "कबीर और कुछ नहीं जानते। उन्हें केवल रामनाम की ही आशा है" चिंत्य है। महातार्किक कबीर इतने भोले नहीं हैं कि वे केवल राम-नाम की आशा कर बैठ जायेंगे और अन्य कुछ जानने की चेष्टा ही नहीं करेंगे। यदि वे ऐसे भोले भक्त होते, तो पूरा बीजक राम-नाम की महिमा का ग्रन्थ होता। हां, वे यह अवश्य कहते हैं कि "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि" (रमैनी, साखी 36) राम ऐसा नाम तुम अपना ही समझो और खोटी वस्तुएं (बाह्य कल्पनाओं को) छोड़ दो। यदि कबीर का कोई उपासनीय राम है, तो वह अपना चेतन-स्वरूप ही है।

---

1. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ (केन उपनिषद् 2/3)

परखकर जाल से बचने वाला ही निर्मल होता है

रमैनी-4

प्रथम चरण गुरु कीन्ह विचारा। कर्ता गावै सिरजनहारा॥ 1॥
कर्महि कै कै जग बौराया। सक्ति भक्ति कै बाँधिनि माया॥ 2॥
अद्‌बुद रूप जाति की बानी। उपजी प्रीति रमैनी ठानी॥ 3॥
गुणी अनगुणी अर्थ नहिं आया। बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया॥ 4॥
जो चीन्हैं ताको निर्मल अंगा। अनचीन्हें नर भये पतंगा॥ 5॥

साखी—चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे, बानी परी न चीन्ह।
आदि अन्त उत्पति परलय, आपूही कहि दीन्ह॥ 4॥

शब्दार्थ—प्रथम चरण=वेद रचने के पूर्व। गुरु=ऋषिगण या ब्रह्मा। कर्ता=ईश्वर। कर्महि=कर्मकांड, यज्ञादि। सक्ति=शक्ति, बल, शक्तिसंपन्न जीव। अद्‌बुद=अद्‌भुत। जाति=सिद्धांत, संप्रदाय। रमैनी=प्रार्थना। आपूही=मनुष्य स्वतः।

भावार्थ—ऋषियों तथा ब्रह्मादि गुरुओं ने वेद रचना के प्रथमारंभ में संसार पर विचार किया और वे जगत-रचयिता-कर्ता का गुणगान करने लगे॥ 1॥ गुरुओं ने जीवों को कर्मकांड के जाल में फंसाकर उन्हें उन्मत्त कर दिया और भक्ति की माया में बलपूर्वक बांध दिया, अथवा भक्ति की माया में शक्तिमान जीव को बांध दिया॥ 2॥ इन संप्रदायों की वाणियां अद्‌भुत रूप हैं। इन्हें सुनकर मनुष्यों के मन में विरह उत्पन्न हुआ और वे उस कल्पित धारणा के लिए प्रार्थना करने लगे॥ 3॥ चाहे कोई गुणी हो चाहे अनगुणी, चाहे कोई विद्वान हो चाहे अविद्वान, वे कथित 'सिरजनहार' के गीत का अर्थ नहीं समझ सके। अधिकतम लोग इस मन के भुलावे को नहीं समझ सके॥ 4॥ जिन्होंने इस माया को पहचान लिया, उनका मन निर्मल हो गया, और जो बे-पारखी रहे, वे माया-मोह की आग में पतिंगे के समान जलकर नष्ट हो गये॥ 5॥

हे पगले! परखो! परखो! बिना परख किये वाणी को क्या गाते हो? तुम वाणीजाल की परख नहीं कर सके। जगत के आदि-अंत तथा उत्पत्ति-प्रलय की बातें तो तुमने अपने आप ही कल्पना कर-करके कह डाली है॥ 4॥

व्याख्या—सृष्टि की सुन्दर धुंधली कल्पना ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में है। यह विषय अपने आप आगे सातवीं रमैनी में आयेगा, अतः इसका विवरण यहां नहीं दिया जा रहा है।

अनंत देश-काल-व्यापी अनंत ब्रह्मांड को देखकर मनुष्य का मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वह भावुक होकर इसके रचयिता किसी देवता की कल्पना करता है। मनुष्य जगत के मूल द्रव्यों तथा उनके अभिन्न गुण-धर्मों का

अध्ययन नहीं करता, जो उत्पत्ति-नाश-रहित अनादि तथा अनंत हैं। वह भावुक बनकर किसी देव को इसका रचयिता मान लेता है।

ऋषियों ने सोचा, काल (समय), स्वभाव, नियति (भाग्य या भवितव्यता), यदृच्छा (स्वयं हो जाना), भूत (तत्त्व), योनि (खानि या कर्म-बीज), पुरुष (चेतन जीव) तथा संयोग—क्या ये आठ संसार के होने में कारण हैं? उत्तर दिया गया कि यह चिंत्य है, विचारणीय है, संदेहयुक्त है; क्योंकि इनमें सात तो सर्वथा जड़ हैं और आठवां पुरुष चेतन तो है, परन्तु सुखी-दुखी होने से असमर्थ है।[1] अतः इन आठों से पृथक एक सर्वसमर्थ देव है जो संसार-सृष्टि का कारण है।[2] उपनिषद् की ये पंक्तियां वैदिक-काल के बहुत पीछे लिखी गयी हैं, परन्तु ये विचार तो बहुत पहले से होते रहे।

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि, संयोग तथा पुरुष—इन आठों को ऋषि जो चिंत्य कहते हैं, ये ही वस्तुतः जगत के कारण हैं। परन्तु उक्त मूलाधारों से जगत की व्याख्या पेश करने के लिए मनुष्य को कठोर वैज्ञानिक धरातल पर उतरना पड़ता है। उसे निरस दिखने वाले विवेक की कसौटी पर चढ़ना पड़ता है; अतएव इन तथ्यों से आदमी कतराकर और बच्चों-सरीखा भावुक बनकर किसी देव की, ब्रह्म की कल्पना करता है और कहता है कि उसी ने संकल्प की फूंक से अनंत ब्रह्मांड को बनाकर खड़ा कर दिया।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि अनुभवगम्य उपलब्ध अनादि जड़-चेतन में उनके अपने अनादि स्वभावसिद्ध गुण-धर्म हैं, जिनसे यह अनंत ब्रह्मांड अनादिकाल से विद्यमान है और अनंतकाल तक विद्यमान रहेगा। जड़-चेतन मूल हैं, क्योंकि वे अनादि-अनंत एवं नित्य हैं। मूल का अन्य मूल नहीं होता। मूल स्वयं अ-मूल होता है—"मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" (सांख्य 1/67)। मूल द्रव्य के अपने गुण-धर्म भी अनादि ही होते हैं। अतः उनसे यह जगत भी अनादि ही है। जगत को "लीलावत्तु कैवल्यम्" कहकर किसी जादूगर की फूंक से इसके खड़े हो जाने की व्याख्या एक भोलापन है।

पूर्व के अनेक ऋषियों एवं गुरुओं ने जगत की व्याख्या जगत के गुण-धर्मों में घुसकर नहीं की, प्रत्युत भावुक दैववाद लादकर मनुष्य की चिंतनधारा को सुखा दिया और वे जगत से भिन्न किसी जगत-रचयिता के गीत गाने लगे। सद्गुरु कबीर कितना मधुर व्यंग्य करते हैं—"कर्ता गावै सिरजनहारा"—ये लोग जगत-रचयिता किसी कर्ता को गा रहे हैं।

---

1. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
   संयोग एषां न त्वनात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥
   (श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/2)

2. वही 1/3-4।

सद्गुरु कबीर यहां उन्हीं गुरुओं को उद्धृत कर रहे हैं जिनसे दैववाद का भ्रम फैल रहा है। ऐसे भी वैदिक ऋषि हैं जो जगत में ही जगत की व्यवस्था खोजते हैं और आत्मा को ही परमात्मा रूप में पाते हैं। एक उदाहरण लें—"द्यावा, पृथ्वी, समस्त लोक, समस्त दिशाएं एवं स्वर्गलोक को सब ओर से समझकर वह तत्काल ही ऋत के फैले हुए तन्तुओं को चीर डालता है। फिर उसको देखता है, वही हो जाता है, क्योंकि वह वही है ही।"[1]

ऋषि द्यावा, पृथ्वी, लोक, दिशा, स्वर्ग—सबके साथ 'परि' विशेषण लगाकर सम्पूर्ण सृष्टि पर संकेत करता है। यहां कहा गया है कि सारे विश्व में ऋत के तन्तु फैले हैं। ऋत विश्वसत्ता के मूल द्रव्यों का गुण-धर्म है, जिससे सारा संसार निरंतर चल रहा है। वैसे वेदों में ऋत के तीन अर्थ लिये गये हैं[2]—

(1) प्रकृति-गति, अखिल ब्रह्मांड में एक सदृश सामान्य क्रम।

(2) यज्ञ के संदर्भ में—देवताओं की पूजा में सम्यक एवं व्यवस्थित विधि।

(3) मानव का नैतिक आचरण।

इसमें पहला और तीसरा बहुत महत्त्वपूर्ण है। जड़-क्षेत्र में उनके गुण-धर्मों से कारण-कार्य की व्यवस्था तथा मानव के नैतिक-क्षेत्र में पवित्र आचरण, यही ऋत है।

यहां ऋषि कहता है कि जो विश्व में सर्वत्र कारण-कार्य की व्यवस्था रूपी ऋत को देखता है और फिर उसके फैले हुए तन्तुओं को चीरकर जड़-क्षेत्र से पार होकर आत्मतत्त्व को समझ लेता है, वह कृतार्थ हो जाता है। ऋषि इसके लिए कथन की तीन उड़ानें करता है—उसको देख लेता है—(तदपश्यत्), वही हो जाता है—(तदभवत्) तथा वही था ही—(तदासीत्)। उसको देख लेता है; यह कथन अपने से, आत्मा से अलग की ओर संकेत करता है, परन्तु संसार के लोगों के परमुखापेक्षी स्वभाव को देखते हुए ऋषि पहले ऐसा ही कहता है। वह पीछे अपने कथन को आत्मतत्त्व के निकट लाता है—वही हो जाता है। किन्तु इसमें भी भ्रम है। हो जाना एक नकलीपन है। अतः ऋषि अन्त में निर्भय होकर कह देता है कि वह तो वही है ही। अर्थात जिस सत्य को, ब्रह्म को, परमात्मा को व्यक्ति खोज रहा है, वह स्वयं वही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर

---

1. परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
   ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥ यजुर्वेद 32/12॥
2. ऋग्वेद 4/23/8-10 में बारह बार ऋत का नाम आया है। और ऋत के लिए देखिए ऋग्वेद 1/90/6; 1/105/12; 1/121/4; 1/123/9 1/123/13; 1/124/3; तथा 1/136/2।

साहेब की चिंतनधारा के सत्पुरुष पहले से भी होते आये हैं। इसके प्रमाण वेदों, उपनिषदों तथा शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जिनको जड़-चेतन का एवं स्व-पर का ठीक बोध नहीं है, वे कर्ता सिरजनहार के ही गीत गाते हैं।

"कर्महि कै कै जग बौराया। सक्ति भक्ति कै बाँधिनि माया।" सूर्य, चन्द्र, मरुत, अग्नि, बादल, वर्षा आदि प्राकृतिक शक्तियों को देव मान लिया गया और समझा गया कि ये देव आकाश से हमें क्रोध या दया की दृष्टि से झांक रहे हैं। यदि हम हवन द्वारा उन्हें सन्तुष्ट रखेंगे, तो हमारे ऊपर क्रोध न कर दया करेंगे। इस विश्वास को लेकर हवन का खूब दौरदौरा चला। अग्नि में घी, समिधा के साथ-साथ पशु, पक्षी आदि का हवन किया जाने लगा। गोमेध, अश्वमेध, नरमेध तक यज्ञ चले। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 162 तथा 163 दोनों सूक्तों के पूरे पैंतीस (35) मंत्र देखने योग्य हैं, जिनमें अश्वमेध का वर्णन है। यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय के पूरे चालीस मंत्रों में अनेक बलि-पशुओं का ही वर्णन है। शतपथ, गोपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण ग्रन्थ; आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ़ आदि श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्रों में यज्ञविधियां सविस्तार वर्णित हैं।

कहा गया कि "हजारों ब्राह्मणों का वध तथा अरबों गर्भ-हत्या का पाप कोटि आहुतियों का होम करने से नष्ट हो जाता है।[1] यहां तक "ब्राह्मणों का मारने वाला, विश्व के लोगों का सामूहिक वध करने वाला तथा गाय का मारने वाला भी अश्वमेध करने से शुद्ध हो जाता है।"[2] कहा गया कि सारी ऋद्धियां-सिद्धियां, राज्य, पुत्र, स्वर्ग, विजय यज्ञ करने से मिलते हैं। यह सारा-का-सारा एक महाभुलावन ही है, जिसमें जीवों का भटक जाना स्वाभाविक है। इसीलिए साहेब ने कहा "कर्महि कै कै जग बौराया।"

दूसरी बात, भक्ति भी माया है जिसमें जीव बंधे हैं। सत्पुरुषों तथा सत्यबोध के प्रति भक्ति कल्याणकारी है; परन्तु जड़ मान्यताओं या एक अज्ञात कल्पित धारणा में जीव को भावविभोर कर उलझा देना, यह भक्ति के नाम पर माया ही है। 'सक्ति भक्ति कै बाँधिनि माया' में सक्ति का अर्थ यदि साक्तमत लगाया जाये, तो भी अर्थ में विसंगति नहीं होगी। तब पूरी चौपाई का अर्थ होगा कि कर्मकांड, हिंसक साक्त साधना तथा कल्पित धारणा के प्रति भक्ति—ये तीनों ही जीव को बांधने के लिए माया हैं।

---

1. ब्रह्महत्या सहस्राणि भ्रूणहत्या अर्बुदानि च।
   कोटि होमेन नश्यंति यथावच्छिव भाषितम्॥ (मत्स्य पुराण 93/138)
2. द्विजहा विश्वहागोघ्नो वाजिमेधेन शुद्धयति॥ (गर्ग सं.10/7)

"अद्‌बुद रूप जाति की बानी। उपजी प्रीति रमैनी ठानी।" जो इतिहास में न हो, संसार में न हो, जिसकी कहीं कोई सत्ता न हो, ऐसे व्यक्ति तथा वस्तु की व्याख्या कवि लोग ऐसे रसात्मक एवं प्रभावी ढंग से कर देते हैं कि आम समाज उन्हें सत्यवत एवं प्रत्यक्षवत मानकर मनोगत भावधारा में बहने लगता है। इसमें कवियों की कला तो अवश्य महत्त्वपूर्ण होती है, परन्तु वे सत्य का हनन कर मनुष्य को विपथगामी बना देते हैं। भावना का महत्त्व थोड़ी दूर तक ही है। सत्य की अनुभूति केवल भावना से नहीं, बोध से होती है।

"गुणी अनगुणी अर्थ नहिं आया। बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया।" सद्‌गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"समुझि न परलि राम की कहानी। निर्बक दूध की सर्बक पानी" (रमैनी 45)। कोई आदमी सदाचारी हो सकता है और विद्वान भी, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उसे सत्य का बोध भी हो। अतएव 'सिरजनहार' के गीत का अर्थ गुणी-अनगुणी, विद्वान-अविद्वान कोई नहीं समझ सका। इसे तो कोई पारखी ही समझ सकता है।

"जो चीन्हैं ताको निर्मल अंगा। अनचीन्हें नर भये पतंगा " गुरुजनों का मोह, परम्परा का मोह, शास्त्रों का मोह, मन की कल्पनाओं का मोह परख लेना और उनसे ऊपर उठ जाना, बहुत बड़ी बात है। जो बंधनों को देखता है, वही मोक्ष को भी देखता है। जिसे बंधनों की परख नहीं, वह मोक्ष को क्या समझ सकता है।[1] गुरु, परम्परा तथा शास्त्र सब आदरणीय हैं, परन्तु अपने विवेक की बलि चढ़ाकर नहीं। गुरु, परम्परा तथा शास्त्र की सत्य बातों से ही अपना तथा अन्य का कल्याण हो सकता है।

सद्‌गुरु कबीर चीन्हने एवं परखने पर जोर देते हैं, केवल मान लेने पर नहीं। परखने वाले निर्मल होते हैं। न परखने वाले पतिंगे के समान नष्ट हो जाते हैं।

"चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे, बानी परी न चीन्ह। आदि अंत उत्पति परलय, आपूही कहि दीन्ह॥" गुरु की वाणी है, संत की वाणी है, शास्त्र की वाणी है, परम्परा की वाणी है, इस श्रद्धातिरेक में पड़कर मनुष्य उनकी वाणियों पर कसौटी लगाना नास्तिकता एवं पाप समझता है। जब तक मनुष्य में सत्य के लिए निष्ठा नहीं जग जाती, तब तक वह शास्त्रों की वाणियों पर परीक्षा की कसौटी नहीं लगा सकता। और जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक सत्य का मोती नहीं मिल सकता। सद्‌गुरु कहते हैं कि जगत के आदि-अंत, उत्पत्ति-

---

1. बन्धन छिपै न जाहि से, मुक्ति ताहि की दृष्टि।
   बन्धन जेहि अनुभव नहीं, तेहि को मुक्ति अदृष्टि॥ (मुक्तिद्वार 6/11)

प्रलय की कल्पना करने वाले भी तुम्हीं हो और ऐसी-ऐसी वाणियों को लिख-पढ़कर उनका प्रचार करने वाले भी तुम्हीं हो, और "आपुहि बरि आपन गर बन्धा" (रमैनी 33) के अनुसार तुम स्वयं अपने वाणीजाल में उलझे हो।

'चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे' इस अंश का अर्थ अन्य ढंग से भी हो सकता है। इसके पहले सद्गुरु ने कहा है कि "जो वाणी को चीन्ह लिया वह निर्मल हो गया और जो नहीं चीन्ह सका, वह पतिंगे के समान जलकर मर गया।" तो मानो लोगों ने कहा हो कि "हम भी वाणी को चीन्हते हैं, पहचानते हैं।" यह सुनकर सद्गुरु ने मानो उत्तर दिया हो कि हे पगले ! तुम चीन्ह-चीन्ह कर क्या गाते हो? तुम्हारा चीन्हना, पहचानना धोखे में है। तुमसे वाणी का जाल पहचाना नहीं जा सका।

हंसदशा भ्रांतियों से परे है

रमैनी-5

कहलौं कहौं युगन की बाता। भूले ब्रह्म न चीन्हैं बाटा॥ 1॥
हरि हर ब्रह्मा के मन भाई। बिबि अक्षर लै युक्ति बनाई॥ 2॥
बिबि अक्षर का कीन्ह बँधाना। अनहद शब्द ज्योति परमाना॥ 3॥
अक्षर पढ़ि गुनि राह चलाई। सनक सनन्दन के मन भाई॥ 4॥
वेद कितेब कीन्ह विस्तारा। फैल गैल मन अगम अपारा॥ 5॥
चहुँ युग भक्तन बाँधल बाटी। समुझि न परलि मोटरी फाटी॥ 6॥
भय भय पृथ्वी दहुँ दिश धावै। अस्थिर होय न औषध पावै॥ 7॥
होय बिहिस्त जो चित न डोलावै। खसमहि छाड़ि दोजख को धावै॥ 8॥
पूरब दिशा हंस गति होई। है समीप सन्धि बूझै कोई॥ 9॥
भक्ता भक्तिक कीन्ह सिंगारा। बूड़ि गैल सब माँझल धारा॥10॥

साखी—बिनु गुरु ज्ञान दुन्द भई, खसम कही मिलि बात।
युग युग सो कहवैया, काहु न मानी बात॥ 5॥

शब्दार्थ—बाटा=रास्ता। भाई=अच्छी लगी। बिबि अक्षर=दो अक्षर—ओ+म्, सो+हं। बँधाना=विधान, नियम, परिपाटी। अनहद शब्द=अनाहत नाद, खोपड़ी में उठती हुई नसों की झनकार। ज्योति=मस्तिष्क की गरमी, आंखों की गरमी। परमाना=सत्य। गैल=गया। बाटी=बाट, भक्ति मार्ग। मोटरी फाटी=भ्रम की गठरी फट पड़ी। औषध=पारख, बोध। बिहिस्त=स्वर्ग, मोक्ष। खसमहि=पति, स्वस्वरूप। दोजख=नरक, विषय-वासना। पूरब दिशा=ज्ञान-दिशा, ज्ञान, परखबुद्धि। हंसगति=विवेक की दशा, स्वरूपस्थिति।

भावार्थ—युगों की बातें कहां तक कहूं, संसार के लोग ब्रह्म के स्वरूप को भूल गये, सही रास्ता नहीं परख सके। अर्थात ब्रह्म की वास्तविकता क्या है, यह नहीं समझ सके॥ 1॥ विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा के मन में भी यही बात अच्छी लगी और वे ओ+म्, सो+हम् आदि दो अक्षर मिलाकर ब्रह्म की व्याख्या करने तथा संसार-सागर से तरने का उपाय बताये॥ 2॥ इस प्रकार ब्रह्म को व्याख्यायित करने के लिए दो अक्षरों की परिपाटी बनायी, और अनाहतनाद-श्रवण तथा ज्योति-दर्शन को ब्रह्म का प्रामाणिक साक्षात्कार मान लिया॥ 3॥ शास्त्रों को पढ़-गुनकर सम्प्रदाय चलाये गये और सनक-सनंदनादि को भी ये मार्ग अच्छे लगे॥ 4॥ वेदों और किताबों का बहुत विस्तार हुआ। इन अगम-अपार वाणियों एवं शब्दजाल में मनुष्यों का मन बिखरकर उलझ गया॥ 5॥ भक्तों ने चारों युगों में भक्ति-मार्ग की योजनाएं बनायी हैं। उनकी समझ में यह बात नहीं आयी कि हमारे ऊपर भ्रम की मोटरी फट पड़ी है॥ 6॥ संसार के मनुष्य भयभीत होकर दसों दिशाओं में भटकते हैं। न वे स्थिर होते हैं और न उन्हें बोध एवं शांति रूपी औषध मिलती है॥ 7॥ यदि मनुष्य अपने मन को चंचल न करे, तो उसको तत्काल स्वर्ग का सुख प्राप्त हो। परन्तु मन तो अपने चेतनदेव प्रभु को छोड़कर विषय-वासना रूपी नरक में दौड़ता है॥ 8॥ हंस की स्थिति ज्ञानपरक दशा में है। यह तत्त्व सबके पास है, परन्तु इसका रहस्य कोई बिरला समझता है॥ 9॥ भक्त लोग भक्ति का शृंगार करते हैं और सब संसार-सागर में डूबकर मरते हैं॥ 10॥

बिना गुरुज्ञान के ही यह झगड़ा मचा है। भक्तजन लोगों से मिलकर जीव के ऊपर किसी भिन्न खसम की बात बताते हैं। इस प्रकार के उपदेश युगानुयुग से चले आ रहे हैं और इन्हीं के प्रभाव में लोग प्रभावित हैं। सही बात मानने वाला कोई नहीं है॥ 5॥

व्याख्या—ब्रह्म का सीधा सादा अर्थ है 'बड़ा'—बृहत्त्वात् ब्रह्म। अपने शुद्ध चेतन स्वरूप का भाव लेकर यह मानना कि मैं ब्रह्म हूं, शुद्ध-बुद्ध हूं, जिस परमतृप्ति की मुझे भूख है, वह मेरे ही अपने शुद्ध स्वरूप में निहित है—यह अध्यात्म का उच्चतम बोध और स्थिति है। परन्तु जब यह मान लिया जाता है कि सारा विश्व-ब्रह्मांड ब्रह्म है और वह मैं ही हूं तब हम एक ऐसी भावुकता में बह जाते हैं जिसका साक्षी बोध नहीं है। मैं अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं, यह किसी का अनुभव नहीं है; किन्तु एक भावुकतापूर्ण जोशीली धारणा है जिसमें सत्य का रास्ता खो जाता है। मैं सबका साक्षी शुद्ध चेतन हूं, यह अनुभव तथ्य है। फिर इसके साथ मैं में ब्रह्म शब्द जोड़ देना कोई बुरा नहीं है। सावधानी यही होनी चाहिए कि मैं में जगत न जोड़ा जाये। अतएव सद्गुरु जड़-चेतन-अभिन्नता

बोधक ब्रह्म को ध्यान में रखते हुए यह ठीक ही कहते हैं कि 'भूले ब्रह्म न चीन्हैं बाटा'। जहां जड़-चेतन का विवेक ही खो गया, जहां चेतन को जड़ से अलग नहीं किया जा सका, वहां निश्चित ही सही रास्ते की पहचान नहीं हुई। वस्तुतः ब्रह्मवादी वास्तविक ब्रह्म को भूल गये। वे चेतन मात्र का बोध और स्थिति छोड़कर अग-जग-व्यापक जड़-चेतन-अभिन्न मान लिये।

ओम्, सोहं, राम आदि मनुष्यों द्वारा कल्पित नाम हैं। इनके जपादि किसी परिपाटी के साधक के लिए साधना में कुछ दूर तक सहायक हो सकते हैं, परन्तु ये नाम किसी साधक का लक्ष्य नहीं हो सकते।

इसी प्रकार अनाहत शब्द और ज्योति की बात है। कान आदि छिद्रों को बन्द करने तथा एकाग्रता होने पर सिर के भीतर ध्वनि सुनाई देती है उसे अनाहतनाद कहते हैं। वह तत्त्व, प्रकृति एवं नसों की झनकार होने से श्रोत्र का श्राव्य है, जड़ है। इसी भांति आंख मीचने, नस दबाने, त्राटक करने या सहज आंख बन्द कर आंखों के भीतर ही गरमी पर ध्यान देने से कुछ समय में ज्योति दिखाई देती है। यह भी दृश्य होने से जड़ है। इस प्रकार शब्द, ज्योति आदि को ब्रह्म एवं अपना स्वरूप मान लेना अपने को धोखे में डालना है।

केन उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—"जिसे आंखें नहीं देखतीं, किन्तु जिसकी सत्ता से आंखें देखतीं हैं, उसी को ब्रह्म जान, और आंखों से देखकर जिसकी तू उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है। जिसे कान नहीं सुनते, किन्तु जिसकी सत्ता से कान सुनते हैं, उसे तू ब्रह्म जान और कानों से सुनकर जिसकी तू उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है।"[1]

किसी परिपाटी का साधक अपने मन की एकाग्रता के लिए क्रियायोग के रूप में अनाहतनाद-श्रवण तथा ज्योति-दर्शन कर सकता है, परन्तु इसको बीच की ही साधना मानना चाहिए, लक्ष्य नहीं। अनाहतनाद, सारशब्द, ज्योति आदि इस प्रकार जितने नाम लिये जाते हैं सब मन के भास, दृश्य एवं कल्पित हैं। ये मन के संयमन में सहायक हो सकते हैं, वस्तुस्थिति नहीं। समाधि में जब मन की सत्ता ही समाप्त हो जाती है, तब मन से चित्रित शब्द, ज्योति आदि का कहां अस्तित्व ! वहां तो स्वस्वरूप चेतन की शुद्ध सत्ता मात्र है और गहरी शांति है।

भारत में चार वेद बने, पीछे अनेक ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, शास्त्र, महाकाव्य, पुराण, उपपुराण आदि असंख्य ग्रन्थ बने। विदेश में तौरेत, जबूर,

---

1. यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन उप. 1/6-7)

इंजील, कुरान, हदीस, जिंदावेस्ता आदि असंख्य ग्रन्थ बने। नाना विद्वान और महात्मा नाना ढंग से अपने विचार रखे। इन सबको पढ़कर मनुष्य का मन फैल गया। स्वरूपबोधक वाणियां तो बहुत ही कम होती हैं। इसके बिना कहां बोध और कहां शांति !

हर समय में मनुष्य के मन में भक्ति की भावना रही है। चाहे भय और स्वार्थ लेकर और चाहे किसी के गुणों से प्रभावित होकर प्रेम-वश। अधिकतम मनुष्य भय तथा स्वार्थवश होकर ही भक्ति करते आये हैं, जो घटिया है। भक्तों ने भक्ति-विस्तार के लिए सदैव अनेक रोचक और मिथ्या कथाएं गढ़ी हैं। भक्ति के जोश में मन की धारणाएं ही सर्वोच्च बन बैठीं। यहां तक कि आग, पानी, पत्थर, नदी, पेड़ मनुष्य के कल्याणदाता सर्वश्रेष्ठ बन गये और स्वयं मनुष्य, जिसने इन जड़ पदार्थों को मान्यता दी, इनके सामने घुटने टेकने लगा। मनुष्य समझता है कि मैं भक्ति करता हूं। वह यह नहीं समझता कि मेरे ऊपर भ्रांति की मोटरी फट पड़ी है। वह भयभीत होकर दसों दिशाओं में भटकता है। वह पुत्र, धन, प्रतिष्ठा, मोक्ष एवं भगवान को पाने के लिए नदियों, पहाड़ों एवं तीर्थों की खाक छानता है। भक्ति का जोश उसे स्थिर नहीं होने देता। उसे सब जगह भगवान के सपने दिखते हैं। किन्तु "ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहि" (साखी 279)। शून्य के रोटी, दाल, भात से पेट कैसे भरेगा? मन के क्षणिक आनन्द के लिए भावना का भगवान ठीक है, किन्तु सच्चा भगवान तो अपना चेतन-स्वरूप है, जिसके बोध एवं स्थिति से अनन्त शांति होती है। यही भवव्याधि की औषध है। परन्तु मन के स्थिर हुए बिना यह औषध कैसे मिलेगी !

चित्त की स्थिरता ही स्वर्ग है, मोक्ष है, परमानन्द है और परमपद है। सद्गुरु कहते हैं, हे मनुष्य ! यदि तू स्वर्ग चाहता है, तेरे को मोक्ष इष्ट है, तो तू अपने मन को स्थिर कर। तेरा परमप्रभु तो तेरे अपने हृदय में विराजमान तेरा अपना चेतन-स्वरूप ही है। तू अपने मन को उसी में लगा। विषय-वासना जो नरक है, उसमें न ले जा।

"पूरब दिशा हंस गति होई। है समीप संधि बूझै कोई॥" जिस दिशा में सूर्य उगता है उसे पूर्व कहते हैं। सूर्य प्रकाशस्वरूप है। प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है। अतएव पूर्व दिशा का अर्थ ज्ञान की दिशा है। लोकोक्ति के अनुसार हंस नीर-क्षीर-विवेकी होता है। वह जल को छोड़कर केवल दूध लेता है। गति के अर्थ गमन, ज्ञान, प्राप्ति, मोक्ष आदि हैं। अभिप्राय हुआ कि जो ज्ञानपरक बुद्धि वाला एवं विवेकी है वही मन की धारणाओं एवं जड़ाध्यासों को छोड़कर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थित होता है। 'अहम्' और 'सः' इन दो पदों के जोड़ से 'हंस' शब्द बना है। हंस में अ तथा विसर्ग लुप्त हो गये हैं। अहम्+सः—

मैं+वह, अर्थात जिसे मैं खोज रहा हूं वह मैं ही हूं, यह हंस का हंसत्व है। मिट्टी के खिलौने बेचने वाले हीरे की परख नहीं कर सकते। परोक्ष कल्पित वस्तु की भक्ति-भावना में बहने वाले लोग वस्तुपरक हंस दशा का न बोध प्राप्त कर सकते हैं और न उसमें स्थिर हो सकते हैं। विवेकज्ञान में ही हंसदशा की प्राप्ति होगी। विवेकज्ञान की भूमिका सबके निकट है। निकट कहने का भी एक तरीका है। वस्तुतः सब मनुष्य के हृदय में विवेकज्ञान का बीज है। उसे समझना चाहिए और उसका उपयोग कर स्वरूपस्थिति प्राप्त करना चाहिए।

"भक्ता भक्तिक कीन्ह सिंगारा। बूड़ि गैल सब माँझल धारा।" भक्ति हृदय की एक कोमल भावना है, जो सत्यबोध एवं सत्य में स्थित होने के लिए आवश्यक है। परन्तु यह जब कल्पित मन की धारणाओं एवं जड़ उपासनाओं में उलझ जाती है, तब सत्य का रास्ता अवरुद्ध हो जाता है। कहा जाता है "ठांव गुण कारी, ठांव गुण काजर"। वही जब गाल में लग जाता है तब कारिख कहलाता है और जब आंखों में लगता है तब काजल कहलाता है। जिस भक्ति का फल आत्मज्ञान और आत्मस्थिति है, वह उच्च है और जिस भक्ति का फल केवल भावनाओं के जगत में बहना है, वह संसार-सागर में ही डुबाने वाली है।

"बिन गुरु ज्ञान दुन्द भई, खसम कही मिलि बात। युग युग सो कहवैया, काहु न मानी बात॥" खसम का अर्थ पति या मालिक है। सभी ज्ञान-विज्ञान का पति यह जीव ही है, किन्तु "कहलौं कहौं युगन की बाता" और "युग युग सो कहवैया" सदा से ऐसे ही अधिक होते आये हैं जो जीव के ऊपर अन्य खसम सिद्ध करते हैं और उसकी भक्ति-भावना का शृंगार कर मन की धारा में डूबते हैं। इस झगड़े के मूल में है गुरुज्ञान का अभाव। लोग भक्ति के सम्मोहन में ज्ञान का तिरस्कार करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं 'काहु न मानी बात' किसी ने बात नहीं मानी। परन्तु यदि कोई न मानता, तो विवेकमार्ग संसार में कैसे चलता रहता? वस्तुतः वे भ्रांतियों के जोर पर प्रकाश डाल रहे हैं। सच है, सत्य का रास्ता अकेले का है। इसीलिए विश्वकवि टैगोर जी कहते हैं 'एकला चलो रे'।

कल्पनाएं छोड़कर मन को शून्य करो

रमैनी-6

बर्णहु कौन रूप औ रेखा। दूसर कौन आहि जो देखा॥ 1॥
वो ऊँकार आदि नहिं वेदा। ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥ 2॥
नहिं तारागण नहिं रवि चन्दा। नहिं कछु होते पिता के बिन्दा॥ 3॥
नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना। को धरे नाम हुकुम को बरना॥ 4॥
नहिं कछु होते दिवस निजु राती। ताकर कहहु कौन कुल जाती॥ 5॥

साखी—शून्य सहज मन सुमिरते, प्रगट भई एक ज्योत।
ताहि पुरुष की मैं बलिहारी, निरालम्ब जो होत॥ 6॥

शब्दार्थ—रेखा=चिह्न, लक्षण। आदि=मूल। कुल=संपूर्ण। बिन्दा=वीर्य। बलिहारी=प्रशंसा, धन्यवाद। निरालम्ब=निराधार, असंग।

भावार्थ—किस रूप और लक्षण का वर्णन करते हो? तुम्हारे अतिरिक्त उसे किसने देखा है?॥ 1॥ उस प्रणव का मूल तो वेद भी नहीं जानते हैं, बताओ! उसका संपूर्ण रहस्य क्या है?॥ 2॥ कहते हैं "पहले तारागण, सूर्य, चन्द्रमा, पिता के वीर्य, जल, पृथ्वी, आकाश, वायु आदि नहीं थे।" फिर किसने नाम रखा और इन सबको उत्पन्न होने की आज्ञा दी? जिस ब्रह्म के निज स्वरूप में दिन-रात, ज्ञान-अज्ञान कुछ नहीं थे, उसके कुल और जाति अर्थात गुणात्मक लक्षण क्या वर्णन करते हो?॥ 3-5॥

सहज मन से स्मरण करते हुए जब संकल्पों का शून्यत्व हुआ तब हृदय में ज्ञान-ज्योति प्रकट हुई। मैं उस पुरुष की प्रशंसा करता हूं जो असंग हो जाता है॥ 6॥

व्याख्या—"बर्णहु कौन रूप औ रेखा..." अपने चेतन स्वरूप को छोड़कर जो लोग अलग ब्रह्म खोजते हैं, उनसे सद्गुरु पूछते हैं कि तुम्हारे माने हुए ब्रह्म के क्या रूप और लक्षण हैं? यदि उसका कोई बाह्य लक्षण है, तो वह भौतिक है और यदि वह चेतन मात्र है, तो मेरे अपने स्वरूप से भिन्न नहीं। यदि भिन्न है, तो सजाति मात्र है। ऐसी दशा में मेरी स्थिति मेरे अपने चेतन-स्वरूप में ही होगी, न कि अन्य सजाति चेतन में। हर हालत में स्वरूप से भिन्न सत्य का खोजना एक भ्रम है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम अलग ब्रह्म खोज रहे हो, तो दूसरा कौन है जो उसे देख रखा है और तुम्हें दिखा देगा।

कहते हैं उसका नाम 'ॐ' अर्थात 'प्रणव' है; परन्तु यह नाम भी मनुष्यों का ही बनाया है। अन्तिम दौड़ वेदों तक है, परन्तु वेद भी उसका भेद नहीं जानते। वे भी नेति-नेति कहकर मौन हो जाते हैं। जो केवल कल्पना का विषय है, उसका निर्धारण कैसे हो सकता है!

जिन्हें नित्य विद्यमान सत्ता के दो मूल तत्त्वों जड़ और चेतन के मूल स्वरूप का विवेक नहीं है और जो किसी ब्रह्म द्वारा अवर्तमान से इस वर्तमान जगत का प्रादुर्भाव मानते हैं, वे संसार के सारे लोग यही कहते हैं कि "पहले चांद, सूर्य, नक्षत्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि नहीं थे। किसी दिन शुद्ध ब्रह्म ने स्फुर्णा की और इन असंख्य विशाल ब्रह्मांडों को तुरन्त क्रम से खड़ा कर दिया।" जगत को समझने में मनुष्य की यह बहुत बड़ी कमजोरी है। सद्गुरु प्रश्न करते हैं कि जब यह नानाविध संसार नहीं था, तब किसकी आज्ञा से यह उपस्थित हो गया? जिसने अवस्तु से जगत-वस्तु बना दी, उसका ॐ या प्रणव

नाम किसने रखा? क्योंकि उसके अतिरिक्त तो अन्य कोई था नहीं। जगत के जीव तो जगतकर्ता से मिल नहीं सके, तो यह सिद्धान्त कैसे स्थिर किया गया? जो ज्ञान-अज्ञान से परे तथा त्रिगुण से परे है, उसके कौन-से लक्षण तुम्हें ज्ञात हैं?

"शून्य सहज मन सुमिरते..." जब मन सहज, सरल एवं निर्ग्रंथ हो जाता है तब स्व-स्वरूप का स्मरण करते-करते एक अवस्था ऐसी आती है जहां सारे विचार, सारे संकल्प एवं सारे स्मरण समाप्त होकर चित्त शून्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है। संकल्प स्वरूपज्ञान को ढांकते हैं। संकल्पों के हट जाने पर स्वरूपज्ञान का उद्घाटन होता है। यह स्वरूपज्ञान ही वह ज्योति है जिसमें सारे अज्ञान का अन्त होता है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं उसकी प्रशंसा करता हूं जो सारे दृश्यों से असंग होकर अपने आप रह जाता है। श्रुति भी कहती है "असंगो ह्ययं पुरुषः।"

सृष्टि अनादि तथा अनंत है

रमैनी-7

तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी॥ 1॥
तहिया होते कली नहिं फूला। तहिया होते गर्भ नहिं मूला॥ 2॥
तहिया होते विद्या नहिं वेदा। तहिया होते शब्द नहिं स्वादा॥ 3॥
तहिया होते पिण्ड नहिं बासू। नहिं धर धरणि न पवन अकासू॥ 4॥
तहिया होते गुरू नहिं चेला। गम्य अगम्य न पन्थ दुहेला॥ 5॥
साखी—अविगति की गति का कहो, जाके गाँव न ठाँव।
गुण बिहूना पेखना, का कहि लीजे नाँव॥ 7॥

शब्दार्थ—तहिया=सृष्टि के पहले। गम्य=सरल। अगम्य=कठिन। दुहेला=कठिन, दो। अविगति=अज्ञात।

भावार्थ—उस समय वायु और जल नहीं थे तो सृष्टि किसने बना दी? उस समय न कली थी न फूल, न गर्भ था न उसका मूल वीर्य, उस समय न विद्या थी न वेद, न शब्द था न स्वाद। न तो तब शरीर था और न उसमें जीव का निवास। उस समय न पर्वत थे न पृथ्वी, न हवा थी न आकाश। उस समय गुरु और शिष्य भी नहीं थे। उस समय सरल और कठिन—दोनों मार्ग भी नहीं थे॥ 1-5॥

फिर जिसका पता-मुकाम कुछ नहीं है उस अज्ञात की बातें क्या करते हो? इस गुणविहीन दर्शन में कर्ता-कारण के क्या नाम कहोगे?॥ 7॥

व्याख्या—जिनको नित्य और अनादि जड़-चेतन के नित्य और अनादि गुण-धर्मों से नित्य एवं अनादि जगत का बोध नहीं होता, वे प्रायः यही कहते हैं

कि कभी ऐसा था कि यह संसार नहीं था। संसार के विभिन्न कोनों में इस प्रकार की भावना वाले लोग हुए हैं। भारत के ही नहीं, प्रत्युत विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में एक उलझी हुई, धुंधली, विनम्र एवं मनोरम कल्पना आयी है, जो इस प्रकार है—

"उस समय असत नहीं था न सत ही था। न पृथ्वी थी न उसके ऊपर आकाश था। आवरण भी कहां था? किसका कहां स्थान था? क्या गहन गम्भीर जल था?॥ 1॥ उस समय न मृत्यु थी और न अमरता थी। रात और दिन का भेद भी नहीं था। वह एक निर्वात अपने स्वभाव से स्थित था। उसके अलावा कुछ नहीं था॥ 2॥ उस समय अन्धकार से अन्धकार ढका था अर्थात सर्वत्र अन्धकार था। और यह सब जलमय था। एक अंकुर था जो त्विष (भूसी) से ढका हुआ था, वह तपस् (उष्मा) की शक्ति से पैदा हुआ॥ 3॥ पहले काम उत्पन्न हुआ और मन से वीर्य पैदा हुआ। मनीषी कविगण अपने हृदय में विचार कर असत के साथ सत के बन्धन का पता लगाये॥ 4॥ उसकी किरणें जो सर्वत्र फैली थीं, ऊपर थीं कि नीचे? वीर्य (बीज) को धारण करने वाले थे और महिमाएं (शक्तियां) भी थीं। आत्मशक्ति नीचे थी और इच्छाशक्ति ऊपर थी॥ 5॥ यह सृष्टि कहां से आयी, कैसे बनी, इसे कौन निस्संदेह जानता है और कौन इसकी निर्भ्रान्त घोषणा कर सकता है? देवता लोग भी सृष्टि होने के बाद ही पैदा हुए हैं, फिर कौन जानता है कि सृष्टि कहां से हुई?॥ 6॥ ये सृष्टियां कहां से हुईं, किसने पैदा कीं, किसने नहीं पैदा कीं—यह सब वही जानता होगा जो इसका अध्यक्ष अंतरिक्ष में स्थित है और हो सकता है वह भी यह सब न जानता हो॥ 7॥"[1]

---

1. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ 1॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ 2॥
तम आसीत्तमसा गूड्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ 3॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ 4॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥ 5॥
को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥ 6॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वान वेद॥ 7॥
(ऋग्वेद, मंडल 10, सूक्त 129)

प्राप्त इतिहास में हमारे पूज्य वैदिक ऋषियों की सृष्टि के विषय में यह पहली कोमल कल्पना है। ऋषि उलझी हुई बातें करते हैं। वे कल्पना की उड़ानें भरते हैं कि पहले सत, असत, पृथ्वी, आकाश आदि कुछ नहीं था। फिर वे जल, किरणें आदि का होना मान लेते हैं। वे पहले कामना तथा मन के स्पंदन से रेत (वीर्य) उत्पन्न होना मान लेते हैं। परन्तु यह सब शरीरधारी से ही संभव है, जिसका होना उस तथाकथित शून्य काल में सर्वथा असम्भव है। ऋषिगण व्योम में, आकाश एवं अंतरिक्ष में इन सबका एक अध्यक्ष (निरीक्षक) भी मान लेते हैं और कहते हैं कि हो सकता है वही इस सृष्टि को जानता हो कि यह कहां से तथा किससे उत्पन्न हुई है। ऋषि अन्त में यह भी कह देते हैं कि हो सकता है वह भी यह सब न जानता हो। ऋषि यह कहकर कि हो सकता है वह भी न जानता हो—'न वेद' अध्यक्ष को अल्पज्ञ जीव बना देते हैं। इन महत्त्वपूर्ण मन्त्रों से कई बातें उभरकर सामने आती हैं।

1. पहले संसार नहीं था, सब शून्य था।

2. यह कहां से आया, किसने क्या लेकर बनाया, इसे देवता और अध्यक्ष (निरीक्षक, अधिष्ठाता) भी शायद नहीं जानते हैं।

3. इससे ईश्वर अंतरिक्ष में रहने के कारण एकदेशी है और अल्पज्ञ तथा अल्पशक्तिमान है ही।

4. मंत्रों में ऋषियों की सृष्टि के विषय में अनिश्चयता और ईमानदारी टपकती है।

इस सूक्त के बनते तक ईश्वर की कल्पना पुष्ट नहीं हुई थी। उसे एक देवता के समान अंतरिक्ष से नीचे की ओर झांकने वाला असहाय और अल्पज्ञ जैसे ही मान लिया गया है। ऋषि सृष्टि के विषय में एक कोमल कल्पना करते हैं, परन्तु वे दावा नहीं करते कि जो मैं कहता हूं, पक्का है। पुराण और महाकाव्यों के लेखकों की भांति वैदिक ऋषि मिथ्या साहस और दावा नहीं करते हैं कि सृष्टि अमुक देवता के पेट या मूड़ से निकल आयी या अमुक व्यक्ति ईश्वर का प्रतिनिधि बनकर आ गया और उसकी इच्छा से सब बन गया। वैदिक ऋषि तो यहां तक अपनी सरलता व्यक्त कर देते हैं—"मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूं, मेरा उलझा हुआ मूढ़ मन इधर-उधर भटकता है।"[1]

अब मूल बात पर आना है। प्रस्तुत सातवीं रमैनी में सद्गुरु मानो नासदीय सूक्त पर प्रश्न पेश करते हैं और कहते हैं कि जब पहले कोई तत्त्व एवं पदार्थ नहीं था तब सृष्टि कहां से आ गयी? अर्थापत्ति प्रमाण से सद्गुरु कबीर कहना

---

1. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि। (ऋग्वेद 1/164/37)

चाहते हैं कि जब वस्तुएं नहीं थीं, तब कहां से आ गयीं? 'असत की सत्ता नहीं तथा सत का अभाव नहीं।'[1]

विज्ञान भी मानता है कि मैटर (मूल द्रव्य) न बनता है और न मिटता है। वह अनादि, अनंत एवं नित्य है। मूल द्रव्यों के जिन गुण-धर्मों से आज सृष्टि संपादित हो रही है उन्हीं गुण-धर्मों से पीछे अनादिकाल से सृष्टि का संपादन होता आया है। क्योंकि अनादि मूल द्रव्यों में सृष्टि-उत्पत्ति के गुण-धर्म बीच में कहीं शून्य से नहीं आ गये हैं, किन्तु उनमें मूलतः अनादि से समवाय-सम्बन्धरूप में हैं। अनादि मूल द्रव्यों में अनादि गुण, धर्म, क्रिया हैं जिनसे अनादिकाल से सृष्टि विद्यमान है। भौतिक कणों का अलग-अलग बिखर जाना तथा एकजुट होकर दृश्य पदार्थ बन जाना—यह प्रक्रिया अनादिकाल से है। क्या अनादि मूल द्रव्य अपने गुण, धर्म, क्रिया छोड़कर पहले स्थिर रहे? कि गुण, धर्म, क्रिया से रहित रहे और बीच में कहीं बाहर से आकर मूल द्रव्यों में गुण, धर्म, क्रिया मिल गये? ये सारी बातें तर्कहीन हैं। अतएव मूल द्रव्य नित्य हैं, उनमें उनके गुण, धर्म तथा क्रिया नित्य हैं और उनसे जगत-सृष्टि नित्य है।

इसी प्रकार असंख्य जीव (चेतन सत्ता) भी नित्य हैं। उनके कर्म-प्रवाह भी अनादि हैं। अतएव सृष्टि भी अनादि है। सद्गुरु कहते हैं कि नित्य विद्यमान जगत के प्रति नये सिरे से उत्पन्न होने की ऐसी अज्ञात की बातें मत करो जिसका गांव-ठांव कुछ नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कबीर साहेब, जो 'मसि कागद छूवों नहीं, कलम गहौं नहिं हाथ' कहते हैं, वेदों को क्या जानें और वे नासदीय सूक्त के विषय पर तर्क कैसे कर सकते हैं!

वस्तुतः अनेक विद्वान अनेक विषयों पर बहुत छिछली मीमांसा देने लगते हैं। 'मसि कागद छूवों नहीं' को लेकर अनेक विद्वान यही कहने लग गये कि कबीर साहेब तो पढ़े-लिखे नहीं थे। यह ठीक है कि सत्य ज्ञान के लिए लिखना-पढ़ना उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि निष्पक्ष प्रगल्भ बुद्धि, संवेदनशीलता, विवेक एवं अंतरात्मा की गहराई में उतरना। ये सारी शक्तियां कबीर साहेब के पास थीं। श्रोताओं, वक्ताओं से शास्त्रों की बहुत-सारी बातें सुनकर उन पर तर्क या विचार किया जा सकता है। परन्तु उक्त "मसि कागद छूवों नहीं" साखी के आधार पर यह नहीं सिद्ध होता कि कबीर साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे।

वे उक्त साखी की पहली पंक्ति के बाद कहते हैं "चारिउ युग का महातम, कबीर मुखहि जनाई बात।" वे अपनी बातों को बताने के लिए कलम, कागज

---

1. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता 2/16)

तथा स्याही नहीं छूते। वे मुख से ही बोलते थे और शिष्य लोग लिख लेते थे। कहा जाता है कि वेदव्यास महाभारत अपने मुख से बोलते गये हैं और उसे गणेश जी ने लिखा है। आज कितने ही विद्वान मुख से बोलकर अपने कर्मचारियों से लिखवाते हैं। पारख सिद्धान्त के प्रसिद्ध और सिद्ध सन्त श्री विशाल साहेब ने एक अक्षर अपने हाथों से नहीं लिखा। पूरा विशाल वचनामृत आपके मुख से निकला है और शिष्यों ने लिखा है; किन्तु उसमें एक अक्षर भी दूसरे की मिलावट नहीं है।

कबीर साहेब जैसे प्रतिभा के धनी तथा संवेदनशील पुरुष तात्कालिक शास्त्रों की भाषा कामचलाऊ पढ़ लिये हों तो इसमें क्या आश्चर्य है। भले, वे व्याकरणाचार्य न रहे हों। उनका बीजक देखने से ही उनके शास्त्रज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसके अलावा पूर्वपक्ष की बातें सुनकर भी उन पर तर्क किया जा सकता है।

तत्त्वमसि-विचार

रमैनी-8

तत्त्वमसी इनके उपदेशा। ई उपनिषद कहैं सन्देशा॥ 1॥
ई निश्चय इनके बड़भारी। वाहिक वर्णन करें अधिकारी॥ 2॥
परमतत्त्व का निज परमाना। सनकादिक नारद शुक माना॥ 3॥
याज्ञवल्क्य औ जनक सम्बादा। दत्तात्रेय वोहि रस स्वादा॥ 4॥
वोहि बात राम बसिष्ठ मिलि गाई। वोहि बात कृष्ण उद्धव समुझाई॥ 5॥
वोहि बात जो जनक दृढ़ाई। देह धरे विदेह कहाई॥ 6॥

साखी—कुल मर्यादा खोय के, जीवत मुवा न होय।
देखत जो नहिं देखिया, अदृष्ट कहावै सोय॥ 8॥

शब्दार्थ—तत्त्वमसि=वह तू है। इनके=अद्वैत वेदांतियों के। अधिकारी = योग्य पात्र। परमतत्त्व=सर्वोच्च सत्यता, ब्रह्म। परमाना=सत्य।

भावार्थ—वह-तू-है, यही इनके उपदेश हैं। उपनिषदें यही संदेश देती हैं॥ 1॥ इनको इसका बड़ा भारी निश्चय है। अधिकारी सत्पात्र मिलने पर ये इसी की व्याख्या करते हैं॥ 2॥ यही इनका प्रामाणिक परमतत्त्व है। सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, शुकदेव आदि ने इसी सिद्धांत को माना है॥ 3॥ याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद इसी पर हुआ है। दत्तात्रेय जी ने इसी का रसास्वादन किया है॥ 4॥ राम और वसिष्ठ ने परस्पर इसी बात पर बहस की है। इसी बात को कृष्ण ने उद्धव को समझाया है॥ 5॥ जनक को इसी बात का निश्चय कराया गया है। वे देह में रहते हुए भी विदेह कहलाये हैं॥ 6॥

परन्तु केवल कुल की मर्यादा छोड़ देने से कोई जीते जी मुरदा नहीं हो जायेगा। जो देखते हुए भी अनदेखा करता है, वह विवेक नेत्रों से रहित ही कहलायेगा॥ 8॥

व्याख्या—'तत्त्वमसि' शब्द में तीन खंड हैं—तत्-त्वम्-असि। 'तत्' का अर्थ है 'वह', 'त्वम्' का अर्थ है 'तू', 'असि' का अर्थ है 'होना' अर्थात 'वह तू है'। 'तत्' का अर्थ तत्त्व, सार, सत्य भी होता है; अर्थात तू सत्य है, सार है।

जिस सत्य, सार एवं परम तत्त्व को तू खोज रहा है, वह तू ही है—यह अध्यात्म का निचोड़ है। छांदोग्य उपनिषद् के छठें प्रपाठक के सोलहों खंडों में ऋषि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को इसी तत्त्वमसि का उपदेश विस्तार से किया है। उन्होंने बारंबार कहा है—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति'—हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा, वह तू ही है। सनत्कुमार ने छांदोग्य उपनिषद् के सातवें प्रपाठक के छब्बीस खंडों में यह विषय नारद को विस्तार से समझाया है। उन्होंने कहा है भूमा में, निरतिशय में, अनंत में, सत्य में वह सुख है, अल्प में नहीं।[1] यही बात शुकदेव स्वामी ने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत में समझाया है।[2] इसी विषय पर बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद हुआ है।[3]

श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में दत्तात्रेय जी ने भी इसी का रसास्वादन किया है, जहां उन्होंने अपने चौबीस गुरुओं का वर्णन किया है। महर्षि वसिष्ठ ने श्री राम को इसी तत्त्वमसि महावाक्य का उपदेश योगवासिष्ठ ग्रन्थ में किया है जो बत्तीस हजार श्लोकों में रचित अद्वैतवेदांत का अनूठा ग्रन्थ है। इसी तत्त्वमसि का उपदेश श्रीकृष्ण जी ने भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव जी को बहुत विस्तार से दिया है। श्री कृष्ण जी ने कहा है—हे उद्धव ! "विश्वमेकात्मकं पश्यन्"[4]—सदैव अद्वैत दृष्टि रखो। याज्ञवल्क्य और अष्टावक्र ने जनक के मन में इस तत्त्वमसि वाक्य के सार को इतना दृढ़ कर दिया था कि वे देहधारी होकर भी विदेह नाम से कहे गये।

जिस ब्रह्म, परमात्मा, निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य, परमानन्द, परमशांति को तू खोजता है, वह तू ही है—तत्-त्वम्-असि। यह सचमुच ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वाक्य एवं भाव है। परन्तु उपनिषद्, भागवत, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में इसकी

---

1. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति॥ (छां. उ., प्रपाठक 7, खंड 23)
2. श्रीमद्भागवत, स्कंध 2, अध्याय 9, श्लोक 32-35, चतुःश्लोकी भागवत।
3. देखिये बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरा तथा चौथा अध्याय।
4. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 11, अध्याय 28, श्लोक 1।

व्याख्या इतनी उलझी हुई है कि उनमें इसका सही समाधान होना ही असम्भव है।

जिस तत्त्व को मैं खोजता हूं, वह मैं ही हूं; यहां तक तो तथ्य है; परंतु जब यह कहा जाने लगता है "अहमेवेदं सर्वम्[1]—अहम् एव इदम् सर्वम्"—यह सब कुछ मैं ही हूं; यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड मैं ही हूं; तब आत्मज्ञान का अतिरेक किया जाता है, जिससे विवेकज्ञान से कोई मतलब नहीं रहता। कहा जाता है कि सर्वोच्च स्थिति में जाने के लिए आनुभविक जगत से ऊपर उठना ही होगा, परन्तु यह आनुभविक जगत से ऊपर उठना तो नहीं हुआ, प्रत्युत उसमें उलझ जाना हुआ। मनुष्य आनुभविक जगत से तो तब ऊपर उठता है जब वह सारे संकल्पों को त्यागकर समाधि में पहुंच जाता है। 'सारा विश्व-ब्रह्मांड मैं ही हूं'—यह तो मन का अयथार्थ व्यायाम है जो जिज्ञासु को भ्रम में डालने वाला तथा ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान के नाम पर जगत में उलझाने वाला है। आत्मज्ञान का सच्चा स्वरूप तो यह है कि साधक विवेक द्वारा अपने आप चेतन-तत्त्व को जड़ जगत से सर्वथा निकाल ले; परन्तु यदि वह अपने आप को सबमें मिलाकर जड़-चेतन एक समझने लगा, तो जानो वह संसार में उलझ गया।

ऊपर, नीचे, दायें, बायें, आगे, पीछे मैं ही हूं[2]—इस धारणा का साक्षी न विवेकबुद्धि है और न यह समाधि का विषय ही है। यह आत्मज्ञान की एक भावुकता है जो स्वरूपज्ञान के जिज्ञासु एवं विद्यार्थी को केवल भ्रम में डालती है।

इसीलिए सद्गुरु कबीर इसको नहीं स्वीकारते हैं। वे कहते हैं "तत्त्वमसी इनके उपदेशा"। 'इनके' शब्द ध्यान देने योग्य है। सद्गुरु कहना चाहते हैं कि यह मेरा मत नहीं है, किन्तु 'इनका—अद्वैतवादियों का' मत है। और "ई निश्चय इनके बड़भारी" कहकर उन पर करारा व्यंग्य करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनका यह "बड़ा भारी" निश्चय है कि अनंत विश्व-ब्रह्माण्ड सब मैं ही हूं। 'बड़भारी' शब्द अधिक ध्यान देने योग्य है। व्यंग्य का पूर्ण जोर इसी शब्द पर पड़ता है। इसीलिए सद्गुरु ने अन्यत्र कहा है "सनकादिक भंवरे पुष्पित वाणी की सुगंधी में भूल गये।"[3]

ब्रह्मज्ञान की सात भूमिकाएं मानी गयी हैं—सुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावना तथा तुर्यगा (तुरीय)।

---

1. छांदोग्य उ., प्रपाठक 7, खंड 25, मन्त्र 1।
2. छां. उ. 7/25/1।
3. सनकादिक भूले भँवर बोय। (बीजक, बसन्त 1/5)

सुभेच्छा—मोक्ष के इच्छापूर्वक शास्त्र और गुरु की वाणियों का पठन-मनन।

विचारणा—सदाचार में प्रवृत्ति होना।

तनुमानसा—अनासक्त रहना या निदिध्यासन।

सत्त्वापत्ति—आत्माकार वृत्ति रखना।

असंसक्ति—समाधि में आरूढ़ होना।

उपर्युक्त पांच भूमिकाएं तो बुद्धिपूर्वक हैं। छठीं 'पदार्थाभावना' में पहुंचकर कहते हैं कि उसकी गाढ़ी सुषुप्ति के समान स्थिति हो जाती है। दूसरे के प्रेरित करने पर ही उसे बाहरी भान होता है। और 'तुर्यगा (तुरीय)' में पहुंचकर तो उसे कुछ भान ही नहीं रहता। उसमें श्वास अवश्य चलता है, परन्तु उसे बारम्बार जगाने पर भी उसका जागरण नहीं होता।[1] यह निश्चित ही एक अनुभवहीन काल्पनिक आदर्श है।

सद्गुरु कबीर यथार्थवादी संत हैं। वे कहते हैं कि यदि कोई कुल-गोत्र का अहंकार त्यागकर आत्मज्ञान में रमने लगा तो ऊंचा काम है; परन्तु वह जीवित आदमी मुरदा के समान अचेत नहीं हो सकता 'जीवत मुवा न होय'।

विवेक से देखने पर जड़ अलग है और चेतन, उसका द्रष्टा अलग है। दोनों एक कदापि नहीं हो सकते। इसी प्रकार आसक्तिविहीन ज्ञानी अचेतन नहीं हो सकता। आत्मज्ञान कोई क्लोरोफार्म नहीं है कि उसे सूंघते ही आदमी अचेत हो जाता है। इन तथ्यों को देखते-समझते हुए इनको अनदेखा कर भावुकतापूर्ण काल्पनिक धारणा बनाये रखना, विवेकसंगत बात नहीं है।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—"कबीर बहुत-कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे।"[2] डॉ० द्विवेदी कबीर-अनुयायियों तथा कबीर-प्रेमियों के लिए लिखते हुए कहते हैं—"इस बात का बराबर प्रयत्न होता रहा है कि अपने इर्द-गिर्द के समाज में कोई यह न कह सके कि इनका अमुक काम सामाजिक दृष्टि से अनुचित है। अर्थात विद्रोही बनने की प्रतिज्ञा भूल गयी, सुलह और समझौते का रास्ता स्वीकार कर लिया गया।"[3]

बीजक की वाणियों का अनुवाद करते हुए ऐसा कर दिया जाता है। कहा जाता है कि कबीर साहेब का मत सनकादि तथा नारद, याज्ञवल्क्यादि से अलग हो नहीं सकता। कबीर साहेब इन महापुरुषों के विचारों की आलोचना कर ही

---

1. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग 118।
2. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 25 अगस्त, 1985 ई., पृ. 19।
3. अशोक के फूल, घर जोड़ने की माया।

नहीं सकते। निश्चित ही यह समझौता कबीर देव के प्रज्वलित सत्य पर पानी डाल देता है।

परम्परा, गुरुजन तथा शास्त्रों पर श्रद्धा रखने का अर्थ यह नहीं है कि हम सारासार का विचार ही न करें। स्वयं औपनिषदिक ऋषियों का वैदिक कर्मकांड के प्रति विद्रोही स्वर प्रसिद्ध है। कबीर साहेब यथार्थवादी हैं। वे विवेकरहित ज्ञान तथा झूठे आदर्श के विरोधी हैं।

मैं सारा विश्व-ब्रह्मांड हूं—विवेक-रहित बात है। आत्मज्ञानी अचेती में रहता है—झूठा आदर्श है। मैं सबका द्रष्टा जड़ से सर्वथा पृथक शुद्ध चेतन हूं—विवेकज्ञान है। प्रकृति-माया से अनासक्त रहना मात्र—जीवत मृतक होना है। ज्ञानी समाधिकाल में संकल्प-शून्य होता है, अचेत नहीं।

स्वयं बंधे देवताओं की उपासना से बन्धन नहीं कटेगा

रमैनी-9

बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता। यम बाँधे अँजनी के पूता॥ 1॥
यम के बाहन बाँधे जनी। बाँधे सृष्टि कहाँ लौं गनी॥ 2॥
बाँधेउ देव तैंतीस करोरी। सँबरत लौह बन्द गौ तोरी॥ 3॥
राजा सँबरे तुरिया चढ़ी। पन्थी सँबरे नाम ले बढ़ी॥ 4॥
अर्थ बिहूना सँबरे नारी। परजा सँबरे पुहुमी झारी॥ 5॥

साखी—बन्दि मनावै ते फल पावै, बन्दि दिया सो देय।
कहैं कबीर सो ऊबरै, जो निशिबासर नामहिं लेय॥ 9॥

शब्दार्थ—सूता=रस्सी, बन्धन। अंजनी=माया। जनी=पैदा हुई सृष्टि। सँबरत=स्मरण करते। राजा=ब्रह्मज्ञानी।

भावार्थ—कष्टदायी आठ-नौ रस्सियों में जीव बंधे हैं। वासना ने माया के गुलामों को बांध लिया है॥ 1॥ वासना के हाथों सभी देहधारी बंधे हैं। कहां तक गिनाऊं, सारी सृष्टि ही बंधी है॥ 2॥ संसारियों को जिनके स्मरण से कठिन बन्धन के टूट जाने का भरोसा है, वे तैंतीस करोड़ देवता स्वयं बंधे हैं॥ 3॥ ब्रह्मज्ञानी जन तुरीय अवस्था में आरूढ़ होकर अहं ब्रह्मास्मि का स्मरण करते हैं और नाना संप्रदाय के लोग अपने-अपने मान्य नाम का स्मरण करते हुए अपने साधना-पथ में बढ़ रहे हैं॥ 4॥ अपने में नारीत्व की कल्पना कर माधुर्यभक्ति करने वाले धनादि की कामना से रहित होकर केवल कल्पित पति की प्राप्ति के लिए उसका स्मरण करते हैं। इस प्रकार पृथ्वी की पूरी प्रजा किसी-न-किसी प्रकार किसी देवता की पूजा एवं स्मरण-वन्दन करती है॥ 5॥

जो बंधे हुए की वन्दना करेगा, वह फल में बन्धन ही पायेगा, क्योंकि बंधा हुआ बन्धन ही दे सकता है। सद्गुरु कहते हैं कि उपासकों की यही धारणा है कि जो रात-दिन नाम जपेगा वही संसार-सागर से पार होगा॥ 9॥

अथवा वंदि का अर्थ यदि वन्दना माना जाये तो अर्थ होगा कि जो वन्दना कर भगवान को प्रसन्न करेगा वही मुक्ति पायेगा, क्योंकि जिसने बन्धन दिया वही मुक्ति दे सकता है। तुम्हीं ने दर्द दिया, तुम्हीं दवा देना। अतः रात-दिन नाम जपने वाला ही उद्धार पायेगा (यह उपासकों का मत है)।

व्याख्या—पूरी रमैनी पर सरसरी निगाह डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि सद्गुरु यह बताना चाहते हैं कि सारे जीव बन्धनों में बंधे हैं और उनसे छूटने के लिए वे उनकी ही वन्दना कर रहे हैं जो खुद बन्धनों में बंधे हैं, या वे नाम-जपादि छिछली साधना में पड़े हैं।

कष्टदायी आठ और नौ सूतों-रस्सियों में जीव बंधे हैं। ये आठ-नौ शब्द संख्यावाचक हैं; परन्तु इन शब्दों से सद्गुरु किन बन्धनों की संख्या बताना चाहते हैं, स्पष्ट नहीं है। इसलिए इनके अर्थ में टीकाकार जो भी संख्या दें, सर्वसम्मत बन्धन के रूप होना चाहिए। आठ का अर्थ पांच तत्त्व तथा तीन गुण की अष्टधा प्रकृति भी हो सकता है, आठ सिद्धि[1] और हठयोग के आठ अंग[2] भी हो सकते हैं। इसी प्रकार और कुछ। नौ की संख्या में पांच विषय और चतुष्टय अंतःकरण लिए जा सकते हैं, नौ निद्धियां[3] तथा नौधा भक्ति[4] भी ली जा सकती है।

अष्टधा प्रकृति तथा अष्ट सिद्धि तो बन्धनरूप हैं, परन्तु हठ योग के आठ अंग भी अध्यात्म-चिन्तन से हटाकर केवल शारीरिक व्यायाम में लगाते हैं इसलिए बन्धनरूप ही हैं। हां, योगदर्शन के अष्टांग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि कल्याणप्रद हैं। पंच विषय और चतुष्टय अन्तःकरण की नौधा तथा नौ निद्धियां बन्धनप्रद हैं ही, किन्तु स्वरूपज्ञान से दूर रखनेवाली नौधा भक्ति भी बन्धनरूप ही है। भक्त लोग दिन भर भगवान (मूर्तियों) को जगाने, नहलाने, कपड़ा पहनाने, खिलाने, आरती उतारने, सुलाने आदि के बालवत खटपट में ही रत्नतुल्य समय बिता देते हैं।

यम उसे कहते हैं कि जो जीव को बन्धन दे। मन की अविद्या एवं विषय-वासनाएं ही जीव को बांधती हैं; अतः यही यम हैं। अंजनी का अर्थ है माया।

---

1. अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, दर्शित्व तथा वशित्व।
2. लय, तारक, अमनस्क, सांख्य, लंबिका, राज, कुण्डली तथा हठ
3. पद्म, महापद्म, कच्छप, नील, मकर, मुकुन्द, शंख, खर्ब और कुंद। (अमर कोष)
4. श्रवण, कीर्तन, नाम स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास भाव, सखापन तथा आत्मनिवेदन।

जो अंजनी का पूत है, माया का गुलाम है, वही यम के हाथों, वासनाओं के हाथों में बंधता है। यदि साधक सावधान न रहे तो वे नर-नारी भी बन्धनों में बांधने वाले यम हो जाते हैं जो अविद्या और वासनाओं में डूबे हैं। अविवेकी दूसरों को बन्धन ही देता है।

'जनी' का अर्थ है पैदा हुई। अर्थात पैदा हुई सारी सृष्टि के मनुष्य यम के हाथों एवं वासनाओं के पाशों में बंधे हैं।

लोग देवताओं की प्रार्थना, उपासना एवं पूजा कर अपने कठिन बंधनों से मुक्त होना चाहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि वे सब देवता स्वयं वासनाओं के बन्धन में बंधे हैं। गुलामों की सेवा कर किसने मुक्ति पायी है !

पुराणों के अनुसार तैंतीस कोटि देवता हैं[1] किन्तु वे सब वासनाओं के अधीन हैं। वाल्मीकि जी कहते हैं—"देवलोक की तो यही स्थिति है और देवताओं का यह शाश्वत मत है कि किसी अप्सरा का कोई पति नहीं होता और देवता भी एक स्त्री से बंधकर नहीं रहते।"[2] देवताओं के राजा स्वयं इन्द्र ने पुलोम नामक दानव की सुन्दरी कन्या शची का अपहरण कर उसे अपनी पत्नी बना ली और शची के संभावित पति की तथा उसके पिता पुलोम की हत्या कर दी। सभी देवताओं में श्रेष्ठ विष्णु वृन्दा के साथ छलपूर्वक यौनाचार करते हैं और जब वृन्दा जान जाती है तब उन्हें कुपित होकर शाप देती हैं। पुराणों को देखिये प्रायः सारे देवता वासना के अधीन होकर क्या-क्या कर्म करते हैं। सद्गुरु कहते हैं इनके पूजा-जप से मनुष्यों के बन्धन टूटेंगे नहीं, प्रत्युत दृढ़ होंगे।

ब्रह्मज्ञानी, जो अपने आप को ज्ञानियों में श्रेष्ठ मानते हैं, तुरीय अवस्था में आरूढ़ होकर अहं ब्रह्मास्मि का स्मरण करते हैं, परन्तु वे अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप को जड़ जगत से पृथक नहीं समझते। वे चराचर विश्व को अपना ही

---

1. शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देवता तैंतीस हैं—आठ वसु (धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अग्नि, वायु, प्रत्यूष तथा प्रभास); ग्यारह रुद्र (हर, बहुरूप, अम्बक, अपराजित, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, वृषाकपि, शंभु, शर्व और कपाली); बारह आदित्य (धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, विवस्वान, पूषा, क्रतु, अंश, भग, त्वष्टा तथा विष्णु); इन्द्र एवं प्रजापति। इनमें एक देवता के पीछे निन्यानबे लाख, निन्यानबे हजार, नौ सौ निन्यानबे की संख्या अधिक जोड़कर लोगों ने देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ कर डाली। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, देवलोक, चन्द्रमा और नक्षत्रगण—आठ वसु हैं। दस इद्रियां या दस प्राण तथा मन—ग्यारह रुद्र हैं। बारहों महीने आदित्य हैं। गरजने वाला बादल इन्द्र है। यज्ञ प्रजापति है। ये ही तैंतीस देवता हैं। (बृहदारण्यक उपनिषद् 3/9)
2. देवलोक स्थितिरियं सुराणां शाश्वती मता।
पतिरप्सरसां नास्ति न चैक स्त्रीपरिग्रहः॥ (वाल्मीकीय रामायण 7/26/39-40)

स्वरूप मानकर बन्धनों में उलझ जाते हैं। लोग अपने-अपने संप्रदाय की सीमित मान्यताओं में ही अपनी बुद्धि बांध देते हैं। मान्यताओं से ऊपर उठकर सबके मानने वाले अपने चेतन स्वरूप को न समझ पाते हैं और न उसमें स्थित हो पाते हैं।

कुछ ऐसे भी अजीबोगरीब साधक होते हैं जो अपने ऊपर एक पति की कल्पना करते हैं और स्वयं को नारी या उसकी पत्नी मानते हैं। वे 'अर्थ बिहूना' भक्ति करते हैं। अर्थात धन की इच्छा छोड़कर केवल उस कल्पित पति को पाना चाहते हैं। 'अर्थ बिहूना सँबरे नारी' का अर्थ यह भी हो सकता है कि ये पुरुष होकर भी नारी बने भक्त लोगों का सुमिरन-भजन 'अर्थ बिहूना' अर्थात निष्प्रयोजन है।

अपने आप को किसी कल्पित पति की पत्नी मानना भक्ति मार्ग में बहुत घटिया ही नहीं, दूषित चिन्तन है और रसिक मन वालों द्वारा गढ़ा गया है। 'हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया' बीजक के इस 35वें शब्द की सभी पंक्तियों पर पूर्ण ध्यान न देने से आलोचक लोग कबीर साहेब को भी रसिक भक्ति में सम्मिलित कर देते हैं, जबकि उन्होंने यह शब्द कुसंस्कार-जनित तथाकथित इस भक्ति का खण्डन करने के लिए ही कहा है। श्री मदन साहेब भी ऐसे लोगों की चुटकी लेते हुए कहते हैं—

"सुनो सखी एक बात मोरि तुम, कहां खसम ठहरायव जी॥"[1]

इस रमैनी में दो मुख्य विषयों पर प्रकाश पड़ता है—बन्धन और बंधे हुए की वंदना। अभिप्राय है इन दोनों का त्याग करना। बन्धनों से छुटकारा विवेकज्ञान तथा विषय वासनाओं के त्याग से होता है, किसी दूसरे के स्मरण और नाम-जप से नहीं।

वासनाओं का त्याग अमृतस्थिति है

रमैनी-10

राही ले पिपराही बही। करगी आवत काहु न कही॥ 1॥
आई करगी भौ अजगूता। जन्म जन्म यम पहिरे बूता॥ 2॥
बूता पहिरि यम कीन्ह समाना। तीन लोक में कीन्ह पयाना॥ 3॥
बाँधेउ ब्रह्मा विष्णु महेशू। सुर नर मुनि औ बाँधु गणेशू॥ 4॥
बाँधे पवन पावक औ नीरू। चाँद सूर्य बाँधेउ दोउ बीरू॥ 5॥
साँच मंत्र बाँधे सब झारी। अमृत वस्तु न जानै नारी॥ 6॥

1. शब्द विलास, संस्करण 1965।

साखी—अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय॥ 10॥

शब्दार्थ—राही=कर्मी जीव। करगी=माया। अजगूता=आश्चर्य। अमृत वस्तु=अमर जीव।

भावार्थ—हिलते हुए पीपल के पत्ते के समान चंचल मन, कर्मों की राह पर चलने वाले जीवों को लेकर बह गया। परन्तु यह किसी ने नहीं कहा कि यह माया का आक्रमण है॥ 1॥ आश्चर्य हुआ कि माया ने आकर जीव को ढक लिया। जन्म-जन्मान्तरों से या कहना चाहिए अनादिकाल से मन रूपी यम ने वासना का शक्तिशाली जामा पहन रखा है॥ 2॥ अविद्या का बलपूर्ण जामा पहनकर मन सब में समाया हुआ है और त्रिगुणी जीवों के अंतःकरण में उसी का निरंतर गमनागमन होता रहता है॥ 3॥ इसने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुर, नर, मुनि और गणेश को भी बांध लिया है॥ 4॥ प्राणायाम साधने वाले योगी, अग्नि पूजक कर्मकांडी, तीर्थादि जल का आचरण करने वाले उपासक, इतना ही नहीं, कर्मयोगी और कर्मसंन्यासी रूपी दो वीरों को भी मन ने बांध रखा है॥ 5॥ मनःकल्पित शब्दों के मंत्रजाल ने समस्त जीवों को बांध रखा है। नारी बने लोग अमृत वस्तु से अजानकार हैं॥ 6॥

लोग अमृत वस्तु नहीं जानते, विषय-वासनाओं में डूब रहे हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि जीव ही अमृत वस्तु है। न उसमें कामना है और न मृत्यु; अथवा कामना त्याग देने पर जीव अमृत तत्त्व को प्राप्त हो जाता है॥ 10॥

व्याख्या—राही जीव हैं, जो कर्मपथ पर अनादिकाल से भटक रहे हैं। मन पिपराही है, पीपल के पत्ते के समान तनिक-से वासना-वायु में हिलने वाला। यह चंचल मन जीवों को लेकर रात-दिन बहता रहता है। साधारणतया कौन समझता है कि मन का वासनात्मक बहाव करगी है—माया है।

आप करगी का अर्थ चाहे बाढ़ करें, चाहे कर से, हाथ से बनाये हुए बन्धन करें, चाहे और कुछ; परन्तु करगी बांधने वाले को ही कहा गया है। अतएव सारतः करगी का अर्थ माया या बन्धन ही है।

यह बात अचरज की है कि समर्थ चेतन जीव उस मन में बंधा है जिसका स्वरूप ही भासमात्र एवं कल्पनामात्र है। यह कल्पित मन जीव पर कैसे हावी हो गया, सद्गुरु इसका समाधान करते हैं "जन्म-जन्म यम पहिरे बूता" यह मन ही यम है। यह जन्म-जन्मान्तरों से विषय की खुराक पाते-पाते बलवान हो गया है। इसने बूता का, साहस का एवं बल का जामा पहन लिया है। अर्थात अनादिकाल के विषय-अभ्यासवश मन की वासनाएं बलवान हो गयी हैं।

विषय-वासना का मजबूत बख्तर पहनकर मन सब में घुसा है। मन विषय-वासनाओं के कारण बलवान है और सबके अन्दर विद्यमान है। वह रजोगुणी और तमोगुणी जीवों को तो नचाता ही है, स्वरूपज्ञान-रहित सतोगुणी जीवों को भी नचाता है। तीन लोक का अर्थ तीन गुण हैं, जिनके प्रभाव में जीवों की तीन श्रेणियां हैं। जो स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की प्राप्ति में आड़े आये, रोड़ा बने, वह सात्त्विक कर्म भी मन का बन्धन ही है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेशादि समस्त देवसंज्ञक जन की क्रियाएं भी मन के जाल से बाहर नहीं हैं, फिर ऋषि-मुनि और साधारण मनुष्यों की बातें तो कहना ही क्या !

सारे देवता मन की कल्पना की उपज हैं, परन्तु पुराणों में देवताओं का जहां व्यक्तिकरण किया गया है, वहां उनका चरित्र सर्वथा उज्ज्वल नहीं है। अधिकतम ऋषि-मुनियों की भी यही बातें हैं। अतएव सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ये सब मन के बन्धनों में बंधे हैं।

"बाँधे पवन पावक औ नीरू। चाँद सूर्य बाँधेउ दोउ बीरू।" इस चौपाई में पवन, पावक, नीर, चांद और सूर्य के नाम हैं जो सर्वथा जड़ हैं। ये अपने प्राकृतिक नियमों में बंधे हैं। इनमें न चेतना है और इसलिए न मन है। अतः इन पर वासना या मन का बन्धन बन नहीं सकता। वैसे पुराणों में पवन, अग्नि, वरुण (जल), चन्द्रमा और सूर्य नाम के व्यक्ति देवता का भी चित्रण है। सद्गुरु कहते हैं इन्हें भी मन की वासनाओं ने बांध रखा है। इनके चरित्र-चित्रण भी प्रायः उज्ज्वल नहीं है।

बीजक की अपनी विलक्षण शैली है। यहां पवन से अभिप्राय है पवन रोकने वाले, प्राणायाम साधने वाले योगी। पावक से अभिप्राय है अग्नि पूजक एवं हवन-तर्पण करने वाले कर्मकांडी। नीरू का अभिप्राय है नीर—गंगा, यमुना, नर्मदादि नदियों के जल में स्नान कर पापों से छूटने की इच्छा रखने वाले तथा तीर्थ और देवादि की पूजा करने वाले भक्त। सद्गुरु कहते हैं ये सब मन के ही आयाम में बंधे हैं। स्वरूपबोध एवं आत्मबोध में जो पहुंच जाता है, वह मन के आयाम से, मन के बन्धनों से ऊपर उठ जाता है।

"चाँद सूर्य बाँधेउ दोउ बीरू" यहां चांद और सूर्य क्या हैं? चांद शीतल है और सूर्य गरम। चांद का अर्थ कर्मयोगी तथा सूर्य का अर्थ कर्मसंन्यासी किया गया है। कर्मयोगी का अर्थ है कर्म करते हुए अनासक्त रहना और यह काफी सरल रास्ता है, इसलिए इसे चांद शब्द से व्यक्त किया गया, और कर्म-संन्यास का अर्थ है कर्म करना ही नहीं। यह कठिन पथ है, इसलिए इसे सूर्य शब्द से व्यक्त किया गया।

सद्गुरु कहते हैं कि यदि अपने अमृत स्वरूप का बोध नहीं है तो उक्त दो वीर कर्मयोगी तथा कर्मसंन्यासी भी मन के जाल में बंधे हैं।

अंततः सद्गुरु कहते हैं कि सत्य को शब्दों के जाल ने बांध रखा है। "साँच मंत्र बाँधे सब झारी।" मननात् मन्त्रः, जो मनन से, विवेक से सिद्ध हो, वह मंत्र है, परन्तु मंत्रों के नाम पर बकवास शुरू हो गयी। जिनसे विवेक तथा विश्व के शाश्वत नियमों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसे भावों को व्यक्त करने के लिए मनमाने शब्द गढ़ लिये गये और वे मंत्र के नाम पर चलाये जाने लगे। यहां मंत्र का अभिप्राय है ईश्वर-वचन, शास्त्र-वचन, आप्त-वचन तथा प्रमाण-वचन। चतुर मनुष्यों द्वारा प्रभु-वचन तथा शास्त्र-वचन के नाम पर जनता की बुद्धि का शोषण किया जाने लगा। सत्य ज्ञान तथा मानवता के बिलकुल विरोधी बातों को ईश्वर-वचन और शास्त्र-वचन कहकर मनुष्यों पर बलात थोपा जाने लगा। उन वचनों पर विचार करने वालों को नास्तिक, काफिर, नापाक आदि कहा जाने लगा। मनुष्य अपने ही बनाये वाणीजाल में उलझ गया। "आपुहि बरि आपन गर बंधा।"[1] सत्य चेतन को उसी के बनाये मंत्र ने, शब्द-जाल ने बांध लिया।

"अमृत वस्तु न जानै नारी" नारी बने हुए लोग अपने अमृतस्वरूप को नहीं समझ सकते। 'मृत' में 'अ' उपसर्ग लगाकर 'अमृत' शब्द बना है। मृत कहते हैं जड़ को। उसमें 'अ' उपसर्ग लग जाने पर उसका उलटा अर्थ हो जाता है 'चेतन'। चेतन ही अमृत है, अमर है, अपना शाश्वत स्वरूप है परन्तु जो लोग किसी कल्पित पुरुष को अपना पति मानकर अपने आप को उसकी नारी या पत्नी मानते हैं, उन्हें खाक अपने अमृतस्वरूप का बोध होगा ! वे तो स्वरूपज्ञान के विरोधी एक कुसंस्कार लेकर जीते हैं। इसलिए सद्गुरु इस रमैनी में कहते हैं—

अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय॥

जो मन की कल्पित मान्यताओं में डूबे हैं वे अपने गरिमामय अमृत-स्वरूप को नहीं समझ सकते। जो कल्पित देवताओं का पशु बना है, जिसे घुटने टेककर रोना-गिड़गिड़ाना ही भाता है, जो पत्नी बनने का घृणित स्वांग भरता है, वह अपने सर्वोच्च अमृतपद को क्या समझ सकता है ! अपनी महत्तम दशा को समझने के लिए मन-यम के बनाये सारे जालों को तोड़ना पड़ेगा। सारे देवता और पति मानव की अपनी हीनभावना से पैदा हुए मन के ही विकार हैं। इनसे ऊपर उठे बिना अपने अमृतस्वरूप में स्थित नहीं हुआ जा सकता।

---

1. बीजक, रमैनी 33

"कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय" जीव के शुद्धस्वरूप में कामना-मल नहीं है और उसका मरण नहीं होता। यह है क्रमशः व्यवहार और सिद्धान्त। जीव का मरण नहीं होता, वह अमृत है, यह अमृत का सिद्धान्त है और कामनाओं का त्याग कर देना, यह अमृत का व्यवहार है।

सिद्धान्ततः जीव का स्वरूप अमृत है; परन्तु व्यवहारतः कामनाओं, विषयवासनाओं का त्याग करना अमृत है। हमें अपने अमृतस्वरूप का ज्ञान तो है, परन्तु हम कामना-विजयी नहीं हैं, हमने वासनाओं पर विजय नहीं पायी है, तो हमें अमृतत्व का अनुभव नहीं होगा।

पहली बात है अपने पूर्ण स्वतन्त्र चेतन-स्वरूप का बोध और दूसरी बात है स्वरूप से भिन्न सारी कामनाओं का त्याग—बस यही है अमृत-तत्त्व। यही है मनुष्य का चरम एवं परम लक्ष्य।

इस रमैनी में मुख्य दो बातें उभरकर आती हैं, एक है वासनाओं की प्रबलता में त्रिगुणी जीवों के बहने का चित्रण, और दूसरा है वासनाओं से ऊपर अपने अमृत चेतन-स्वरूप की पहचान तथा स्थिति।

भ्रांति और विषय-वासनाओं की नींद तोड़ो

रमैनी—11

आँधरि गुष्टि सृष्टि भइ बौरी। तीन लोक में लागि ठगौरी॥ 1॥
ब्रह्मा ठगो नाग कहँ जाई। देवता सहित ठगो त्रिपुरारी॥ 2॥
राज ठगौरी विष्णु पर परी। चौदह भुवन केर चौधरी॥ 3॥
आदि अंत जाकी जलक न जानी। ताकी डर तुम काहेक मानी॥ 4॥
वै उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियेउ जीव को संगा॥ 5॥
नीम कीट जस नीम पियारा। विष को अमृत कहत गँवारा॥ 6॥
विष के संग कौन गुण होई। किंचित लाभ मूल गौ खोई॥ 7॥
विष अमृत गौ एकै सानी। जिन जानी तिन विष कै मानी॥ 8॥
काह भये नर शुद्ध बेशुद्धा। बिन परिचय जग बूड़न बुद्धा॥ 9॥
मति के हीन कौन गुण कहई। लालच लागी आशा रहई॥10॥

साखी—मुवा है मरि जाहुगे, मुये की बाजी ढोल।
सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहिगौ बोल॥ 11॥

शब्दार्थ—गुष्टि=गोष्ठी, सभा। जलक=ब्रह्मा। सहिदानी=पहचान।

भावार्थ—सभा अंधी है और दुनिया पगली है। सत, रज, तम तीनों गुणों के मनुष्य ठगे जा रहे हैं॥ 1॥ ब्रह्मा ठगे गये, नाग ठगे गये और देवताओं के सहित महादेव जी ठगे गये॥ 2॥ चौदह भुवनों के चौधरी विष्णु पर राज-काज

चलाने की राजनीतिक ठगौरी पड़ी॥ 3॥ जिसका आरम्भ और अंत ब्रह्मा नहीं जान सके, उसका भय तुम क्यों मानते हो!॥ 4॥ वह ऊंची अग्नि-शिखा है और तुम उसमें कूदकर जलने वाले पतिंगे हो। तुमने अपनी आत्मा को यम के घर में झोंक दिया है॥ 5॥ जैसे नीम के कीड़ों को नीम ही प्यारा लगता है, वैसे मूढ़ जीव विषयों को, जो विषतुल्य हैं, अमृत कहता है॥ 6॥ विषयों के भोगों में क्या लाभ होगा। उसमें क्षणिक इंद्रिय-सुख का भ्रम-जन्य लाभ दिखता है, किन्तु आत्मशांति रूप मूलधन खो जाता है॥ 7॥ अविवेकी आदमी विष और अमृत को एक ही में मिला देता है; किन्तु जिसको सही परख हो जाती है वह विषयों को विष के समान समझकर उन्हें त्याग देता है॥ 8॥ तथाकथित ऊंच और नीच जातियों में पैदा होने से क्या हुआ; बिना सत्यासत्य परख हुए जगत के बड़े-बड़े बुद्धिमान और विद्वान भी मोह-सागर में डूब रहे हैं॥ 9॥ विवेकहीन आदमी सद्गुणों का क्या विचार करेगा! उसे तो विषयों की लालच और आशा लगी रहती है॥ 10॥

पहले के लोग मर चुके हैं, तुम भी आज-कल में मर जाओगे। मुये चाम का ही तो ढोल बनकर बजता है। संसार तो स्वप्न में मिले हुए मित्र की तरह एक धोखा है। मनुष्य के मर जाने के बाद उसके विषय में अच्छी और बुरी चर्चा ही, कुछ दिनों के लिए उसकी पहचान रह जाती है॥ 11॥

व्याख्या—"आँधरि गुष्टि सृष्टि भइ बौरी"—गुष्टि का अर्थ है गोष्ठी, सभा, मंडली, समाज, समूह, वार्तालाप आदि। सद्गुरु कहते हैं कि अनेक जगह देखा जाता है कि धर्म के नाम पर पूरी सभा ही विवेक छोड़कर अंध-समर्थन में जुट जाती है। सद्गुरु ने जब उक्त पंक्ति कहीं है, तब से आज तक पांच सौ वर्ष बीत गये। आज विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर है। आश्चर्य होता है कि आज भी धर्म के नाम पर चलने वाले अनेक समूह, सभा और समाज गहरे अंधविश्वास में डूबे हैं। धर्मगुरु लोग ऐसी-ऐसी बातें डंके की चोट पर चलाते हैं, जिनका विवेक, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहता। छूमंतर के बल पर सारा काम कर देने का झांसा देकर समाज को जो बेवकूफ बनाया जा रहा है, वह चिंताजनक है। ईश्वर के नाम पर तो संसार को पागल बना दिया गया है। हर मजहब के अपने ईश्वर हैं, ईश्वर के अवतार, पैगम्बर तथा पुत्र हैं। हर मजहब के ईश्वर, भगवान एवं देव प्रार्थना और पूजा के घूस पाकर अपने भक्तों के पापों को माफ करते तथा स्वर्ग के टिकट देते हैं। लोग कर्मों के नियमों को झुठलाने में लगे हैं। चमत्कार, जो एक छल-कपट एवं बेईमानी है, उसी के बल पर मनुष्य भोग और मोक्ष दोनों चाहते हैं। यह संसार का पागलपन नहीं तो क्या है। इस छलावे में तमोगुणी, रजोगुणी

तथा सतोगुणी सभी मारे जा रहे हैं। अच्छे-अच्छे तथा ईमानदार साधक भी विवेक न होने से अन्धविश्वास में ठगे जा रहे हैं।

मन के भ्रम, अविद्या, मोह तथा राग में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, देवता, नाग, वरुण, यक्ष, राक्षस आदि सब ठगे गये। इनकी कथाएं महाकाव्यों तथा पुराणों में पढ़कर इसके विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

"आदि अन्त जाकी जलक न जानी। ताकी डर तुम काहेक मानी॥" इस पंक्ति में आया हुआ 'जलक' शब्द ब्रह्मा का वाचक लगता है। 'जनक' पैदा करने वाले को कहते हैं और पुराणों ने ब्रह्मा को सबका जनक कहा है। 'जनक' से ही कहीं पाठभेद होकर 'जलक' हो गया हो तो आश्चर्य नहीं है। वैसे 'क' का अर्थ भी ब्रह्मा माना जाता है। जल से ब्रह्मा की उत्पत्ति की पौराणिक कल्पना ने जलक शब्द ब्रह्मा के लिए उपयुक्त बनाया हो, तो उचित ही है। सद्गुरु कहते हैं कि जिसका आदि और अन्त ब्रह्मा नहीं जानते हैं उसका भय तुम क्यों करते हो!

ऋग्वेद-काल के भी पूर्व जब लोगों ने देखा कि वर्षा, आंधी, भूचाल, अवर्षण, अतिवर्षण, जलप्लावन, दावाग्नि, अवस्थापरिवर्तन, प्रियवियोग, मरण आदि ऐसी घटनाएं हैं जो हमारी बुद्धि और बल के बाहर हैं। इसी प्रकार चांद, सूर्य, असंख्य सितारे, विशाल ब्रह्मांड इन्हें भी नहीं समझ पाते कि ये कब, कैसे, कहां से आ गये! ऋग्वेद का ऋषि भी कह बैठा—"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः"[1] अर्थात कौन पूरा जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से आयी!

अतएव मनुष्य ने कल्पना की, कि आकाश में ऐसे देवता बैठे नीचे की ओर हमें झांक रहे हैं जो हम पर कोप और कृपा कर सकते हैं। यदि हम इन्हें खुश कर सकें तो बहुत-से उपद्रवों से बचकर सुख पा सकते हैं। फलतः मनुष्य हवन, तर्पण, बलि आदि के द्वारा उन कल्पित देवताओं की पूजा-उपासना करने लगा। जब आदमी और सभ्य हुआ तब उन सारे देवों को एकबद्ध कर एक महान देव को मान लिया और उसकी पूजा-सेवा कर उसकी नाराजगी से बचने तथा उसके आशीर्वाद को प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगा।

कबीर साहेब पवित्र कर्म, नैतिकता तथा आत्मज्ञान के बल से बलवान थे। वे तत्त्वदर्शी तथा निर्भीक पुरुष थे। अतएव वे कहते हैं कि हे मनुष्य! जिस कल्पित देव का आदि-अंत एवं वास्तविकता ब्रह्मा तक नहीं समझ सके उसका भय तुम क्यों करते हो? विश्व में एक कारण-कार्य व्यवस्था है। भौतिक जगत अपने नियमों से चल रहा है और जीव अपने अच्छे-बुरे कर्मों से सुख-दुख पाते हैं। तुम्हें दुख और सुख देने वाला कोई देव नहीं है। अपने ऊपर देव की

---

1. ऋग्वेद, मंडल 10, सूक्त 129, मंत्र 6।

कल्पना ही अज्ञान से उत्पन्न है। उठो, स्वरूपज्ञान में जागो, अपने कर्मों को सुधारो, किसी का भय मत करो !

"वै उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियेउ जीव को संगा॥" वे तुम्हारे कल्पित देव अग्नि की ऊंची शिखाएं बन गये और तुम उनमें कूद-कूदकर जलने वाले पतिंगे। तूने अपने आप को यम के घर में झोंक दिया। वासना, कल्पना, अज्ञान ही यम हैं और तू इन्हीं में पड़ा है। किसी कल्पित देव के भय की छाया में तुम्हारा आत्म-विकास नहीं हो सकता। देवों की गुलामी से छूटे बिना न स्वरूपज्ञान हो सकता है और न उसमें स्थिति।

बंधन दो प्रकार का होता है—वाणीजाल तथा खानीजाल। सद्गुरु ने बीजक भर में इनको परखाया है। इस रमैनी की उक्त पांच चौपाइयों में आपने वाणीजाल का निराकरण किया। अब आगे खानीजाल का निराकरण करते हैं।

नीम के कीड़ों को नीम ही प्रिय है, गोबरैले कीड़े गोबर तथा मल को ही प्रिय मानते हैं। विषयों में डूबे हुए जीवों की दशा यही है। उन्हें इन्द्रियों की उत्तेजना तथा मलिन विषयों का सेवन ही अमृत लगता है। परन्तु इनमें भासता हुआ सुख भ्रमजन्य एवं क्षणिक है और इसके फल में घोर आत्मपतन है। यह अनोखा जीवन मलिन विषयों के सेवन के लिए नहीं है। यह आत्मानन्द का अमृतरस पीने के लिए है। पूज्य श्री रामरहस साहेब की भाषा में आनन्द का सागर वही होता है जो विषयों की अहंता से रहित होता है 'आनंदसिंधु अहंतातीता।'

लोग विष और अमृत के भेद को नहीं समझ पाते। भूल से विषय-विष को ही अमृत माने रहते हैं। वे मनुष्य धन्य हैं, पूजनीय तथा वंदनीय हैं, जो विषयों को विषतुल्य समझकर उनका सर्वथा त्याग करते हैं। शुद्ध और अशुद्ध जाति कहलाने से क्या होता है, बिना विवेक सब विषयों की मलिनता में डूब रहे हैं। अथवा 'काह भये नर शुद्ध बेशुद्धा' शुद्ध मानव शरीर पाकर क्या हुआ, जब वह अशुद्ध विषयों में ही लीन है। बड़े-बड़े विद्वान तथा बुद्धिमान भी बिना यथार्थ परख के घिनौने कर्मों के सागर में गोते लगा रहे हैं और संसार में हास्यास्पद हो रहे हैं। यही है विवेकहीनता। ऐसे जीव विषयों के लोभ और आशा की रस्सी में बंधे हुए संसार भवाटवी में भटकते हैं।

विषयों के प्रति घृणा दिखाकर सद्गुरु चेतावनी देते हैं—हे मानव ! जाग ! देख, पहले के सभी लोग मर चुके हैं। बड़े-बड़े नामी-ग्रामी नहीं रहे। जिनकी हांक से दुनिया कांपती थी, उनका कहीं चिह्न नहीं दिखता। इसी प्रकार तू भी मरेगा। सपने में बहुत-कुछ मिला, परन्तु आंखें खुलने पर सपने का सारा राज्य गायब हो जाता है। सपने के प्रेमी से क्या लेना-देना ! संसार के सारे प्राणी-

पदार्थ सपने में मिले हुए के समान बिछुड़ जाने वाले हैं, अतः इनकी मोह-नींद से जागो !

तुम्हारे मर जाने पर समय रूपी बालुका पर तुम्हारे पद-चिह्न कुछ दिनों के लिए रह जायेंगे। अतः तुम ऐसे पद-चिह्न छोड़ो जिस पर चलकर लोग अमृतधाम स्वरूपस्थिति की तरफ पहुंच सकें। यही तुम्हारे जीवन का फल है।

लांगफेलो की महान तथा प्रसिद्ध सूक्ति याद आती है—"सभी महापुरुषों की जीवनियां हमें याद दिलाती हैं कि हम भी अपने जीवन को महान बना सकते हैं। जब हम महान बनकर संसार से जायेंगे, तब समय रूपी बालू पर अपने पदचिह्न छोड़ जायेंगे।"[1]

इस रमैनी में अन्धविश्वास और विषयों के मोह का निराकरण कर वैराग्य की प्रेरणा है।

माया से बचो

रमैनी-12

माटिक कोट पषाण को ताला। सोइक बन सोई रखवाला॥ 1॥
सो बन देखत जीव डेराना। ब्राह्मण वैष्णव एकै जाना॥ 2॥
ज्यों किसान किसानी करई। उपजे खेत बीज नहिं परई॥ 3॥
छाँड़ि देहु नर झेलिक झेला। बूड़े दोऊ गुरू औ चेला॥ 4॥
तीसर बूड़े पारथ भाई। जिन बन डाहे दवाँ लगाई॥ 5॥
भूँकि भूँकि कूकुर मरि गयऊ। काज न एक सियार से भयऊ॥ 6॥
साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देखो हो संतो, हस्ती सिंहहि खाय॥ 12॥

शब्दार्थ—झेलिक झेला=वाणी का धकापेल, प्रापंचिक वाणी। पारथ=पारधी, शिकारी। दवाँ=दावाग्नि। कूकुर=वाचिकज्ञानी। सियार=डरपोक, आचरणहीन।

भावार्थ—जड़ शरीररूपी किला में जड़बुद्धि का ही ताला लगा है। यह जंगल जीव का ही बनाया है और वही इसका रखवाला है॥ 1॥ इस अपने बनाये वन-विस्तार को देखकर इसके सम्भावित विनाश एवं बन्धनों से जीव भयभीत हो गये और उससे उद्धार पाने के लिए ब्राह्मणों और वैष्णवों के पास गये, किन्तु ब्राह्मणों और वैष्णवों को एक ही प्रकार देवी-देवादि की कल्पनाओं

---

1. Lives of greatmen all remind us. We can make our lives sublime. And departing leave behind us. Footprints on the sands of time.

में उलझे हुए समझो॥ 2॥ जैसे किसान खेती करता है और उसकी अनभिज्ञता से खेत में डंठल तो खूब पैदा हों, परन्तु उनमें दानें न लगें, इसी प्रकार गुरुओं के वाक्यजाल का विस्तार तो बहुत हो जाये, किन्तु उसमें तत्त्वबोध एवं स्वरूपज्ञान न हो, तो वाक्यजाल निरर्थक ही है॥ 3॥ अतएव हे कल्याणेच्छुक ! केवल रोचक वाक्यजाल का धकापेल छोड़ो। इसमें पड़कर तो गुरु और चेले दोनों डूब जाते हैं॥ 4॥ हे भाई ! तीसरे वे वंचक उपदेशक रूप शिकारी भी डूबते हैं जो संसार रूपी वन में अज्ञान की अग्नि लगाकर उसे भस्म कर रहे हैं॥ 5॥ वंचक गुरु श्वानवत भूंक-भूंककर मरते हैं, किन्तु डरपोक गीदड़ क्या क्रांति करेंगे !॥ 6॥

कहो भला, बिल्ली के साथ में चूहे की जान कैसे बच सकती है? अर्थात जीव माया से सम्बन्ध कर कैसे सुरक्षित रह सकता है? हे सन्तो ! एक आश्चर्य देखता हूं कि हाथी सिंह को खा रहा है, अर्थात मन-माया जीव को पतित कर रही है॥ 12॥

व्याख्या—यह शरीर मिट्टी का कोट है और इसमें पत्थर का ताला लगा है। शरीर तो जड़ है ही और जब इसमें बुद्धि भी जड़ रहती है, तब कल्याण की क्या उम्मीद की जा सकती है ! आदमी ने अपने जड़ शरीर में जड़बुद्धि का ताला लगा रखा है। जड़बुद्धि का अर्थ है बिना विवेक किये कुछ भी मान लेना। कितने लोग सोचना, विचारना, चिन्तन करना पाप समझते हैं। चोर सूरज से इसलिए नफरत करता है कि उसके उगने पर उसका प्यारा अंधकार गायब हो जायेगा और उसे चौरत्व कर्म करने की गुंजाइश नहीं रह जायेगी। कितने लोग निर्णय-वचन तथा तत्त्व-विवेकपूर्ण सत्संग एवं सद्ग्रन्थों से इसलिए दूर रहते हैं कि इनसे उनका कर्मकांड उड़ जायेगा।

जड़ता मृत्यु है एवं गतिशीलता जीवन। अंधविश्वास जड़ता है, चिंतन गतिशीलता है। सद्गुरु कहते हैं कि जड़बुद्धि का ताला मत लगाओ। सदैव विवेक एवं परख को श्रेय दो। हर जगह असत्य का त्याग तथा सत्य का ग्रहण करो।

"सोइक बन सोई रखवाला" यह शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित घर, धन, परिवार तथा मन ही मान्यताएं एक महान वन है, जो जीव का सृजा हुआ है। जीव ही इस वन का पोषक और रक्षक है। परन्तु अपने ही बनाये इस महारण्य को देखकर जीव भयभीत होता है। भय के दो कारण हैं, नाश होने की संभावना और बन्धन।

शरीर नाशवान है, धन नाशवान है, परिवार नाशवान है। जितनी भौतिक चीजें हैं, जो कुछ जीव का बनाया जाल है, वन है, सब तो नाशवान है। इनके नाश की संभावनाओं को लेकर जीव भयभीत हो जाता है। जिनकी थोड़ी शुद्ध

बुद्धि होती है वह इन्हें बन्धनों के रूप में देखता है। वह इनमें बन्ध जाने के भय से भीत होता है।

भयभीत जीव ब्राह्मणों के पास जाते हैं, वैष्णवों के पास जाते हैं कि वे कुछ कृपा कर देंगे और हमारे प्राणी-पदार्थ सुरक्षित रहेंगे या हमारे भवबन्धन कट जायेंगे। परन्तु ब्राह्मण और वैष्णव एक ही इल्लत में गिरफ्त हैं। दोनों ही थोड़ा भेद रखते हुए वही कर्मकांड, वही दैववाद, वही चमत्कार और महिमा में भूलने और भुलाने वाले हैं। सारासार की सर्वथा परख, सारे अवलम्बनों को तोड़कर स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की समझ वहां कहां है?

किसान के खेत में पौधे तो खूब उगें, डंठल बहुत हो जायें किन्तु उनमें दानें न पड़ें, तो खेत में डंठलों का बोझ होने से क्या लाभ ! इसी प्रकार शास्त्र बहुत बढ़ जायें, बड़े-बड़े महाकाव्य और पुराण बन जायें, वचनों की सर्वत्र झड़ी लग जाये; परन्तु उनमें सच्चा स्वरूपबोध न हो, तो वाक्यजाल से क्या हुआ। सद्गुरु कहते हैं कि सर्वत्र वाक्यजाल का विस्तार है, किन्तु कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों की परख नहीं है। धर्म के नाम पर साधक को परमुखापेक्षी ही बनाया जा रहा है। जीव को दैव-गोसैयां का मुहताज बनाकर अपने स्वरूपज्ञान से वंचित ही रखा गया है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं—ऐ साधक नर ! तू इस वाणीजाल के झेलिक-झेला को, धकापेल को छोड़ दे। तू वाणीजाल की धकाधुकी में क्यों पड़ता है ! मिथ्या महिमा की सारी वाणियां तुम्हें फंसने के जाल हैं। ऐसे वाणीजाल में फंसकर गुरु और चेले दोनों अज्ञान-सागर में डूबे हैं।

"तीसर बूड़े पारथ भाई" यहां पारथ का अर्थ है 'पारधी'। पारधी का अपभ्रंश 'पारथ' है।[1] पारधी का अर्थ है शिकार करने वाला, बधिक। तात्पर्य है धोखेबाज उपदेशक। पुराकाल से आजपर्यन्त ऐसे अनेक उपदेशक हुए और हैं जो जानबूझकर समाज को बेवकूफ बनाने में लगे रहे और लगे हैं। आगे भी वंचक उपदेशक होंगे। ऐसे लोग बुद्धि और प्रतिभा के सागर होते हैं और वे अपनी सारी बुद्धि एवं प्रतिभा जनता को बेवकूफ बनाने में लगाते हैं। वे अनेक जालसाजी अपनाकर वाचासिद्धि, कर्मसिद्धि आदि के झूठे तमाशे सत्यवत दिखाते हैं। वे अपनी वाचाली से लोगों को प्रभावित कर अपना स्वार्थ साधते हैं और जनता को सत्पथ से दूर रखते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि जैसे बधिक जंगल में आग लगाकर शिकार को घेर लेते हैं और उन्हें मारते हैं, वैसे ये वंचक

---

1. बृहत् हिन्दी कोश (ज्ञान मण्डल लिमिटेड वाराणसी) में 'पारथ' शब्द पद्य में प्रयुक्त होने वाला 'पारधी' वाचक माना गया है, जिसका अर्थ होता है शिकारी। "घर घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई" बीजक, शब्द 31 में भी 'पारथ' पारधी के लिए है।

उपदेशक हैं। ये संसार-वन में आग लगाने वाले और लोगों को विदग्ध करने वाले हैं।

आचरणहीन वक्ता केवल भूंक-भूंककर मरते हैं। रहनी के बिना बक-बक करना श्वानवत भूंकना ही है। अथवा कुत्ते जरा-जरा सी बातों में भूंकते हैं। भ्रमोपदेशक जरा-जरा-सी बातों में हवाई महल बनाते हैं। सार यह है कि ऐसे लोग बातें तो बहुत करते हैं, परन्तु उनमें सार बहुत कम या कुछ नहीं रहता।

'काज न एक सियार से भयऊ' गीदड़ की तरह डरपोक आदमी कौन-सी उन्नति का काम कर सकता है! डरपोक व्यक्ति न गलत बातों के प्रति विद्रोह कर सकता है और न सही रास्ते पर चलने के लिए साहस कर सकता है। ऐसा आदमी कोई भी उन्नति का काम इसलिए नहीं शुरू करता कि उसके असफल होने का भय लगा रहता है। ऐसे लोग सत्य और उन्नति-पथ के राही नहीं होते।

जैसे बिल्ली के साथ रहकर चूहे का कल्याण नहीं है, वैसे माया के साथ रहकर जीव का कल्याण नहीं है। कितने ही ज्ञानी यह समझते हैं कि भोग और योग साथ-साथ बन जायेंगे। वे राजा जनक का काल्पनिक उदाहरण देते हैं। भोगों में लगे आदमी का विवेक सो जाता है। वह योग कैसे साध सकता है! पूर्ण योग के लिए भोगों का सर्वथा त्याग करना ही पड़ेगा। कुसंग में संयम का रह पाना कठिन है। जिन प्राणी, पदार्थों, स्थान, देश, समाज आदि के संपर्क में रहने से मन में विकार आने की सम्भावना हो, उनसे दूर रहकर ही अपनी स्वरूपस्थिति बन सकती है।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं एक आश्चर्य देखता हूं कि हाथी सिंह को खा रहा है। संसार में यह देखा जाता है कि सिंह हाथी को मार खाता है, परन्तु यहां तो हाथी ही सिंह को मारकर खा रहा है। मन हाथी है, सिंह जीव है। जीव मन को अपने अधीन रख सकता है, परन्तु उलटा हो रहा है, मन ही जीव को पतित कर रहा है।

हे समर्थ जीव! तू अपनी शक्ति को पहचान। तेरे तेज-प्रकाश के सामने मन-माया रूपी अंधकार कहां टिक सकता है! तू अपने महत्त्व को नहीं समझता, इसलिए माया-मन बलवान लगते हैं। जब तू अपने महान बल को समझकर सावधान हो जायेगा तब माया मर जायेगी और मन तुम्हारे अधीन हो जायेगा।

निस्सार भोगों को त्यागो

रमैनी-13

नहिं परतीत जो यह संसारा। दर्ब की चोट कठिन कै मारा॥ 1॥
सो तो शेषो जाय लुकाई। काहू के परतीत न आई॥ 2॥

चले लोग सब मूल गमाई। यम की बाढ़ि काटि नहिं जाई॥ 3॥
आजु काज जो काल अकाजा। चले लादि दिगन्तर राजा॥ 4॥
सहज बेचारे मूल गमाई। लाभ ते हानि होय रे भाई॥ 5॥
ओछी मति चन्द्रमा गौ अथई। त्रिकुटी संगम स्वामी बसई॥ 6॥
तबही विष्णु कहा समुझाई। मैथुन अष्ट तुम जीतहु जाई॥ 7॥
तब सनकादिक तत्त्व विचारा। जैसे रंक परा धन पारा॥ 8॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥ 9॥
देखत उतपति लागु न बारा। एक मरै एक करै विचारा॥10॥
मुये गये की काहु न कही। झूँठी आश लागि जग रही॥11॥

साखी—जरत जरत ते बाँचहू, काहु न कीन्ह गोहार।
विष विषय के खायहू, राति दिवस मिलि झार॥ 13॥

शब्दार्थ—शेषो=अंत में। लुकाई=छिप जाना, नष्ट हो जाना। बाढ़ि= प्रवाह। चन्द्रमा=मन। पारा=पाया। बारा=देरी।

भावार्थ—संसारी मनुष्यों को यह समझ नहीं पड़ती कि माया की मार कठिन है॥ 1॥ यद्यपि वह अन्त में लुप्त हो जाने वाली है, तथापि किसी को ऐसा विश्वास नहीं होता॥ 2॥ मनुष्य की मौलिकता है विवेक-विचार से जीवन बिताना; परन्तु माया के मोह में पड़कर लोग इसे खो देते हैं। लोग वासना के प्रवाह को काट नहीं पाते॥ 3॥ हे मानव ! आज तू अपना कल्याण कर सकता है। यदि तू उसे कल के भरोसे पर छोड़ता है, तो अपना अकल्याण कर रहा है। संसार के बड़े-बड़े राजे-महाराजे सारी माया यहीं छोड़कर और केवल अपने कर्मों की गठरी लादकर यहां से चले गये॥ 4॥ माया की भूल-भुलैया में पड़कर बेचारे सहज ही विवेक खो बैठते हैं। हे भाई ! माया के लाभ के व्यामोह में पड़ने से आत्मकल्याण की हानि ही होगी॥ 5॥ योगी मानते हैं कि परमतत्त्व का निवास त्रिकुटी के मध्य में रहता है और उसको पाने के लिए वे योगसाधना करते हैं, परन्तु उनमें से जिनकी बुद्धि मलिन रहती है, उनका मन विषयों में लीन हो जाता है॥ 6॥ ऐसे लोगों को विष्णु जी ने या सदाचारियों ने कहा कि तुम लोग पहले जाकर अष्टमैथुनों एवं विषयासक्ति का पूर्णतया त्याग करो॥ 7॥ तब सनकादिकों ने तत्त्वविचार किया। वे इस प्रकार खुश हुए जैसे गरीब को पड़ा हुआ अपार धन मिल जाये॥ 8॥ संसार में उनकी मर्यादा तथा महिमा हुई और उन्हें बड़ा सुख लगा। इस हिसाब से मानो उनके सारे भ्रम मिट गये॥ 9॥ परन्तु विवेक से देखने पर पता चलता है कि इस तत्त्वविचार से जन्म-मरण का दुख नहीं दूर हो सकता। माया के मोह में पड़कर एक आदमी मर रहा है, और दूसरा उसी में उलझने के लिए सोच रहा है॥ 10॥ यह कोई नहीं बताता कि 'जो लोग माया-मोह की भूलभुलैया में पड़कर मर गये, वे

धोखे में चले गये।' जो लोग जीवित रहते हैं, उनको जगत-भोगों की झूठी आशा लगी रहती है॥ 11॥

जन्म-मरण के ताप में जलते-जलते यह जीव बचने की भूमिका मानव-शरीर में आता है; परन्तु कोई सद्गुरु की शरण में जाकर पुकार नहीं करता, बल्कि लोग विषस्वरूप विषयों को ही रात-दिन जमकर भोगने में लगे रहते हैं॥ 13॥

व्याख्या—दर्ब है द्रव्य, अर्थात धन-दौलत। जब किसी तरह इसका नाश होता है तब मोहग्रस्त आदमी को बड़ी चोट लगती है। इच्छित वस्तु के नाश की चोट बड़ी करारी होती है। धन की मार से आदमी रात-दिन घुलता रहता है। परन्तु संसारी आदमी को यह समझ नहीं आती कि ऐसी दुखदायी माया में हम आसक्त न हों। धन तो सदुपयोग करने की वस्तु है, मोह करने की नहीं। धन-दौलत एवं संसार के प्राणी-पदार्थों में हम चाहे जितनी ममता करें, परन्तु "सो तो शेषो जाय लुकाई" वे तो अन्त में नष्ट होंगे ही। "सारे संग्रहों का अन्त विनाश में है, सारी उन्नतियों का अन्त पतन में है, सारे संयोगों का अन्त वियोग में और जीवन का अन्त मरण में है॥"[1] इसे कौन रोक सकता है! परन्तु आदमी इस सम्भावित विनाश पर विश्वास नहीं करता। वह घर में लगी आग को नहीं देख पाता।

'मननात् मनुष्यः' मनन करने से यह प्राणी मनुष्य है। मनन का अर्थ है विचार-विवेक। अतः मनुष्य की मौलिकता उसके विवेक में है। मनुष्य जड़-चेतन, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य का विवेक कर ऐसा जीवन जीये जो उसके तथा दूसरे के लिए कल्याणकारी हो, यही मनुष्य की मौलिकता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। परन्तु माया-मोह तथा इन्द्रियों के भोगों में उलझकर मनुष्य अपने को खो देता है 'आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास' वाली कहावत चरितार्थ करता है। ऐसे लोग 'यम की बाढ़ि' कैसे काट सकते हैं! वासना यम है, बाढ़ि उसका प्रवाह है। जो विवेकहीन होकर दुनियादारी में उलझेगा, उसकी वासना का प्रवाह कहां रुक सकता है! भोगी बनकर आशा-तृष्णा से कहां छुट्टी!

'आजु काज जो काल अकाजा' यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है। भूत चाहे जितना आकर्षक रहा हो, वह मर चुका है और भविष्य का हमें कुछ पता नहीं है, वर्तमान ही हमारे हाथों में है। हमें चाहिए कि हम वर्तमान में अपना कल्याण करें।

---

1. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥ (वाल्मीकीय रामायण 7/52/11)

आज हम अपनी कल्याण-साधना कर सकते हैं, आने वाले कल के भरोसे में तो अपने को खोना है। कौन जानता है कि कल क्या होगा ! इसीलिए सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"जो कल करना है, उसे आज करो और जो आज करना है उसे अभी करो। पल में तो प्रलय हो जायेगा, फिर कब करने का अवसर आयेगा !"[1]

बड़े-बड़े राजे-महाराजे संसार से चले गये। वे क्या ले गये? पूछा गया कि पुराण क्यों लिखे गये? उत्तर दिया गया—"जिसने सूर्यवंश और चन्द्रवंश के इक्ष्वाकु, जन्हु, मांधाता, सगर और रघु के, जो सबके सब नाश को प्राप्त हो चुके हैं; ययाति, नहुष और उनके वंशजों के जो अब नाम शेष रह गये हैं और उन महा बलशाली दुर्धर्ष-विक्रम और अपरिमित वैभव वाले राजर्षियों के, जिन्हें और भी उग्रशक्ति वाले काल ने पचाकर केवल कथा मात्र बना दिया है, चरित सुने हैं, उस व्यक्ति के मन में ज्ञान का उदय होगा और वह अपनी संतान, स्त्री, गृहद्वार, भूमि और धन में ममता न करेगा।"[2]

मोहग्रस्त बने ये दीन जीव सहज ही अपनी विवेकशक्ति खो देते हैं। आत्मकल्याण और परकल्याण के लिए मानव जीवन के क्षण-क्षण दोहन करने योग्य हैं; परन्तु ऐसे रत्न समय को मनुष्य अनर्थकारी विषयस्वाद और बकवाद में गंवा देते हैं। जो संसार का ज्यादा लाभ लेना चाहेगा, उसकी हानि होनी ही है। जो संसार को समेटकर रखना चाहेगा, वह अपने आप को खो देगा। भोगों के मिथ्या आनन्द का इच्छुक चिरंतन आनन्द से वंचित रहेगा ही। विषय-विरक्त व्यक्ति "सो जन सदा अनन्दा" रह सकता है।

नाक के ऊपर तथा दोनों भौहों के बीच को त्रिकुटी कहते हैं। योगी लोग कहते हैं कि यहां ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा—तीनों नाड़ियों का संगम है। यौगिक भाषा में यही त्रिवेणी है। योगी लोग मानते हैं कि यहां परम तत्त्व का निवास है; अतः वे त्राटक-मुद्रा[3] कर यहां ध्यान लगाते हैं। अपने चेतन स्वरूप से पृथक त्रिकुटी में किसी परमतत्त्व की बात है तो केवल कल्पना ही; परन्तु उसमें एकाग्रता भी उसी की होगी, जो विषयों से विरक्त है।

ओछी मति वालों का चन्द्रमा डूब जाता है। चन्द्रमा मन का देवता माना गया है; अतः चन्द्रमा से मन अर्थ है। अभिप्राय है कि विषयों में प्रियता ओछी मति का लक्षण है और ऐसे विषयासक्तों का मन विषयों में लीन होगा ही।

---

1. काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
   पल में परलय होयगा, बहुरि करोगे कब्ब॥
2. विष्णु पुराण 4/240; हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ 161।
3. त्राटक मुद्रा का अर्थ है किसी स्थान विशेष में अपने नेत्र लगाकर एकटक देखना।

विषयलीन व्यक्ति साधनालीन नहीं हो सकता। कहा है "कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाव। भावै गुरु की भक्ति करु, भावै विषय कमाव॥"

इसीलिए विष्णु भगवान ने साधकों से कहा कि तुम पहले अष्ट मैथुनों को जीतो। "विषय स्मरण, विषय प्रशंसा, विषयोत्तेजक क्रीड़ा, विषयासक्तिपूर्वक देखना, विषयों के प्रति गुप्तवार्ता, विषयसंकल्प, विषयों के लिए निरंतर यत्न तथा स्थूल विषय क्रिया"[1] ये अष्टमैथुन हैं। जब इन सभी से साधक छूट जाता है, तब उसका मन साधना में लग सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि विष्णु जो गृहस्थ थे और जो सदैव लक्ष्मी को साथ लेकर रहते थे, वे साधकों को अष्टमैथुन जीतने के उपदेश देने के अधिकारी कहां थे? वस्तुतः अच्छी राय तो कोई किसी को भी दे सकता है। गृहस्थ भी साधु को उन्हें अपने पथ से भटकते देखकर चेतावनी दे सकते हैं।

"रजोगुण ब्रह्मा तमोगुण शंकर सतोगुणी हरि होई।"[2] उक्ति अनुसार सतोगुणी व्यक्ति ही विष्णु है। कोई भी सतोगुणी ब्रह्मचर्य की राय दे सकता है।

उक्त उपदेश को मानकर सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार आदि ऋषियों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया और तत्त्वविचार भी किया। तत्त्वविचार का अर्थ है अंतिम सत्य की समझ। सद्गुरु कहते हैं—"सनकादियों ने जो अंतिम सत्य समझा, उससे उन्हें पड़े हुए धन मिल जाने के समान बड़ा लाभ लगा। संसार में उनकी मर्यादा भी हुई। उन्हें अपनी मर्यादा में आनन्द भी आया और उनकी समझ से मानो उनके सारे भ्रम दूर हो गये। परन्तु उनका 'तत्त्वविचार' बंधनों का सर्वथा निवारण करने वाला नहीं है।" यह सब कहकर सद्गुरु कबीर एक क्रान्ति की बात करते हैं। कबीर देव कहते हैं कि सनकादिकों का तत्त्वविचार उनकी दृष्टि से भ्रमनिवारक है, परन्तु वस्तुतः भ्रमनिवारक है नहीं। मूल पंक्तियों पर ध्यान दीजिए—

तब सनकादिक तत्त्व विचारा। जैसे रंक परा धन पारा॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥

इसमें पहली चौपाई की अर्धाली "तब सनकादिक तत्त्व विचारा" है। इसके बाद आगे की डेढ़ चौपाई सनकादिकों के तत्त्वविचार पर व्यंग्य है। व्यंग्य पर पूर्ण जोर पड़ता है दूसरी चौपाई की अंतिम अर्धाली पर "यहि लेखे सब संशय भागा"—इस हिसाब से मानो इनके सब संशय भाग गये। इसका और स्पष्टीकरण होता है अगली चौपाई की पहली अर्धाली में "देखत उतपति लागु न

---

1. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥ दक्षस्मृति 7/31॥
2. बीजक, शब्द 75।

बारा" विचार से देखने पर इस तत्त्वविचार में जन्मादि चक्कर पड़ने में देरी नहीं लगती।

सनकादिकों का तत्त्वविचार क्या है जिस पर कबीरदेव व्यंग्य करते हैं और कहते हैं कि वह पूर्ण ज्ञान नहीं है तथा वह सर्वथा भ्रम से रहित नहीं है?

वस्तुतः पीछे आठवीं रमैनी में इस पर विस्तार से विचार कर आये हैं। आत्मा की चराचर व्यापकता की अवधारणा तथा जड़-चेतन की अभिन्नता की प्रकल्पना ने सनकादिकों तथा उपनिषदों के तत्त्वविचार को गड्डमड्ड कर दिया है। आत्मा व्यापक है इस शब्द का अर्थ महिमापरक है, वस्तुपरक नहीं। एक आत्मा की व्यापकता के अवरोधक अन्य आत्माएं तथा जड़-तत्त्व हैं। संसार में कोई भी परिनिष्ठित वस्तु सर्वव्यापक हो ही नहीं सकती। यदि एक परिनिष्ठित वस्तु सर्वव्यापक हो, तो न दूसरे किसी जड़-चेतन की सत्ता होगी और न प्रवहमान जगत होगा। जड़-चेतन की अभिन्नता की धारणा तो अविद्यामूलक ही है।

कबीर देव खानी और वाणी दोनों जालों को साथ-साथ परखाते चलते हैं, यह उनकी पारखी-दृष्टि की खूबी है। वे कहते हैं कि माया-मोह एवं अविद्या में पड़कर एक मर रहा है और दूसरा उसी में फंसने के लिए सोच रहा है।

इस संसार से सबको जाना है। किसी का अपना माना हुआ कुछ भी नहीं बच रहता। जो लोग मरकर चले गये, उनका आज क्या रह गया ! तो, जो लोग आज जी रहे हैं, उनकी माया की आशा क्या झूठी नहीं है !

मुक्तिदायी साधनधाम मानव-शरीर पाकर कोई सद्गुरु की शरण में जाकर पुकार नहीं करता। तात्पर्य है कि कम लोग मुमुक्षु होते हैं। लोग पतिंगे के समान विषयों में ही उलझते हैं।

इस रमैनी में माया की निस्सारता और दुखरूपता बतायी गयी है। साथ-साथ तत्त्वबोध के भ्रम पर व्यंग्यात्मक संकेत है। अंततः मुमुक्षु को निर्देश किया गया है कि वह विषयों का मोह छोड़कर सद्गुरु की शरण में लग जाये।

पुरोहितों की मानवता-विरोधी व्यवस्था की भर्त्सना

रमैनी-14

बड़ सो पापी आहि गुमानी। पाखण्ड रूप छलेउ नर जानी॥ 1॥
बावन रूप छलेउ बलि राजा। ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा॥ 2॥
ब्राह्मण ही सब कीन्हीं चोरी। ब्राह्मण ही को लागल खोरी॥ 3॥
ब्राह्मण कीन्हों वेद पुराना। कैसेहु कै मोहि मानुष जाना॥ 4॥
एक से ब्रह्मै पन्थ चलाया। एक से हंस गोपालहिं गाया॥ 5॥

एक से शम्भू पन्थ चलाया। एक से भूत प्रेत मन लाया॥ 6॥
एक से पूजा जैनि विचारा। एक से निहुरि निमाज गुजारा॥ 7॥
कोई काहू का हटा न माना। झूठा खसम कबीरन जाना॥ 8॥
तन मन भजि रहु मोरे भक्ता। सत्य कबीर सत्य है वक्ता॥ 9॥
आपुहि देव आपु है पाँती। आपुहि कुल आपू है जाती॥10॥
सर्व भूत संसार निवासी। आपुहि खसम आपु सुखवासी॥11॥
कहइत मोहिं भयल युगचारी। काके आगे कहौं पुकारी॥12॥
साखी—साँचहि कोई न माने, झूठहि के संग जाय।
झूठेहि झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय॥ 14॥

शब्दार्थ—खोरी=दोष। हंस गोपालहि गाया=कृष्ण को ब्रह्म कहा। हटा=समझाना, रोकना। खसम=स्वामी। खेहा=धूल।

भावार्थ—वह बड़ा पापी है जो अपने को जन्मजात पवित्र मानकर घमण्ड करता है। उसने पाखण्ड का रूप बनाकर साधारण मनुष्यों को छल लिया है॥ 1॥ एक ब्राह्मण ने अपना वामन रूप बनाकर धर्मात्मा राजा बलि को छल लिया। ब्राह्मणों ने किसका कल्याण किया?॥ 2॥ सारी चोरियां ब्राह्मणों ने ही की हैं, इसलिए उन्हीं के मत्थे सारे दोष भी लगे॥ 3॥ ब्राह्मणों ने इस ढंग से वेद-पुराण एवं शास्त्रों की रचना की कि किसी प्रकार भी लोग हमें अच्छा मनुष्य समझें॥ 4॥ उन्होंने अनेक पुराण तथा शास्त्र लिखे। एक से ब्रह्म अथवा ब्रह्मा का पन्थ चलाया। एक से कृष्ण के अवतार की महिमा की॥ 5॥ एक से शिव का माहात्म्य कर उनका पन्थ चलाया। एक से भूत-प्रेत का ही प्रचार किया॥ 6॥ एक से जैनियों की पूजा का विस्तार किया। एक से झुक-झुककर नमाज पढ़ने का प्रचलन किया॥ 7॥ कोई किसी का कहा नहीं माना। लोगों ने अपने झूठे स्वामित्व का प्रदर्शन किया, अथवा असत्य को ही अपना मालिक मान लिया, या जिसे अपना आराध्य माना उसकी असत्यता न समझ पड़ी॥ 8॥ मेरे सज्जनो! अपने तन, मन, वचन को पवित्र करो। कबीर सत्य का उपासक है, और सत्य का ही वक्ता॥ 9॥ सबके भीतर निवास करने वाले ये चेतन अपने आप देवता हैं और इनके पूजने के लिए वे अपने आप फूल-पत्ते हैं तथा अपने आप उत्तम कुल-जाति हैं॥ 10॥ संसार में निवास करने वाले सब जीव अपने आप अपने स्वामी हैं और अपने स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति को पाकर स्वयं आनन्दकन्द हैं॥ 11। मेरे-जैसे लोगों ने संसार को यह संदेश सभी युगों में दिये हैं। अब किसके आगे पुकारकर कहूं!॥ 12॥

सत्य को कोई नहीं मानता, सब झूठी बातों का समर्थन कर झूठे के ही साथ जाते हैं। झूठे गुरु तथा झूठे चेले मिल रहे हैं और अन्त में अज्ञानी धूल फांकते हैं॥ 14॥

व्याख्या—इस रमैनी में कबीर देव का क्रांतिकारी रूप जाज्वल्यमान होकर सामने आया है। धर्म के नाम पर लोगों को बेवकूफ बनाने वाले गुरुओं की यहां धज्जियां उड़ायी गयी हैं।

झूठे वर्ण और जाति के आधार पर किसी को ऊंच तथा किसी को नीच मानना सचमुच बहुत बड़ा पाप है। जन्मजात किसी को अछूत मानना घोर नैतिक अपराध है।

मानव मात्र का जन्म एक ढंग से होता है। लोग कर्मों से उत्तम-मध्यम हुआ करते हैं। परन्तु ब्राह्मण कहे जाने वाले वर्ग ने अपने आप को जन्म से उत्तम मान लिया और एक बहुत बड़े वर्ग को शूद्र कहकर उन्हें तिरस्कृत कर डाला। जिसने हमें मिट्टी या धातु के बरतन बनाकर दिये, जिसने हमारे कपड़े बुने तथा सिले, जिसने हमारे बाल बनाये, कपड़े धोये, घर बनाये, जिसने हमारे लिए अन्न पैदा किये, तेल पेरे, जिसने हमारी टट्टी फेंकी, उन सबको हमने शूद्र कहकर नीचा माना, यह कितना बड़ा अपराध है।

ब्राह्मणों ने वेद-शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार अपने पास रखा। क्षत्रियों को केवल पढ़ने की छूट दी, वैश्यों को और नीचे स्तर पर रखा और शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं के लिए तो भाषा पढ़ने का भी अधिकार नहीं रखा, वेद-शास्त्र पढ़ना तो उनके लिए पाप हो गया। कहा गया—"शूद्र निस्संदेह चलता-फिरता श्मशान है, इसलिए शूद्र के पास वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहिए।[1] ब्राह्मण शूद्र को वेद का ज्ञान न दे।[2] शूद्र यदि निकट आकर वेद सुन ले, तो उसके कानों में पिघला हुआ रांगा या लाख भर दे। यदि उसने वेदों का पाठ कर लिया हो तो उसकी जिह्वा काट दे और उसने यदि वेद-मन्त्रों को याद कर लिया हो, तो उसके शरीर को काट दे।[3] शूद्र वह है जो दूसरे की सेवा करे, जिसे सवर्ण जब चाहे उखाड़ फेंके और जब जितना चाहे उसका वध कर दे।"[4]

"विधाता ने गायत्री छन्द से ब्राह्मणों को बनाया, त्रिष्टुप छन्द से क्षत्रियों को तथा जगती छन्द से वैश्यों को बनाया; परन्तु उसने शूद्रों को किसी भी छन्द से

---

1. श्मशानमेतत्प्रत्यक्षं ये शूद्राः पादचारिणः।
   तस्माच्छूद्रसमीपे तु नाध्येतव्यं कदाचन॥ (वासिष्ठ. 18/13)
   पद्यु ह वा एतच्छमशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।
2. न शूद्राय मतिं दद्यात्। (मनुस्मृति 4/80) (वेदांत 1/3/38 पर शांकर भाष्य)
3. अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। गौतम धर्मसूत्र 2/12/4, शांकर भाष्य में भी, इस विषय में और भी देखें—गौतम धर्मसूत्र 16/18/19; आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/3/9/9; याज्ञवल्क्य 1/148; आदि पर्व 64/20।
4. अनस्य प्रेष्यः, कामोत्थाप्यः, यथाकामवध्यः। (ऐतरेय ब्राह्मण 35/3)

नहीं बनाया; इसलिए शूद्र यज्ञोपवीत संस्कार के लिए अयोग्य है।"[1] कैसी-कैसी षड्यन्त्र भरी बातें लिखी गयीं ! यह सर्वविदित है कि मानव का कोई वर्ग किसी छन्द से नहीं पैदा होता है, किन्तु सब माता-पिता के रज-वीर्य से एक समान पैदा होते हैं। यह जन्मजात उच्चता का पाखण्ड कितना झूठ और कितना बड़ा पाप है, विचारते ही बनता है। कहा गया है "यह शूद्र असत से पैदा हुआ है।"[2] श्री भगवत शरण उपाध्याय ने सच ही लिखा है—"मनु, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, शंख, लिखित, नारद तथा बृहस्पति—सभी ने अपने मन्त्र-पूत वाणी से शूद्रों की सुकाट्य गरदन नापी है।"[3]

शंबूक शूद्र होकर भी तप कर रहे थे, इसलिए श्रीराम ने उनकी हत्या कर दी,[4] तथा सूत शूद्र होकर भी नैमिषारण्य में कथा बांच रहे थे, इसलिए बलराम ने उनकी हत्या कर दी[5] ऐसी षड्यन्त्र भरी कल्पित कहानियां भी शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं के शोषण के लिए रची गयीं।

ब्राह्मणों द्वारा जितने धर्मशास्त्र, स्मृति, पुराण, महाकाव्य आदि रचे गये, सबमें उन्होंने अपने स्वार्थ की बातें लिखीं और अपने स्वार्थ के लिए ही अन्य वर्ग को पशु के समान जीने के लिए विवश किया। विद्या, धर्मशास्त्र, धर्मकृत्य, ऊंचे पद, संन्यास आदि का अधिकारी अपने को माना और अन्य को, ज्यादातर तथाकथित शूद्रों को इनसे सर्वथा दूर रखा। यह सब पुरोहितों के द्वारा की जाने

---

1. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। (वसिष्ठ 4/3)
2. असतो वा एव सम्भूतः यच्छूद्रः। (शतपथ ब्राह्मण)
3. खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर, पृष्ठ 103।
   यह विचारणीय विषय है कि भेदभावग्रस्त पण्डितों ने मनु, याज्ञवल्क्य आदि के नाम से अनेक विषमता भरी वाणियां लिखी हैं; परन्तु नाम बदनाम होते हैं मनु आदि के। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है कि वाल्मीकीय रामायण में कबन्ध-वध के समय श्रीराम ने शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को कुछ भी भला-बुरा नहीं कहा है। किन्तु गोस्वामी तुलसीदास जी के मन में ऐसी बातें थीं, अतः उन्होंने श्रीराम के मुख से कबन्ध के सामने कहलवा दिया—"शापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥ पूजिय विप्र सील गुण हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना॥" इसमें दोष श्री राम का नहीं है, किन्तु गोस्वामी जी का है जिन्होंने श्रीराम के कंधे पर बन्दूक रखकर पीछे से स्वयं शूद्रों पर दागी है। इसी प्रकार मनुस्मृति ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग की रचना है, परन्तु मनु नाम के महापुरुष ईसा के हजारों वर्ष पूर्व हुए हैं।
4. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड, सर्ग 73 से 76।
5. श्रीमद्भागवत 10/78।
   नोट—शंबूकहत्या तथा सूतहत्या संकुचित ब्राह्मण पुरोहितों की कल्पना मात्र है। इसमें श्रीराम तथा बलराम को घसीटकर कलुषित ब्राह्मणों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहा है। इसके लिए पढ़िये लेखक की 'कबीर पर : शुक्ल की और मेरी दृष्टि' नाम की पुस्तक।

वाली चोरियां ही हैं। ब्राह्मणों के भेदभाव की नीति ने हिन्दू-समाज को कमजोर बनाकर रख दिया है। जाति-पांति का जहर हिन्दू धर्मग्रन्थों में उसी प्रकार समाया है जैसे दूध में पानी। आज भी उसका प्रभाव हिन्दू समाज पर छाया है।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ब्राह्मण नाम का एक वर्ग है और संसार में किसी भी वर्ग के सारे लोग गलत नहीं होते हैं। ब्राह्मण वर्ग में रहे हुए पुरोहितों ने ही भेदभाव तथा छल-छद्म की नीति अपनायी है। इससे पूरा ब्राह्मण-समाज दोषी नहीं है। ब्राह्मणों में भी सदा-सर्वदा से कुछ ऐसे मानवतावादी चिन्तक होते आये हैं, जो ब्राह्मण पुरोहितों की भेदभाव-जनित व्यवस्था के घोर विरोधी तथा मानव-समानता के प्रबल पक्षधर रहे हैं। इस प्रकार ब्राह्मण-समाज में भी ब्राह्मण-व्यवस्था-विरोधी आग यत्र-तत्र सदैव सुलगती रही है, जिसके परिणाम में आचार्य बृहस्पति ने भौतिकवादी पक्ष लेकर ब्राह्मणों के कर्मकांडों की धज्जियां उड़ायी थीं। ब्राह्मण-व्यवस्था के विरोधी स्वर उपनिषद्, महाभारत, गीता आदि धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। ब्राह्मण समाज की संतान जैन, बौद्ध, सिद्ध-नाथ, कबीरपंथ तथा निर्गुणीधारा के नाना संप्रदायों में दीक्षित होकर ब्राह्मणवादी भेदभाव नीति का सदा घोर विरोध करती रही और भविष्य तो अधिक उज्ज्वल है। सद्गुरु कबीर ने तो उन्हीं ब्राह्मणों की यहां आलोचना की है जो विषमताजनित व्यवस्था के संस्थापक तथा परिपोषक रहे हैं। कबीर साहेब का उद्देश्य ब्राह्मण कहे जाने वाले वर्ग को न दुखाना है और न चिढ़ाना है। संत किसी को दुखाते नहीं। वे ब्राह्मणों को एक तथ्य सुझा रहे हैं। उन्हें सावधान कर रहे हैं। वे समझें और अपने आप को जाति और वर्णविहीन शुद्ध मानवतावादी स्तर पर लाने का प्रयत्न करें। इसी की आवश्यकता सब समय थी, आज तो अत्यावश्यक है ही।

केवल ब्राह्मण पुरोहित ही दोषी हों, ऐसी बात नहीं है, जहां कहीं भी, किसी भी परम्परा में पुरोहित होगा वह ऊंच-नीच का भेदभाव डालना शुरू ही करेगा। किसी पुराण में ब्रह्मा की महिमा की गयी, तो किसी पुराण में कृष्णगोपाल को ब्रह्म माना गया, किसी में शिव को सर्वोपरि कहा गया, तो किसी में भूत-प्रेतों की महिमा गायी गयी। जैनियों ने अपने तीर्थंकरों की महिमा कर उनकी पूजा का विधान किया, तो मुसलमानों ने अपनी पद्धति चलाकर नमाज पढ़ना आरम्भ किया। इसी तरह और अनेक गुरुओं-पुरोहितों के मार्ग निकले और वे अपने-अपने को मोक्ष तथा ईश्वर के एकाधिकारी घोषित करते रहे। कोई किसी का 'हटा' रोकना नहीं माना। "झूठा खसम कबीरन जाना" जीवों ने झूठे खसम को सही मान लिया। खसम का अर्थ है मालिक एवं स्वामी। झूठी प्रधानता को सही मान ली। या "झूठा खसम कबीर न जाना" कबीर साहेब कहते हैं कि लोग यह न समझ सके कि यह स्वामी या श्रेष्ठ बनना झूठा है। "ऊँच नीच है

मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी॥"[1] यहां मूलतः "कौन ऊंच है कौन नीच है, सब में एकी आतमा।"

कबीर साहेब कहते हैं कि मैं सत्य की उपासना करता हूं और सत्य की राय देता हूं। हे मानव ! तू जड़ देवी-देवताओं के सामने घुटने टेककर गिड़गिड़ा मत। अपने मन, वाणी, कर्मों को पवित्र कर। तू स्वयं देवों का भी देव महादेव है। तेरे सद्गुण ही तेरी पूजा के लिए फूल-पत्ते हैं। तेरे कुल-गोत्र और जाति-वर्ण सब परमदेव चेतनमय स्वयं है। संसार में रहने वाले सभी जीव अपने आप में स्वरूपतः परमदेव हैं। वे स्वयं अपने कर्ता, विधाता और परमात्मा हैं। उनके अपने ऊपर कोई अन्य देव नहीं। सब जीव स्वयं शुद्ध-बुद्ध कल्याण स्वरूप हैं। उन्हें सत्संग-विवेक द्वारा अपनी पहचान करना चाहिए और अपनी स्थिति में आना चाहिए। मानव-मानव में ब्राह्मण-शूद्र कौन है?

ब्राह्मण पुरोहितों का भारतीय समाज पर पुराकाल से वर्चस्व रहा है और उन्होंने अनेक काम अच्छे करते हुए भी अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए मिथ्या दंभ, असत्य, झूठी महिमा, घमंड आदि का आश्रय लेकर समाज को अपनी पकड़ के अन्दर रखने की कोशिश की है। उन्होंने सबके कल्याण की चाबी अपने हाथों में रखने का दावा किया। जैसे ऊपर कहा गया है कि यह दोष केवल ब्राह्मण पुरोहितों का ही नहीं है, किन्तु दुनिया के सारे सम्प्रदायों के पुरोहितों का है। इसीलिए सद्गुरु ने यहां ब्राह्मणों के साथ अनेक पौराणिकों, जैनियों, मुसलमानों के भी नाम लिये हैं। इसी प्रकार बौद्ध, ईसाई आदि सभी सम्प्रदायों के पुरोहितों को समझ लेना चाहिए। कबीरपंथ में भी कतिपय ऐसी शाखाएं हैं जो जीवों की मुक्ति की चाबी अपने हाथों में समझती हैं और वे यही मानती हैं कि हमारे नियम-संस्कार के अनुसार चलने से ही जीव की मुक्ति होगी। वे यहां तक मिथ्या दावा करती हैं कि कबीर साहेब ने स्वयं हमारी शाखा को जीवमुक्ति का एकाधिकार दिया है। कबीर साहेब जीवन भर जिसका विरोध करते रहे, उनके कतिपय अनुगामी उसी का जोरदार समर्थन करते हैं और इस ढंग से कि मानो ऐसा कबीर साहेब ने ही इन्हें आज्ञा दी है। कैसा आश्चर्य है ! कबीर साहेब ने जैसे ब्राह्मण-पुरोहितों तथा अन्य पुरोहितों को खरी-खोटी सुनायी है, यदि वे आज आ जायें, तो कबीरपंथी-पुरोहितों को भी उसी प्रकार अवश्य लताड़ेंगे।

भेदभाव उत्पन्न करने वाले पुरोहितों की धारा जैसे पुराकाल से रही है वैसे शुद्ध मानवतावादी, क्रांतिकारी, आत्मचिन्तक विवेकी सन्तों एवं विद्वानों की धारा भी पुराकाल से रही है। कपिल, कणाद, बुद्ध, महावीर अनेक नाम लिये जा सकते हैं; और उपनिषद् के ऋषि भी इसी उदार मानवतावादी तथा आत्मवादी

---

1. विप्रमतीसी।

पंक्ति में आते हैं। इनमें थोड़ी दार्शनिक व्याख्या का दोष हटा देने पर मानवतावादी तथा आत्मवादी दृष्टिकोण में सर्वथा साम्य हो जाता है।

कबीर देव कहते हैं—"कहइत मोहि भयल युग चारी" यहां 'मोहि' से कबीर का व्यक्तित्व अर्थ नहीं लेना चाहिए और न 'युग चारी' से केवल कल्पित चार युग लेना चाहिए। इस अर्धाली का अर्थ है कबीर-जैसी चिन्तनधारा की देश-काल-व्यापी प्रवहमानता। प्रायः सब समय स्वतन्त्र, मानवतावादी तथा आत्मवादी चिन्तनधारा के महापुरुष रहे हैं और उनके विचार समाज को आंदोलित करते रहे हैं।

अज्ञान-रात्रि में मनुष्य का भटकाव

रमैनी-15

वोनई बदरिया परिगौ संझा। अगुवा भूला बन खण्ड मंझा॥ 1॥
पिय अन्ते धन अन्तै रहई। चौपरि कामरि माथे गहई॥ 2॥
साखी—फुलवा भार न ले सकै, कहै सखियन सों रोय।
ज्यों ज्यों भीजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय॥ 15॥

रमैनी-16

चलत-चलत अति चरन पिराना। हारि परे तहाँ अति रे सयाना॥ 1॥
गण गन्धर्व मुनि अन्त न पाया। हरि अलोप जग धन्धे लाया॥ 2॥
गहनी बन्धन बाण न सूझा। थाकि परे तहाँ किछउ न बूझा॥ 3॥
भूलि परे जिय अधिक डेराई। रजनी अन्ध कूप होय आई॥ 4॥
माया मोह उहाँ भरपूरी। दादुर दामिनि पवन अपूरी॥ 5॥
बरसै तपै अखण्डित धारा। रैन भयावन कछु न अधारा॥ 6॥
साखी—सबै लोग जहँड़ाइया, अन्धा सबै भुलान।
कहा कोई ना माने, सब एकै माहिं समान॥ 16॥

शब्दार्थ—बाण=रास्ता, लक्ष्य। दादुर=मेढक। अपूरी=अपूर्व, प्रचंड। जहँड़ाइया=खो दिया।

रूपक—बहुत-से नर-नारी सौदा खरीदने-बेचने के लिए किसी दूर-दराज बाजार चले। कुछ दूर चलने पर उन्होंने देखा कि घनघोर बादल झुक आये हैं तथा रिमझिम बारिश शुरू हो गयी है और चारों ओर संध्या-बेला का दृश्य उपस्थित हो गया है। रास्ते में विराट जंगल है, इसलिए अंधियारी घनी हो गयी है। उस भीड़ के पथ-प्रदर्शक लोग स्वयं रास्ता भूल गये। उस भीड़ में कम्बल का व्यापार करने वाली नारियां भी हैं। उनके साथ उनके पति नहीं हैं, इसलिए वे ज्यादा भयभीत हो गयी हैं। उन्होंने कम्बल के गट्ठे सिर पर ले रखे हैं। उनमें

एक फुलवा नाम की स्त्री है। वह अधिक सुकुमारी होने से सिर पर रखे हुए कम्बलों के गट्ठे को नहीं सम्हाल पा रही है और रोकर सखियों से अपनी व्यथा कहती है 'ज्यों-ज्यों कम्बल भीगते हैं, त्यों-त्यों उनका वजन बढ़ता जाता है।'

चलते-चलते उनके पैर बहुत दुख गये हैं। बड़े-बड़े लोग भी थक गये हैं। उनमें गंधर्वगण (नचैये-गवैये) भी हैं और मुनि (मननशील-समझदार) भी हैं। वे भी जंगल का छोर नहीं पा रहे हैं। वर्षा-पानी से जंगल के पथ खो गये हैं। सब उनकी खोज में लगे हैं। सबके लिए यह गहन बन्धन हो गया। किसी को रास्ता नहीं सूझता। सब थक गये। किसी को कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि क्या करें। सब भटक गये। सब का जी डर गया। अब रात का अन्धा-कुप्पा हो गया। सब अपने घर, परिवार, सन्तान इत्यादि की याद कर माया-मोह में निमग्न हो गये। मेढक 'कर्रकों' की आवाज करते हैं, बिजली कड़कती तथा चमकती है और भयंकर हवा चलती है। अखंड धारा से बारिश हो रही है और सभी पथिक मानसिक ताप में तप रहे हैं। रात्रि भयावनी है। जंगल से निकलने का किसी को कोई आधार नहीं मिल रहा है। सभी लोगों ने अपने को बरबाद किया। सब अन्धे होकर भटक गये। कोई किसी का कहा नहीं मानता है। सब एक ही गलत रास्ते पर जा रहे हैं।

भावार्थ—मनुष्य के मन में अज्ञान और भ्रम के बादल झुक आये और अन्तःकरण में घोर अन्धकार छा गया। विविध शास्त्रों की वाणियों के जंगल में पथ-प्रदर्शक गुरु लोग स्वयं भटक गये॥ 1॥ जीव अज्ञानवश परमात्मा को अपने से अलग मानकर जीवनपर्यंत उसे खोजता रहा; और बाल, कुमार, युवा एवं वृद्ध—चार अवस्था वाले शरीर रूपी कम्बल; अथवा अज्ञान एवं विषयासक्ति से बोझिल चतुष्टय अन्तःकरण रूपी कम्बल के बोझ को ढोता रहा॥ 2॥

जब शरीर में बुढ़ापा आ घेरता है और अंग जरजर हो जाते हैं, तब फूल का भी भार लेना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य परस्पर मित्रों से रोकर कहता है कि जैसे-जैसे कम्बल भीगता है वैसे-वैसे वह भारी होता है; अर्थात जैसे-जैसे काया निर्बल होती है, वैसे-वैसे वह असमर्थ होती है॥ 15॥

परमात्मा को आत्मा से अलग मानकर उसकी खोज में लोग थक जाते हैं और बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि भी हताश होकर बैठ जाते हैं॥ 1॥ गंधर्वगण, मुनिगण आदि भी उसका भेद नहीं जान सके। उसे अपने से दूर और गायब समझकर उसकी खोज के धन्धे में पड़े हैं॥ 2॥ अपना गंतव्य अपने से अलग मानना ही कठिन बन्धन है या बन्धन ग्रहण करना है। ऐसे लोगों को अपना लक्ष्य नहीं सूझता। ईश्वर के विषय में लोग हार मानकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं॥ 3॥ नाना मतों के शास्त्रों की वाणियों में लोग भटक गये, और गुरुओं

की इस घोषणा से अत्यन्त भयभीत हो गये कि यदि शास्त्रों की वाणियों में शंका एवं विचार करोगे, तो नास्तिक हो जाओगे। इस तरह लोगों की अज्ञान-रात घनी हो गयी॥ 4॥ भ्रांति और मूढ़ता से हृदय पूर्ण हो रहा है। बरसाती मेढकों की टरटराहट के समान नाना मतवादों की बकबक हो रही है, नाना मतों के वाक्यजाल की चमक-दमक में लोग चौंधिया रहे हैं और कल्पनाओं एवं वाणियों की प्रचण्ड झंझा लोगों को झकझोर रही है॥ 5॥ इस प्रकार कल्पित वाणियों की उत्तप्त और अखण्ड धारा बरस रही है और ऐसे अज्ञान की भयावनी रात में जीव को कुछ नहीं सूझ रहा है॥ 6॥

विवेक की आंखें न होने से सभी जीव अपने स्वरूप को भूल गये हैं और अपनी महत्ता को खो चुके हैं। विवेक की बात को कोई नहीं मानता। सब 'अन्धे अन्धा ठेलिया' की तरह एक ही भ्रांति में डूब रहे हैं॥ 16॥

व्याख्या—सद्गुरु ने यहां बादल, वर्षा, बिजली, तूफान, अन्धकार, रास्ता, जंगल, बटोही आदि का बड़ा मनोहर चित्र खींचा है। जैसे बादल आने से अन्धकार छा जाता है, वैसे अज्ञान से हृदय विमोहित हो जाता है। अपने लक्ष्य को अलग खोजना ही अज्ञान है। पांचों विषय जीव से अलग हैं, अतः जीव का लक्ष्य विषय नहीं है; इसी प्रकार यदि शिव की कल्पना, जीव से अलग है, तो वह भी विषय ही है।

लोगों ने जीव को पत्नी तथा उससे पृथक परमात्मा की कल्पना कर उसे पति मान रखा है। इस भावना में बड़े-बड़े पथ-प्रदर्शक भटके हुए हैं। ऐसे लोगों को लक्ष्य रखकर कबीर देव उन पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं 'पिय अन्ते धन अन्तै रहई' पति अलग है और पत्नी अलग, फिर कैसे तृप्ति होगी! आत्मा से पृथक परमात्मा खोजना बहुत बड़ा मानसिक भ्रम है।

'चौपरि कामरि माथे गहई' चार परत का कम्बल क्या है? वस्तुतः बाल, कुमार, युवा और वृद्ध इन चार अवस्थाओं वाला शरीर ही चार परत का कम्बल है जो निरंतर क्षीण एवं अशक्त होता है। अथवा मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार का चौहरा मनोमय विषयासक्ति, मोह एवं भ्रम से जीव के लिए दुखप्रद हो जाता है। भटकते हुए जीव के लिए उसके तन और मन भारस्वरूप ही हैं।

नाना प्रकार के कल्पित कर्म-उपासनाओं के भ्रम में लोग भटकते हैं। ईश्वर को अपने से कहीं दूर सातवें आसमान पर या गायब मानते हैं। ऐसे लोग कल्याण की तरफ न चलकर गहन बन्धन में उलझ जाते हैं; क्योंकि उन्हें 'बाण' नहीं सूझता, उन्हें 'लक्ष्य' नहीं दिखाई देता।

'भूलि परे जिय अधिक डेराई' बहुत महत्त्वपूर्ण पंक्ति है। लोग अपने स्वरूप को, अपनी गरिमा एवं तत्त्व को भूल गये। फतवा और व्यवस्था देने वाले पुरोहितों एवं गुरुओं की वाणियों से मनुष्य अधिक भयभीत हो गये। इनकी स्वतन्त्र बुद्धि छिन गयी। मतवादी थोड़ी-थोड़ी बातों में अन्य को नास्तिक,

काफिर, बेदीन एवं अपवित्र कहने लगते हैं, अतएव मनुष्य शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों की वाणियों पर विचार नहीं कर पाता। उन्हें आंख मूंदकर मानने की परिपाटी ने मनुष्य को अन्धा बना दिया है। जो लोग एक दूसरे की पूंछ पकड़कर चलने वाले हैं वे स्वतन्त्र चिंतन की बात नहीं मानते। इसके परिणाम में उनका अविवेक बढ़ता जाता है।

भावुकतावश एवं धर्माचार्यों के डर से हम शुद्ध तर्क, अन्वीक्षण, चिंतन एवं विचार जितना छोड़ते जा रहे हैं, उतना विवेकहीन एवं अन्धे होते जा रहे हैं। जड़-चेतन का भेद, कार्य-कारण-व्यवस्था की परख, विश्व के शाश्वत नियमों की पहचान और स्वस्वरूप का ज्ञान न होने से लोग धर्म और भगवान के नाम पर मूढ़ बना दिये गये हैं। श्रद्धा और भक्ति का बहुत बड़ा मूल्य है; किन्तु विवेकज्ञान खोकर नहीं।

तुम स्वयं महान हो, अपने रामरूप का स्मरण करो

रमैनी-17

जस जिव आपु मिले अस कोई। बहुत धर्म सुख हृदया होई॥ 1॥
जासु बात राम की कही। प्रीति न काहू सो निरबही॥ 2॥
एकै भाव सकल जग देखी। बाहर परे सो होय विवेकी॥ 3॥
विषय मोह के फन्द छुड़ाई। तहाँ जाय जहाँ काट कसाई॥ 4॥
अहै कसाई छूरी हाथा। कैसहु आवै काटौं माथा॥ 5॥
मानुष बड़ा बड़ा होय आया। एकै पण्डित सबै पढ़ाया॥ 6॥
पढ़ना पढ़ो धरो जनि गोई। नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई॥ 7॥

साखी—सुमिरन करहू राम का, छाड़हु दुख की आस।
तर ऊपर धै चापिहैं, जस कोल्हू कोटि पिचास॥ 17॥

शब्दार्थ—गोई=छिपाना। बिगोई=नष्ट। पिचास=पचास, तात्पर्य में असंख्य।

भावार्थ—जैसा अपना जीव सिद्धांत है यदि वैसा उसे समझने वाला कोई सत्पात्र मिले; अथवा जैसा अपना परमार्थ-प्रेमी दिल है, वैसा प्रेमी जिज्ञासु मिले, तो सच्चर्चा हो और हृदय में धर्मजनित बड़ा सुख हो॥ 1॥ जिससे अविनाशी राम की बात कही जाती है, कोई उस पथ के प्रेम को नहीं निभाता है॥ 2॥ संसार के सारे लोगों को देखा जाता है कि वे अविद्या एवं माया-मोह की एक ही भावधारा में डूब रहे हैं; परन्तु जो इससे बाहर होता है, वही विवेकी है॥ 3॥ जो मुमुक्षु विषय-वासनाओं के बन्धनों को काटकर आगे बढ़ते हैं, वे वहां पहुंच जाते हैं, जहां उनके आत्मज्ञान का वध करने वाले भोले गुरु हैं॥ 4॥ ऐसे भोले गुरुओं के हाथों में तो स्वरूपज्ञान-विरोधी छूरी सदैव

विद्यमान रहती है और वे मानो यही प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कोई मेरे पास आवे तो मैं उसका सिर काट लूं, अर्थात उसके विवेक को समाप्त कर दूं॥ 5॥ संसार में बड़े-बड़े कहलाने वाले मनुष्य हुए, परन्तु उन्हें सभी पण्डितों ने प्रायः एक-सी ही बातें पढ़ाई हैं जो स्वरूपज्ञान-रहित स्थूलतम हैं॥ 6॥ पढ़ना-लिखना अच्छी बात है, अतः पढ़ो-लिखो; या अपने गुरु द्वारा बताये हुए मन्त्र-नामादि को भी जपो, परन्तु उन्हें छिपाकर मत रखो। उनकी छानबीन एवं परख करो; अन्यथा निश्चय ही धोखे में पड़कर खो जाओगे॥ 7॥

अविनाशी स्वरूप-राम का स्मरण करो, दुखदायी मनःकल्पनाओं एवं भोगों की आशा छोड़ दो। अन्यथा जैसे कोल्हू के असंख्य फेरे में पिस जाने पर वस्तुओं की जो दशा होती है, वैसे संसार के घनचक्कर में पड़कर तुम्हारी दशा होगी॥ 17॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने बीजक में आत्मतत्त्व के लिए 'जीव' शब्द का प्रयोग अधिकतम किया है। वस्तुतः जीव ही तो मूल है। यदि प्रकृति-भिन्न अविनाशी जीव का बोध हो जाये तो कर्मफल भोग एवं बन्ध-मोक्ष सहज ही समझा जा सकता है; और यह समझ जाने पर धर्म की वृद्धि होना भी सहज है।

जीव ही शिव है, आत्मा ही परमात्मा है—इस भाव को एकाएक मान तो प्रायः सब लेते हैं, परन्तु इसे समझने वाले कम हैं। यदि इसे कोई समझने वाला मिलता है, तो कहने-सुनने में आनन्द आता है; और इसके आचरण से, इसको रहनी में उतारने से परम सुख होता है। धर्म धर्मी में रहता है, जैसे गरमी आग में, शीतलता जल में। इसी प्रकार ज्ञान जीव में रहता है। ज्ञान जीव का स्वरूप ही है। धर्मी को साफ समझ लेने पर धर्म अपने आप उद्घाटित हो जाता है। जिसे अपने चेतन स्वरूप का ठीक से बोध हो जाता है, वह देवी-देवताओं एवं ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना में नहीं भटकता। उसकी दृष्टि साफ रहती है कि देवों का देव आत्मदेव है और यही ईश्वर है, यही ब्रह्म है। वह निरन्तर अपने आप में रमता है। उसी के लिए 'बहुत धर्म सुख हृदया होई' वचन चरितार्थ होता है। हृदय-निवासी आत्मदेव के बोध से ही तो हृदय सच्चे सुख से भर सकता है। 38वीं रमैनी में सद्गुरु ने कहा है 'सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय।'

जीव को ही शिव मानने वाला सच्चा धर्मी हो सकता है। जो जीव से शिव को अलग मानता है वह सच्चा धर्मी नहीं हो सकता। आप जानते हैं कि संसार के ईश्वरवादियों ने धर्म के नाम पर इंसान एवं अन्य प्राणियों की हत्याएं की हैं। परन्तु जिसने जीव ही को शिव माना उसने धर्म के नाम पर कभी रक्त नहीं बहाया। अतः सच्चा धर्म तभी उदय हो सकता है जब जीव को ही शिव माना जाये।

'जस जिव आपु...' पंक्ति का सहज अर्थ यह किया जा सकता है कि जैसा अपना दिल है, वैसा जब दूसरा मिलता है तब चर्चा में आनन्द आता है और धर्मजनित सच्चा हार्दिक सुख मिलता है। श्री रामरहस साहेब ने कहा है— 'कहंता को सुनंता मिले, तबहि वचन लागै प्रीति।'

राम और काम दो हैं। मनुष्य राम की चर्चा करते-सुनते भी उसमें नहीं रम पाता, किन्तु काम में ही बहता रहता है। राम अपना स्वरूप ही है। यह चेतन ही तो राम है, परन्तु राम से प्रेम तब तक नहीं निभ सकता जब तक काम-कीचड़ से अपने आप को दूर नहीं कर लिया जाता। 'साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी' चालीसवें शब्द की इस पंक्ति का भाव यहां भी लागू होता है। इसीलिए सद्गुरु यहां कहते हैं 'जासु बात राम की कही। प्रीति न काहू सो निरबही॥' यद्यपि राम अपना स्वरूप ही है, और यह हम सत्संग द्वारा जान भी जाते हैं, किन्तु हृदय स्वच्छ कर उस बोधभाव में समर्पित नहीं होते, तो स्वरूपस्थिति कैसे हो !

'एकै भाव सकल जग देखी' मैं देखता हूं कि संसार के सारे लोग एक ही भाव में बह रहे हैं, स्वरूपबोध को छोड़कर बाहर भटक रहे हैं। संसार के अधिकतम लोग तो निरन्तर विषयों में ही डूबे रहते हैं। जो लोग विषयों को छोड़कर ब्रह्म-विचार करते हैं वे भी ब्रह्म की कुछ ऐसी व्याख्या करते हैं जो विषयों से अलग नहीं है। जहां ऐसी मान्यता है कि सारा संसार ब्रह्म ही है, वहां द्रष्टा-दृश्य-विवेक कैसे रह सकता है ! 'जड़ विषय-दृश्य से हटकर अपने द्रष्टा चेतन-स्वरूप में स्थित होना चाहिए' यह भाव वहां कहां है ! अतएव 'बाहर परे सो होय विवेकी' जो इससे बाहर हो जायेगा, वही विवेकी है। 'बाहर परे सो होय विवेकी' बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्य है। विवेकी उसे कहना चाहिए जो विषय और निर्विषय, दृश्य और द्रष्टा, जड़ और चेतन का पृथक्करण करे। यहां 'पारख बिना बिनाश है, कर बिचार होहु भीन' (159वीं) साखी याद आती है। विचार कर विषयों से, दृश्य जड़ से पृथक होना ही तो पारख है और यही विवेकज्ञान है। यही हंसत्व है।

कुछ लोग विषय-भोगों के बन्धनों को तोड़कर उससे अलग हो जाते हैं और सच्चे ज्ञान एवं मोक्ष-प्राप्ति के लिए गुरुजनों की शरण में जाते हैं। खेद है, अधिकतम गुरु ऐसे मिलते हैं जो उन जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं के स्वतन्त्र विचार एवं स्वरूपबोध का वध कर देते हैं। वे कहते हैं 'तुम किसी अंशी के अंश हो, किसी व्यापक के व्याप्य हो, किसी पुरुष की पत्नी हो; तुम परिच्छिन्न, प्रतिबिंब, किंचिज्ञ, अल्पज्ञ एवं दीन-हीन हो।' कहते हैं 'जीव लाचार है, यह मनुष्य बेवश है। यह कर ही क्या सकता है।' यह मनुष्य की गरिमा के वध करने का प्रयास है। यह आत्मज्ञान एवं स्वरूपज्ञान की हत्या है। ऐसे गुरुजन

अपने अंजान एवं भोलेपन में पड़कर आत्मघाती एवं परघाती बने हुए हैं। गुरुओं के लिए 'कसाई' शब्द का प्रयोग बड़ा कठोर है। 'तहाँ जाय जहाँ काट कसाई' ऐसा वचन मनुष्य को तिलमिला देने वाला है। व्यवहार की मनोरमता के लिए ऐसे वचनों का प्रयोग उचित नहीं लगता। किन्तु पतनकारी जड़ता को उखाड़ने के लिए कभी-कभी कठोर वचनों का प्रयोग करना पड़ता है। गुरुओं द्वारा मनुष्यों के अवमूल्यन को लेकर कबीर देव का मन कितना पीड़ित हुआ होगा, वे कितने मर्माहत हुए होंगे, तब इस कठोर वचन का प्रयोग किये होंगे, इसका सहज ही अन्दाज लगाया जा सकता है। तलवार से किसी की हत्या कर दी जाये, तो उसका केवल शरीर मिटता है; किन्तु यदि हम किसी को बारम्बार यह कहते हैं कि "तुम नीच हो, अछूत हो, मूल रूप से ही तुच्छ हो; तुम असमर्थ, दीन-हीन, किसी देवी-देवता के गुलाम तथा मूढ़ हो; तुम्हारा कोई मूल्य नहीं है, तुम अपने आप अपना उद्धार कर ही नहीं सकते हो, तुम केवल कठपुतली हो, तुम्हें कोई दूसरा नचा रहा है; तुम पानी-पत्थरों में सिर मारो, रोओ, गिड़गिड़ाओ तब वह कृपा कर देगा तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।" तो हम उसकी वैचारिक हत्या करते हैं, और यह भाव मनुष्य को जड़ से निकम्मा बनाकर रख देता है। यदि हम बारम्बार किसी को कहते हैं कि "तुम दुर्बल हो, कुछ नहीं कर सकते।" तो हम उसकी बहुत बड़ी हत्या करते हैं। जो विचार एवं उपदेश मनुष्य को परमुखापेक्षी एवं गुलाम बनायें, वे विष के समान त्याज्य होने चाहिए।

"मानुष बड़ा बड़ा होय आया। एकै पण्डित सबै पढ़ाया।" यह पंक्ति बड़ी मर्मभेदी है। प्रतिभावानों एवं बुद्धिमानों की कमी संसार में न पहले थी न आज है। दुनिया में बड़े-बड़े मनुष्य हुए हैं; परन्तु सभी मत के पुरोहित-पंडितों ने उन सबको प्रायः एक ही बात का पाठ पढ़ाया 'तुम तुच्छ हो और तुम्हारा उद्धार किसी दूसरे देवी-देवता के हाथों में है।' इस प्रतिगामी उपदेश ने मानव-मन को पापी, कुण्ठित, हतप्रभ, गुलाम एवं दीन-हीन बना दिया है। जो उपदेश मनुष्य को अपने कदमों पर खड़ा होने की प्रेरणा न देकर उलटे परमुखापेक्षी बनावे, वह मानव समाज के लिए घातक है। गुरुओं द्वारा गलत दिशा पाकर बुद्धिमान एवं प्रतिभावान भी जड़ संस्कारों में फंसकर पंगु बन जाते हैं।

"पढ़ना पढ़ो धरो जनि गोई। नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई॥" सद्गुरु कहते हैं कि गुरुजनों, विद्वानों, पण्डितों, सब में श्रद्धा रखो। सबकी विद्याओं एवं उपदेशों का आदर से श्रवण करो और पढ़ो; परन्तु उनकी छान-बीन करो, सभी गुरुजनों की वाणियों को परख की कसौटी से कसो। उनमें जो सार एवं सत्य हो वही ग्रहण करो, शेष को छोड़ दो। यदि ऐसा नहीं करते हो, केवल परम्परा एवं श्रद्धा के जोश में आंखें मूंदकर सब कुछ मानते जाते हो, तो निश्चय ही खो

जाओगे; 'नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई।' स्वयं परख दृष्टि के अभाव में धर्म के नाम पर फैले शास्त्रों के वाणीजाल में मनुष्य अपनी गरिमा खो देता है।

हे साधक ! अपने चेतन स्वरूप का स्मरण करो। वही राम है। राम तुमसे अलग नहीं है जिसके सामने तुम्हें रोना पड़े। तुम स्वयं राम हो, 'हृदया बसे तेहि राम न जाना' यह कबीर देव का अमर संदेश है। वे कहते हैं स्वरूप-राम का स्मरण करो और दुखदायी भोगों एवं परावलंबता की आशा छोड़ दो।

संशय-पशु को मारो

रमैनी-18

अद्बुद पन्थ वरणि नहिं जाई। भूले राम भूलि दुनियाई॥ 1॥
जो चेतहु तो चेतहु रे भाई। नहिं तो जीव यम लै जाई॥ 2॥
शब्द न माने कथै ज्ञाना। ताते यम दियो है थाना॥ 3॥
संशय सावज बसे शरीरा। तिन खायो अनबेधा हीरा॥ 4॥
साखी—संशय सावज शरीर में, संगहि खेले जुआरि।
ऐसा घायल बापुरा, जीवहि मारे झारि॥ 18॥

शब्दार्थ—अद्बुद=अद्भुत, विचित्र। दुनियाई=संसार सम्बन्धी, व्यावहारिकता। यम=वासनाएं। सावज=पशु। जुआरि=जुआ।

भावार्थ—संसार में विचित्र सम्प्रदाय हैं जिनका वर्णन करना कठिन है। उनमें पड़कर लोग राम को तो भूल ही जाते हैं संसार की व्यावहारिकता को भी भूल जाते हैं॥ 1॥ हे भाई ! यदि सावधान होना हो तो सावधान हो जाओ, अन्यथा जीव को वासनाएं भटकायेंगी॥ 2॥ लोग निर्णय वचनों को नहीं मानते, केवल परम्परा-पोषित बातों को ही ज्ञान मानकर उनका व्याख्यान करते रहते हैं, इसीलिए उनके मन में वासनाएं स्थान बनाकर जम गयी हैं॥ 3॥ संशय रूपी पशु मनुष्य के हृदय में बसता है, उसने अखण्ड हीरा रूपी जीव को पथभ्रष्ट कर दिया है॥ 4॥

संशय-पशु शरीर में रहता है और जीव के साथ में जुआ खेलता है। जीव बेचारा अनेक चोटों से यों ही आहत है, संशय-पशु उसे और जलाकर मार रहा है॥ 18॥

व्याख्या—'अद्बुद' शब्द अद्भुत का अपभ्रंश है। अद्भुत कहते हैं विचित्र एवं विस्मयकारक को, जिसको देख-सुनकर आश्चर्य होता है। सद्गुरु कहते हैं कि संसार में ऐसे-ऐसे पंथ एवं संप्रदाय हैं जिन्हें देख-सुनकर आश्चर्य होता है। ऐसे संप्रदायों एवं पंथों की बातों में आकर लोग राम को अर्थात अपने आत्म स्वरूप को भूल जाते हैं। निजस्वरूप के शोधन की बात ही उनमें नहीं

होती, किन्तु मन-मस्तिष्क आदि के भास-अध्यास एवं अनुमान-कल्पना को ही वे परम तत्त्व मान बैठते हैं। परम तत्त्व तो राम है और वह व्यक्ति का निजस्वरूप चेतन है। उसे जानबूझकर उसमें स्थित होना ही जीवन का लक्ष्य है।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग केवल राम को ही नहीं भूल जाते हैं, किन्तु दुनियाई-दुनियवी एवं संसार की व्यावहारिकता को भी भूल जाते हैं। "भूले राम भूलि दुनियाई।" दुनियाई एवं संसार की व्यावहारिकता को भूल जाना क्या है? प्रत्यक्ष है कि सांप्रदायिकता का जहर जब मनुष्य पर चढ़ जाता है, तब वह भाईचारे का व्यवहार भी भूल जाता है। सांसारिक व्यवहार का मूल तत्त्व यही है कि हम अन्य लोगों से अपने लिए अच्छा व्यवहार चाहते हैं, तो यह समझ सकते हैं कि हमारा व्यवहार भी दूसरे के लिए अच्छा होना चाहिए। सांप्रदायिकता का सारा झगड़ा है मर जाने के बाद की स्थिति को लेकर, जो परोक्ष है। और जीवन-काल के जिस स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति, मानवता, सदाचार एवं भाईचारे के व्यवहार की बात प्रत्यक्ष है उसकी अवहेलना की जाती है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि विचित्र-विचित्र सम्प्रदायों में फंसकर लोग अपने स्वरूप-राम को तो भूल ही जाते हैं, सांसारिक व्यवहार जो परस्पर का भाईचारा एवं सदाचार है उसे भी भूल जाते हैं।

"भूले राम भूलि दुनियाई" को दूसरे अर्थ में हम ऐसा भी समझ सकते हैं कि विचित्र सम्प्रदायों में संसार के साधारण लोग तो भूल ही गये, राम भी भूल गये हैं। राम के लिए तथा दुनियाई के लिए 'भूले' शब्द का प्रयोग अलग-अलग है, इसलिए दोनों के भूलने की बात है। इस स्थिति में राम का अर्थ दशरथ-सुत महाराज श्री राम से जोड़ा जा सकता है। ऐसी स्थिति में निम्न प्रकार से विचार रखा जा सकता है।

जड़ और चेतन को कभी अलग-अलग मानना और कभी दोनों को एक ही मानना यह अद्वैत ब्रह्मवाद ही अद्भुत पंथ है। योगवासिष्ठ में लिखा गया है "ब्रह्म ही जगत है और जगत ही ब्रह्म है।"[1] यहां जड़-चेतन का कोई निर्णय नहीं है। सांख्य और योग के ख्याल से तथा मानव के सहज विवेक से भी जड़-चेतन की अभिन्न-दृष्टि ही अविद्या है और इसी को अद्वैतब्रह्मवाद में ज्ञान मान लेना एक विस्मयकारक अवधारणा है। योगवासिष्ठ जो बत्तीस हजार श्लोकों का ब्रह्मवादी ग्रन्थ है, इसी मत का प्रतिपादन करता है। यह वसिष्ठ और राम के संवाद के रूप में रचा गया है। इसमें वसिष्ठ ने राम को उपदेश दिया है। इस ग्रन्थ के अनुसार श्री राम ने जड़-चेतन-अभिन्न अद्वैत ब्रह्मवाद स्वीकार

---

1. योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, सर्ग 46।

लिया है। यह सब लक्ष्य रखकर यदि सद्गुरु ने कहा हो कि इसमें संसार के लोग तो भूले ही, श्री राम भी भूल गये, तो प्रासंगिक है। क्योंकि ब्रह्मवाद की आलोचना करते हुए ग्रन्थकार पीछे आठवीं रमैनी में कह आये हैं 'वोहि बात राम वसिष्ठ मिलि गाई।'

यह भी सच है कि योगवासिष्ठ के लेखक ने श्री राम को बलात घसीटकर अद्वैतब्रह्मवादी बनाया है, क्योंकि रामकथा के प्राचीनतम महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण में इसकी गंध भी नहीं है। वाल्मीकि के अनुसार श्री राम की सोलह वर्ष की उम्र में शादी होती है और योगवासिष्ठ के अनुसार इसी उम्र में उनको वैराग्य होता है, जो काल्पनिक है। रामकथा एक प्रिय काव्य हुआ है। इसलिए विभिन्न लेखकों ने उसे अपने मतानुसार घुमाकर ढाला है। मूल वाल्मीकीय रामायण को देखते हुए कहना पड़ता है कि चाहे योगवासिष्ठ के लेखक हों, चाहे अध्यात्म-रामायण के लेखक और चाहे रामचरित मानस के लेखक गोस्वामी तुलसीदास जी हों, सभी ने मूल रामकथा के साथ घोर मनमानी की है और उसे इच्छानुसार घसीटा है और जिसका जितना मन कहा है मूल रामकथा से हटकर नये-नये प्रसंग जोड़े हैं। कबीर साहेब यहां योगवासिष्ठ के अनुसार ही आलोचना करते हैं। किन्तु योगवासिष्ठ के जड़-चेतन अभिन्नवाद का दोष श्री राम पर नहीं मढ़ा जा सकता। यह योगवासिष्ठकार का अपना दोष है। योगवासिष्ठ का रचना-काल ईसा की आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच है।[1]

योगवासिष्ठ में प्रथम के वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरण बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रन्थ प्रशंसनीय है, किन्तु इसमें जड़-चेतन की अभिन्नता ही अंतिम सिद्धांत है एवं व्यवहार में योग-भोग मिला दिये गये हैं जो कल्याण के लिए घातक हैं।

'जो चेतहु तो चेतहु रे भाई। नहिं तो जीव यम लै जाई॥' यहां आये हुए 'यम' का अर्थ 'वासना' है। यदि मनुष्य विषय-भोगरूप खानीजाल से तथा सांप्रदायिक भ्रांतिरूप वाणीजाल से सावधान होकर उनसे अपने आप को मुक्त नहीं किया तो उसे वासनाएं संसार में भटकाती रहेंगी। अपने चेतन स्वरूप से हटकर जहां तक दृश्य की वासनाएं हैं 'यम' है।

---

1. एम. विंटरनित्स तथा एस. एन. दास गुप्त योगवासिष्ठ को आठवीं शताब्दी ई. का मानते हैं, लेकिन डॉ. वी. राघवन के अनुसार उसकी रचना 1100 ई. और 1250 ई. के बीच में हुई थी। दे. क्रमशः हि. ई. लि. भाग 3, पृष्ठ 443 और हि. इं. फिलॉसफी भाग 2, पृ. 230। तथा दे. जर्नल ऑव ओरियेंटल रिसर्च, भाग 13, पृ. 100-128। शिवप्रसाद भट्टाचार्य इसे अभिनन्द (10वीं श. ई.) की रचना मानते हैं। दे. इं. हि. क्वा. भाग 24, पृ. 201-12। (फादर कामिल बुल्के की रामकथा पृ. 165 से उद्धृत)।

"शब्द न माने कथै ज्ञाना" अर्थात लोग निर्णय शब्द नहीं मानते, परंपरा-प्राप्त अवधारणाओं को ही ज्ञान मानते हैं और उसी की कथा करते हैं, उसी पर बल देते हैं। लोग तर्कयुक्त निर्णय सुनना नहीं चाहते। लोग उन्हीं बातों को सुनना चाहते हैं, जिन्हें वे परम्परा से सुनते आये हैं। ऐसी स्थिति में सत्यज्ञान का होना असम्भव है।

'सावज' अथवा 'साउज' उस पशु को कहते हैं जिसका शिकार किया जाये। 'संशय' सावज है, शिकार है। उसे सब ज्ञानी मारना चाहते हैं, परन्तु वह सावज ही शिकारी को मारता है। संशय अनबेधा हीरा को वेध रहा है। अनबेधा हीरा अविनाशी अखण्ड जीव है। जीव से ही उत्पन्न संशय जीव को खा रहा है। लोक में शिकारी शिकार को मारता है, परन्तु यहां शिकार ही शिकारी को मार रहा है। यह कबीर साहेब की उलटवांसी है; परन्तु अर्थ सीधा है। उनकी सारी उलटवांसियों का अर्थ सीधा होता है। संशय रूपी सावज पशु एवं शिकार को सब ज्ञानी रूपी शिकारी मारना चाहते हैं, किन्तु होता यह है कि ज्ञानी संशयों से स्वयं घिरे रहते हैं। ज्ञानी संशय-पशु के शिकार हो रहे हैं।

हर मनुष्य के हृदय में संशय-पशु निवास करता है और जीव से जुआ खेलता है। आध्यात्मिक संशय और व्यावहारिक संशय से हर मनुष्य हर समय पीड़ित रहता है। मैं कौन हूं, संसार क्या है, कोई ईश्वर है कि नहीं, मेरे कल्याण का रास्ता क्या है, मरने के बाद क्या होगा इत्यादि आध्यात्मिक संशय है।

पत्नी, बच्चे, माता, पिता, भाई-बन्धु, सम्बन्धी, पड़ोसी, मित्र—सबके प्रति मनुष्य के मन में संशय, संदेह, आशंका, भ्रम बने रहते हैं कि वे हमारे लिए क्या ख्याल रखते हैं, वे हमें धोखा तो नहीं दे रहे हैं इत्यादि, यह व्यावहारिक संशय है।

मनुष्य जब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचानता, अपने चरित्र को पवित्र नहीं करता; आत्मज्ञानी, आत्मविश्वासी और आत्मजित नहीं होता, तब तक संशयों का शिकार होता है। जिस दिन व्यक्ति अपने स्वरूप को पहचान कर आत्मविश्वासपूर्वक मानवीय चरित्र की ऊंचाई पर पहुंच जाता है, उसके सारे सन्देह समाप्त हो जाते हैं। दूसरे पर सन्देह, संशय, भ्रम आदि का मूल अपने स्वरूप का अज्ञान तथा नैतिकता की कमी ही है।

भ्रांति छोड़ो, राम में रमो

रमैनी-19

अनहद अनुभव की करि आशा। ई विपरीत देखहु तमाशा॥ 1॥
इहै तमाशा देखहु रे भाई। जहँवाँ शून्य तहाँ चलि जाई॥ 2॥

शून्यहि बंछे शून्यहि गयऊ। हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ॥ 3॥
संशय सावज सकल संसारा। काल अहेरी साँझ सकारा॥ 4॥
साखी—सुमिरन करहू राम का, काल गहे हैं केश।
ना जानों कब मारि हैं, क्या घर क्या परदेश॥ 19॥

शब्दार्थ—अनहद=अनाहतनाद। बंछे=वांछा, अभिलाषा।

भावार्थ—लोग अनाहतनाद के अनुभव से कल्याण की आशा करते हैं, यह उलटा तमाशा तो देखो॥ 1॥ हे भाई ! यह इनका तमाशा देखो कि ये शून्य में जा रहे हैं॥ 2॥ ये शून्य की अभिलाषा रखने वाले शून्य ही में जाते हैं। और हाथ में आये हुए कल्याणदायी अवसर को खोकर धोखा खा रहे हैं॥ 3॥ संशय-पशु शिकारी-काल बनकर रात-दिन संसार के सारे लोगों को मार रहा है अथवा संशय-पशु संसार के सारे लोगों के मन को पीड़ित कर रहा है और मृत्यु-शिकारी देहधारियों की देहों को छीनने के लिए रात-दिन उनके पीछे लगा है॥ 4॥

हे मानव ! तू अपने अन्तरात्मा-राम का स्मरण कर, तेरी चोटी को काल ने पकड़ रखा है। घर में हो या परदेश में, पता नहीं वह कब तुम्हें मार गिराये॥ 19॥

व्याख्या—'अनहद' का शुद्ध शब्द 'अनाहत' है। 'आहत' कहते हैं 'चोट खाये हुए को'। 'अन' उपसर्ग है, जो शब्द का अर्थ उलट देता है। अन-आहत=अनाहत=जो बिना चोट का हो। यहां 'अनाहत' से अर्थ है 'अनाहतनाद'। अभिप्राय है वह शब्द जो बिना चोट के पैदा होता है।

हठयोगी लोग कान आदि छिद्रों को बन्दकर खोपड़ी में होती हुई आवाज को सुनते हैं। वे उसका नाम 'अनाहतनाद' रखते हैं। वे उसे ब्रह्मध्वनि मानते हैं, अतः उसके सुनने से मोक्ष मानते हैं। वे अनाहतनाद का अनुभव करते हैं। 'अनु' कहते हैं 'पीछे' को, 'भव' कहते हैं 'पैदा होने' को; अतएव 'अनुभव' का अर्थ है प्रयोग के पीछे पैदा हुआ ज्ञान। कान आदि छिद्रों को बन्द करने पर खोपड़ी में होती हुई नसों की झनकारें उसी प्रकार सुनाई पड़ती हैं जिस प्रकार तार के खंभों के पास खड़े होने पर तार में दौड़ती विद्युत से निकलती हुई ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस ध्वनि में योगी लोग शंख, घंटा, मृदंग, झांझ, करताल, बांसुरी आदि की ध्वनियों की कल्पना कर इसी में मस्त रहते हैं और इसे वे 'अनहद अनुभव' कहकर और इसी में लीन होकर कल्याण की आशा करते हैं।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यह हठयोगियों की उलटी बुद्धि का तमाशा है। बिना आघात के शब्द-ध्वनि आदि का पैदा होना ही असंभव है। विश्व में कहीं भी स्वन, शब्द एवं ध्वनि के पैदा होने का कारण है चोट एवं आघात। शरीर के

नसों में किसी प्रकार की क्रियाशीलता, गति आदि से ही उनमें झनकारें उठती हैं। गति का कारण स्वाभाविक धक्का एवं चोट है तभी आवाज होती है। इसलिए योगी लोग जिसे अनाहतनाद कहते हैं, वह वस्तुतः आहतनाद है और जड़ ध्वनि है। उसको कुछ समय के लिए आलंबन मानकर उसमें मन रोका जा सकता है। अर्थात उसे मन रोकने का साधन बनाया जा सकता है; परन्तु वह साधक का लक्ष्य एवं प्राप्तव्य नहीं हो सकता। शब्द से शब्द का श्रोता बड़ा होता है। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है "मैं तोहि पूछौं पण्डिता, शब्द बड़ा की जीव !"[1] वस्तुतः शब्द से उसका श्रोता जीव बड़ा है।

अनेक मतों द्वारा अनाहतनाद, सबद, सारशब्द आदि कहकर जिसे व्यक्त करने की चेष्टा की जाती है, वह श्राव्य एवं जड़ ध्वनि है। इससे ऊपर उठकर अपने स्वरूप में स्थित होना साधक का परम लक्ष्य है।

नाद-श्रवण को ही परम लक्ष्य मानकर उलझे हुए साधक लक्ष्य-शून्य हो जाते हैं। अथवा कुछ साधक शून्य को ही अपना लक्ष्य मानकर शून्य में ही लीन होने का उपक्रम करते हैं। यह सब स्वस्वरूप के अज्ञान का फल है और अपने सुनहले अवसर को खोकर धोखा खाना है।

वस्तुतः अन्तरात्मा की आवाज को ही अनाहतनाद कहा जा सकता है। मनुष्य का मन जितना स्वच्छ एवं शांत होता है, अन्तरात्मा की आवाज उतनी ही साफ सुनाई देती है। अन्तरात्मा की आवाज का अर्थ है अन्दर में उठता हुआ ज्ञान। यदि मनुष्य इसको ठीक से सुने और तदनुकूल आचरण करे, तो महान हो जाये। परन्तु कुछ साधक खोपड़ी की नसों की झनकारों को अनाहतनाद नाम देकर उसको अपना लक्ष्य मान बैठते हैं, जो एक भ्रम है। इसीलिए सद्गुरु ने यहां उसका खण्डन किया है।

'अनहद' का अर्थ हद-रहित व्यापक भी होता है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग 'अनहद अनुभव की करि आशा" अर्थात अपनी आत्मा की व्यापकता के अनुभव की आशा करते हैं जो कभी पूरी होने वाली नहीं। यह किसी को अनुभव नहीं होता कि मैं सर्वत्र परिपूर्ण व्याप्त हूं। सद्गुरु कहते हैं कि "ई विपरीत देखहु तमाशा" यह उलटा तमाशा है। आत्मा व्यापक है यह महिमापरक कथन है। इसका अर्थ है आत्मा सर्वोच्च तत्त्व है। कबीर साहेब ऐसी बातें नहीं मानते जो अनुभव की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। आत्मा सभी काल में विद्यमान रहती है यह तो ठीक है, क्योंकि नित्य वस्तु अक्षुण्ण

---

1. साखी 22।

रहती है; किन्तु एक परिनिष्ठित आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, यह न अनुभव का विषय है और न व्यावहारिक। ऐसी अवधारणा करना अपनी आत्मा को शून्य में भटकाना है। मैं साक्षी शुद्ध चेतन हूं, यह आनुभविक स्थिति ही तथ्यपूर्ण है।

सद्गुरु हठयोग और नाद-श्रवण आदि दृश्य-भासों तथा व्यापकवाद के भ्रम से साधक को हटाकर उसे सहज राम का स्मरण बताते हैं। उनका राम अपना शुद्ध चेतन स्वरूप है। वे साधकों को सावधान करते हैं कि तुम भ्रम में मत रहो। जीवन का कुछ ठिकाना नहीं। घर में, वन में, देश में, विदेश में, कहीं भी काल आ सकता है। तुम्हारी चोटी काल ने पकड़ रखी है। तुम सारा प्रमाद छोड़कर अपने अविनाशी चेतन स्वरूप राम का स्मरण करो।

मन के विकारों से हटकर अविनाशी राम में रमो

रमैनी-20

अब कहु राम नाम अविनाशी। हरि छोड़ि जियरा कतहुँ न जासी॥ 1॥
जहाँ जाहु तहाँ होहु पतंगा। अब जनि जरहु समुझि विष संगा॥ 2॥
रामनाम लौलायसु लीन्हा। भृंगी-कीट समुझि मन दीन्हा॥ 3॥
भौ अस गरुवा दुख के भारी। करु जिय जतन जो देखु विचारी॥ 4॥
मन की बात है लहरि विकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥ 5॥

साखी—इच्छा करि भवसागर, जामें बोहित राम अधार।
कहैं कबीर हरि शरण गहु, गौ खुर बछ बिस्तार॥ 20॥

शब्दार्थ—गरुवा=कठिन। बोहित=जहाज। बछ=बछड़ा।

भावार्थ—अब अविनाशी राम का नाम कहो। हे जीव! हरि को छोड़कर कहीं अन्यत्र मत जाओ॥ 1॥ अन्यत्र जहां जाओगे वहां तुम्हारी दशा अग्नि में कूदकर मरने वाले पतिंगे की भांति होगी। अतः हे जीव! तथ्य को समझो और विषयों के साथ पड़कर जलो मत॥ 2॥ लोककहावत के अनुसार जैसे भृंगीकीट दूसरे कीड़ों को अपने शब्द सुनाकर उन्हें अपने समान बना लेता है, वैसे साधक रामनामवाची आत्मतत्त्व का चिन्तन करते-करते अपने मन को राममय बना लेते हैं। उनका मन सदैव आत्माराम चेतन स्वरूप में ही लवलीन रहता है॥ 3॥ संसार की आसक्ति ऐसा कठिन एवं भारी दुख है जिससे बचना विवेकवान का काम है। हे जीव! इसे विचारकर समझो और इससे छूटने के लिए यत्न करो॥ 4॥ मन की बातें तो विकारी तरंगें हैं, उनमें पड़कर जीव को वारपार नहीं सूझता॥ 5॥

जीव इच्छा करके ही संसार-सागर में पड़ता है। अथवा इच्छा करना ही संसार-सागर है। इससे बचने के लिए परमाधार है स्वरूप-राम का विचार रूपी

जहाज। कबीर देव कहते हैं कि समस्त अज्ञान को हरने वाले सद्गुरु रूपी हरि की शरण पकड़ो, फिर संसार-सागर का पार करना गो-बच्छ की खुर-चाप को लांघ जाने के समान सरल हो जायेगा॥ 20॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर द्वारा प्रतिपादित राम हाथ, पैर, मुख, माथा वाला व्यक्ति विशेष नहीं है जो किसी एक संप्रदाय द्वारा भावुकतापूर्वक मान लिया गया हो। उनका राम अविनाशी चेतन है, जो सबके हृदय में निवास करता है।

सद्गुरु कबीर बीजक में यत्र-तत्र 'अब कहु राम नाम' या 'राम नाम भजु' आदि जनभाषा में कह देते हैं। इसका अर्थ राम-नाम रटना मात्र न समझ लेना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट कहा है—रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस।[1] या—राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा।[2] वे अविनाशी जीव को राम मानते हैं और उस पर विचार करने की राय देते हैं। आत्मचिन्तन एवं स्वरूपचिन्तन ही राम-भजन है।

'हरि छोड़ि जियरा कतहुँ न जासी' वस्तुतः हरि क्या है? जो हमारे दोषों, विकारों एवं अज्ञान को हरणकर दूर कर दे, वही हरि है। ऐसे हरि सद्गुरु और सन्त को छोड़कर कोई नहीं है। हम किसी लोकविशेष में या अदृश्य विभु एवं व्यापक रूप में हरि की केवल कल्पना करते हैं, प्रत्यक्ष या अपरोक्ष बोध नहीं। काल्पनिक आदर्श से काल्पनिक क्षणिक सन्तोष भले हो जाये, सकारात्मक बोध एवं कार्य नहीं हो सकता। नाना मतों द्वारा सर्वज्ञ-सर्वत्र-सर्वशक्तिमान हर्ता-कर्ता का काल्पनिक आदर्श बहुत दिनों से रखा जा रहा है, और उसी के नाम पर सदैव से हत्या, दुराचार एवं सांप्रदायिक क्रूरता का बरताव भी किया जा रहा है; परन्तु उसके द्वारा इसका कोई समाधान कभी नहीं किया जाता। इसलिए काल्पनिक आकाशीय उड़ान छोड़कर हमें व्यवहार की धरती पर उतरना चाहिए। अज्ञान और विषयासक्ति से पूर्ण निवृत्त सद्गुरु-सन्त ही हमारे उद्धार के लिए प्रेरक हो सकते हैं। वे ही हरि हैं। उन्हीं की शरण से कल्याण है।

अंततः हरि अपना चेतन-स्वरूप एवं आत्मदेव है। अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप के स्मरण एवं स्थिति में ही सारे विकारों का अन्त है। अतएव साधकों के लिए सद्गुरु, सन्त एवं स्वरूपविचार छोड़कर कहीं अन्यत्र कल्याण का स्थान नहीं है। इनसे हटकर अलग जाने का अर्थ है पतिंगे के समान विषय-वासनाओं की आग में जलना।

लोककहावत है कि भृंगी-कीट दूसरे कीड़ों को अपने शब्द सुनाकर उन्हें अपना रूप बना लेता है। बिहारी कवि लिखते हैं—"डरियतु भृंगी कीट लौं मत

---

1. बीजक, रमैनी-साखी 33।
2. बीजक, शब्द 40।

वहई ह्वै जात।" परन्तु यह सर्वथा काल्पनिक है। वस्तुतः भृंगी, जिसे बिलनी भी कहते हैं, दूसरे छोटे-छोटे कीड़ों को पकड़कर खाने के लिए बिल में लाती है। आवाज करते रहना उसका स्वभाव है। उसके बिल से उसके बच्चे निकलते देखकर लोग भ्रमवश मान लेते हैं कि वे पकड़े गये कीड़े ही भृंगी बन गये हैं। यहां तो उदाहरण से केवल सार यह लेना है कि साधक अपने मन को राम की, निजस्वरूप चेतन की भावना देकर उसे राममय, चेतनमय बना लेते हैं। अर्थात सच्चे साधक के मन में केवल निजस्वरूप चेतन की स्थिति रहती है।

'भव' का अपभ्रंश 'भौ' है जिसका अर्थ है जन्म, होना, संसार, संसृति आदि। सद्गुरु कहते हैं कि भव का भारी दुख है। भव एवं संसार का मुख्य दुख है 'राग'। जहां का सब कुछ छूटने वाला है, वहां राग करना केवल दुखों को निमंत्रित करना है। इसलिए गुरुदेव कहते हैं 'करु जिय जतन जो देखु विचारी' विचारकर देखो और दुखों से छूटने का यत्न करो, साधना करो। यदि मनुष्य इस क्षणभंगुर जीवन में दुखों से रहित रहना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह यत्नपूर्वक सबके मोह का अन्त करे। आदमी यत्नपूर्वक विद्या पढ़ता है, धन कमाता है, परिवार वृद्धि करता है, सम्मान पाने का कार्यक्रम करता है; परन्तु वह राग से छूटने का प्रयास नहीं करता। इसलिए संसार की सारी चीजों से सम्पन्न होने पर भी दुखों में डूबा रहता है। वैराग्य और अनासक्ति ही दुख-रोग को दूर करने की परम औषध है।

राग होने से ही द्वेष होता है और राग-द्वेष में आबद्ध मनुष्य का मन विकारों से भरा होता है। मन की विकारी-लहरों में आत्म-दर्शन होना असंभव है। "मन की बात है लहरि विकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥" मन की विकारी-लहरों का शांत हो जाना ही भव की शांति एवं संसार से पार हो जाना है।

"इच्छा करि भवसागर, जामें बोहित राम अधार" सांसारिक इच्छाएं भवसागर हैं और राम का आधार लेना ही बोहित है। बोहित कहते हैं जहाज को। राम अपना चेतन स्वरूप है। अपने आप से पृथक कोई ऐसा राम नहीं है जिसका आधार पकड़ा जा सके। स्व-स्वरूपानुसंधान ही राम का आधार पकड़ना है। प्रथम गुरु-सन्त ही हरि है और अंततः अपना आत्मस्वरूप हरि है। साधक को गुरु की शरण में, संतों की शरण में जाना चाहिए और अंततः उसे अपनी ही शरण में जाना है। जो साधक वैराग्यवान सद्गुरु-सन्तों की शरण में रहकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसके लिए संसार-सागर को पार करना गौ के बछड़े की खुर-चाप को लांघ जाने के समान सरल है। बाहर सत्संग का पवित्र वातावरण और भीतर वैराग्य एवं बोध का चिंतन साधकों के कल्याण का सरलतम मार्ग है।

राम के ज्ञान से ही दुखों से छुटकारा है

रमैनी-21

बहुत दुःख दुख दुख की खानी। तब बचिहो जब रामहि जानी॥ 1॥
रामहि जानि युक्ति जो चलई। युक्तिहु ते फन्दा नहिं परई॥ 2॥
युक्तिहि युक्ति चला संसारा। निश्चय कहा न मानु हमारा॥ 3॥
कनक कामिनी घोर पटोरा। सम्पति बहुत रहै दिन थोरा॥ 4॥
थोरी सम्पति गौ बौराई। धर्मराय की खबरि न पाई॥ 5॥
देखि त्रास मुख गौ कुम्हिलाई। अमृत धोखे गौ विष खाई॥ 6॥
साखी—मैं सिरजौं मैं मारौं, मैं जारौं मैं खाँव।
जल थल महियाँ रमि रहौं, मोर निरंजन नाँव॥ 21॥

शब्दार्थ—घोरा=घोड़ा। पटोरा=रेशमी वस्त्र। धर्मराय=मृत्यु। खबरि= सन्देश।

भावार्थ—विषयासक्ति एवं अज्ञान अत्यन्त दुखों का उत्पत्ति-स्थान है। इनसे तभी बचोगे, जब राम को जानोगे॥ 1॥ जो व्यक्ति सद्गुरु-सत्संग में राम को ठीक से जानकर युक्तिपूर्वक चलता है, वह विषयासक्ति के बन्धनों में नहीं पड़ता॥ 2॥ वैसे संसार के सभी लोग अपनी-अपनी समझ से युक्तिपूर्वक ही चलते हैं; परन्तु वे गुरु के परिनिष्ठित विचार नहीं मानते॥ 3॥ कनक, कामिनी, घोड़ा आदि वाहन; रेशमी वस्त्र आदि सम्पत्ति चाहे जितने बटोर लें, किन्तु संसार में रहना तो बहुत थोड़े दिन है॥ 4॥ लोग छूटने वाली थोड़ी सम्पत्ति पाकर उसके मद में उन्मत्त हो जाते हैं और मौत का सन्देश नहीं समझ पाते॥ 5॥ अन्ततः मौत का दुख देखकर देहाभिमानी मनुष्य का मुख सूख जाता है। सच है, मनुष्य अमृत के भ्रम में विष खाता है॥ 6॥

धर्मराय कहता है—मैं ही बनाता हूं, मैं ही मारता हूं, मैं ही जलाता हूं और मैं ही खा जाता हूं। मैं जल-स्थल सर्वत्र रम रहा हूं। मेरा नाम निरंजन है॥ 21॥

व्याख्या—ग्रन्थकार विषयासक्ति एवं बेसमझी को दुखों की खानि बताते हैं। खानि कहते हैं किसी चीज के उत्पत्तिस्थान को। विषयासक्ति में केवल दुख ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिए वे तीन बार दुख का नाम लेते हैं—"बहुत दुःख दुख दुख की खानी।" किसी बात पर जोर डालने के लिए उसे तीन बार कहा जाता है। असन्तोष सबसे बड़ा दुख है और इसका मूल विषयासक्ति है। विषयासक्ति के वशीभूत होकर ही जीव जन्म-मरण के चक्कर में घूमता है और संसार के सारे दुखों को सहता है। गरीब से धनी, अविद्वान से विद्वान, प्रजा से राजा तक जन्म, बुढ़ापा, रोग, प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोग, अभाव, असन्तोष

एवं मृत्यु के दुख से पीड़ित हैं। इसीलिए गीताकार ने कहा है 'दुःखालयं अशाश्वतम्' अर्थात संसार दुख का घर और क्षणभंगुर है। शास्त्र तो तथ्य की छाया हैं। सब जीव स्वयं रात-दिन अभाव एवं दुखों का अनुभव करते हैं। जवानी और विषयों के संयोग के प्रमाद में अविवेकी आदमी इठलाता है; किन्तु कुछ दिनों में उसे भी दीन होकर दुख भोगना पड़ता है। किसी ने सच कहा है—"अरे मन, अब तो समझ धार अभी बाकी है, पार अभी बाकी है, जीत की हार अभी बाकी है।" अन्ततः सारे दुखों का कारण है अज्ञान एवं नासमझी। क्योंकि मन का दुख सबसे बड़ा दुख है और इसका कारण अज्ञान है।

सद्गुरु कहते हैं "तब बचिहो जब रामहि जानी।" दुखों से बचने का रास्ता है राम को जानना। मनुष्य का अपना असली एवं सारस्वरूप शुद्ध चेतन है। वही राम है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि मैं शरीर नहीं हूं, चेतन हूं, अविनाशी राम हूं, तब उसकी दृष्टि बदल जाती है। उसे विषयासक्ति से घृणा हो जाती है। तब वह पर-विषयों से हटकर स्व-राम में रमता है। विषय क्षणभंगुर हैं, राम अविनाशी है। विषय जड़ तथा पराये हैं और राम चेतन तथा अपना स्वरूप है। जो अविनाशी स्वरूप-राम में रमता है, उसकी दृष्टि में विषय-भोग तुच्छ होते हैं। इसलिए उसको विषयों से वैराग्य होता है। उसके हृदय में किसी प्राणी-पदार्थ के लिए लोभ और मोह नहीं होते। इसलिए उसे कभी अभाव और असन्तोष की खटक नहीं होती। वह सदैव अपने अमृतधाम स्वरूप-राम में ही निमग्न रहता है। देहाभिमान छोड़ देने से उसे बुढ़ापा तथा रोग का भी भय नहीं होता। बुढ़ापा तथा रोग आने पर वह सदैव सम रहता है। वह समझता है कि जिस पर बुढ़ापा तथा रोग व्याप्त हो रहा है वह शरीर मैं नहीं हूं। मैं शुद्ध चेतन हूं। न मेरा क्षय है, न मेरी मृत्यु। मैं तो अविनाशी सदैव कल्याण रूप हूं। वह समझता है कि पचास-सौ वर्षों की अवधि से सीमित शारीरिक जीवन मेरा असली जीवन नहीं है। मेरा असली जीवन तो अनादि-अनन्त है। श्री पूरण साहेब के वचनों में वह अपने को समझता है 'तू अविनाशी सुख में कहिए'। इस प्रकार राम को जानने पर ही दुखों का अन्त हो सकता है।

"रामहि जानि युक्ति जो चलई। युक्तिहु ते फन्दा नहिं परई॥" सद्गुरु कबीर यहां केवल राम को जानने की बात नहीं करते हैं, किन्तु राम को जानकर युक्तिपूर्वक चलने को कहते हैं। 'युक्ति' के अनेक अर्थ हैं—मिलन, तर्क, उचित, विचार, हेतु, नीति, चातुर्य, अनुमान, उपाय, योजना, चाल, रीति तथा एक अलंकार जिसमें अपना भेद छिपाने के लिए किसी क्रिया या उपाय द्वारा दूसरे को धोखा दिया जाये। इस अलंकार के सन्दर्भ में कहा गया है 'युक्ति प्रायः छलात्मिका' अर्थात युक्ति प्रायः छलपूर्ण होती है। परन्तु इस रमैनी के सन्दर्भ को देखते हुए युक्ति के अर्थ तर्क, विचार, उचित और उपाय ही लगते

हैं। यहां विषयों से हटकर राम को जानने की बात है। इसमें तर्क तो चाहिए ही। कबीर का राम कोई व्यक्ति विशेष नहीं, किन्तु सबका आत्मस्वरूप है, यह तर्कयुक्त बात है। विषय जड़स्वरूप एवं पर हैं और राम चेतनस्वरूप एवं स्व है, यह विचार है। उचित का अर्थ है ठीक-ठीक, सन्तुलन एवं अपनी दशा में रहना। राम को जानने का मतलब है स्वरूप को जानना और युक्ति से चलने का अर्थ है स्वरूपस्थिति की दशा में रहकर चलना।

'युक्ति' का अर्थ है 'उपाय' जो बहुप्रचलित है। कठिन काम भी युक्ति एवं उपाय से करने पर सहज हो जाता है और बिना युक्ति के सरल काम भी कठिन हो जाता है। यह युक्ति और उपाय का ही फल है जो हजारों तथा लाखों मन का वजन लेकर ट्रेन, हवाई जहाज, जल जहाज एवं बसें दौड़ती रहती हैं। बे-तरीके चार किलो वजन लेकर चलना भी कठिन हो जाता है। युक्ति से बात करने पर बिगड़ा काम बन जाता है और बिना युक्ति से बात करने पर बना काम बिगड़ जाता है। हाथ तथा छूरी में तेल लगाकर कटहल की सब्जी बनाने से उसका लासा हाथ तथा छूरी में नहीं लगता और बिना उपाय के, यों ही कटहल की सब्जी बनायी जाये तो हाथ और छूरी, दोनों लसफस हो जायेंगे। कांटों के झुंड में फंसे हुए अपने वस्त्रों को युक्तिपूर्वक ही छुड़ाया जा सकता है। जोर से जल्दीबाजी में खींचने से वस्त्र फट जायेंगे। अनादिकाल से जीव विषयों में फंसा है। अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी कोई हठपूर्वक बन्धनों से नहीं छूट सकता। युक्तिपूर्वक, उपाय से चलने पर ही जीव बन्धनों को तोड़ सकता है। युक्ति से मोटे-मोटे पेड़ भी काटकर गिरा दिये जाते हैं और बिना युक्ति के हठपूर्वक एक छोटा पौधा उखाड़ने में कठिन हो जाता है। अतएव राम को, स्वरूप को जान लेने पर युक्तिपूर्वक चलकर जीव अपने को बन्धनों से जीवन भर बचाये रख सकता है। 'युक्तिहु ते फंदा नहिं परई' वचन बहुत वजनदार है।

"युक्तिहि युक्ति चला संसारा। निश्चय कहा न मानु हमारा॥" संसार के सभी लोगों को यह अहंकार है कि हम तर्क, विचार, उपाय एवं संयम से ही चल रहे हैं। अर्थात हम युक्तिपूर्वक एवं ठीक ही चल रहे हैं। परन्तु यदि लोग ठीक ही चल रहे हैं, तो उनके जीवन में दुख क्यों है? यदि आदमी को सच्चा ज्ञान हो जाये और उसी ज्ञान के मुताबिक जीवन में आचरण करे, तो वह दुखी नहीं हो सकता। मनुष्य की समझ और आचरण गलत होते हुए भी वह उनके प्रति अच्छा होने का अहंकार करता है। वह गुरुजनों की बातों पर ध्यान नहीं देता। 'निश्चय कहा न मानु हमारा' का अर्थ है मनुष्य गुरु के सच्चे उपदेशों पर ध्यान नहीं देता।

जिनके लोभ और मोह में पड़कर मनुष्य गुरुजनों की सच्ची बातों पर ध्यान नहीं देता, वे धन, ऐश्वर्य, परिवार, मान-प्रतिष्ठा बहुत-थोड़े दिन रहने वाले हैं।

संपत्ति और समाज तो हम चाहे जितने जुटा लें किन्तु इनके साथ हमें बहुत ही कम समय रहना है। फिर इनका प्रमाद कैसा ! थोड़ा ऐश्वर्य, सम्मान एवं जन-समाज पाकर आदमी अहंकार के नशा में पागल हो जाता है। उसे मौत की याद नहीं रहती, जो एक ही क्षण में सबसे वियोग करा देगी। उसे मौत की खबर नहीं। बाल पकना, दांत टूटना, आंखों की रोशनी घट जाना और चश्मा लगाने के लिए विवश होना, चाम में सिकन आना आदि मौत की अनेक सूचनाएं हैं। लेकिन विमोहित मानव उन्हें पढ़ नहीं पाता। मौत की खबर एवं संदेश का उसे भान नहीं। इस भूतल पर बड़े-बड़े राजे-महाराजे होकर चले गये। आज उनका नाम-निशान भी नहीं है। सद्गुरु कबीर साखीग्रन्थ में कहते हैं—

कबीर यह संसार है, जैसा सेमर फूल।
दिन दस के ब्यौहार में, झूठे रंग न भूल॥
कबीर धूलि सकेलि के, पुड़ि जो बाँधी येह।
दिवस चार का पेखना, अंत खेह की खेह॥
कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरा लाल।
दिवस चार का पेखना, बिनसि जायगा काल॥
सपने सोया मानवा, खोलि जो देखै नैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन॥
मरोगे मरि जाहुगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाइ बसाहुगे, छोड़ि बसंता गाम॥
कबीर जो दिन आज है, सो दिन नाहीं काल।
चेत सकै तो चेति ले, मीच परी है ख्याल॥

जिसने पहले से ही देहाभिमान एवं मायाभिमान नहीं छोड़ा है, ऐसे मोहासक्त जीव के सामने जब मृत्यु का समय आता है, वह भयभीत हो जाता है। वह देखता है कि मेरा सारा अपना माना हुआ छूट रहा है। जमीन, मकान, रुपये, परिवार, समाज, सम्मान जिन्हें वह अपना मान रखा था उनके छूटने की बात सोचकर मुख सूख जाता है। तब उसे लगता है कि मैंने स्वप्न की संपत्ति के लिए घोर पाप कर डाले हैं। आज सूझ पड़ती है कि मैंने अमृत के धोखे में विष खा लिया। परन्तु "अब पछिताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गयी खेत।" आदमी जीवन भर अमृत के धोखे में विष खाता है। विष पांच विषय हैं, अमृत जीव है, जिसे इस रमैनी में राम कहा गया है। व्यक्ति विषयों में डूबा रहता है जो दुखों के कारण बनते हैं। वही समझदार है, जो विषयासक्ति छोड़कर अपने चेतनस्वरूप अमृत में स्थित हो।

इस रमैनी के अन्त की साखी में कहा गया है "मेरा नाम निरंजन है। मैं ही जन्माता, मारता, जलाता और खाता हूं। मैं जल-स्थल सर्वत्र रमता हूं।" यह

निरंजन कौन बला है? निरंजन का शाब्दिक अर्थ है मायातीत एवं निर्दोष। निरंजन ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस रमैनी तथा अगली रमैनी में प्रयुक्त होने वाला 'निरंजन' शब्द दो अर्थों वाला है। एक अर्थ है काल और दूसरा अर्थ उस उलटी हुई ब्रह्म-धारणा के लिए है जिसमें सारी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय माना गया है। ब्रह्मवादी अपने को सारे संसार का मूल-कारण ब्रह्म मानकर कहते हैं "मैं सबका सृजन करता हूं, मैं सबका संहार करता हूं और मैं सबको जलाकर खा जाता हूं। मैं जल-स्थल सर्वत्र रम रहा हूं। मेरा नाम निरंजन है, गुणातीत ब्रह्म है।" निश्चित है, यह धारणा एक सनक है।

मोह-मन्दिर में मत घुसो

रमैनी-22

अलख निरंजन लखै न कोई। जेहि बन्धे बन्धा सब लोई॥ 1॥
जेहि झूठे सब बाँधु अयाना। झूठा बचन साँच कै माना॥ 2॥
धन्धा बन्दा कीन्ह ब्यवहारा। कर्म विवर्जित बसै निन्यारा॥ 3॥
षट आश्रम औ दर्शन कीन्हा। षटरस बास षटै वस्तु चीन्हा॥ 4॥
चारि वृक्ष छौ शाखा बखानी। विद्या अगणित गनै न जानी॥ 5॥
औरों आगम करे विचारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥ 6॥
जप तीरथ व्रत कीजे बहु पूजा। दान पुण्य कीजे बहु दूजा॥ 7॥

साखी—मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठो धाय।
जो कोइ पैठे धाय के, बिन शिर सेती जाय॥ 22॥

शब्दार्थ—धन्धा=व्यवहार। बन्दा=गुलाम। चारि वृक्ष=चार बेद। छौ शाखा=छह वेदांग।

भावार्थ—उस अदृश्य निरंजन की कोई परीक्षा नहीं करता, जिसके बन्धन में सब लोग बंधे हैं॥ 1॥ जिस असत्य धारणा में सब अबोधी जीव बंधे हैं, उस झूठी बात को उन्होंने सत्य समझकर मान रखा है॥ 2॥ यद्यपि जीव का शुद्धस्वरूप कर्मों से सर्वथा रहित है और उसकी स्थिति जड़ से नितांत भिन्न निराधार एवं असंग है, तथापि अपने स्वरूप की भूल से वह गुलामी का धन्धा उठा रखा है और विवशता का व्यवहार कर रहा है॥ 3॥ मनुष्यों ने छह आश्रम और छह दर्शनों की रचना की और छह रस का आस्वादन किया और छह सिद्धान्तों का निरूपण किया॥ 4॥ चार वेद रूपी चार वृक्ष तैयार किये और उसमें छह वेदांग रूप छह शाखाओं का विस्तार किया। इतना ही नहीं मनुष्यों ने अगणित विद्याओं का प्रवर्तन किया, जिनका एक व्यक्ति के लिए जानना असंभव तो है ही, उनकी गणना करना भी सरल काम नहीं

है॥ 5॥ लोग इसके आगे भी आगम शास्त्रों का विचार करते हैं, जिसमें वार-पार नहीं सूझता॥ 6॥ लोग जप, तीर्थ, व्रत, पूजा, दान-पुण्य आदि करते हैं तथा इसके भी अतिरिक्त नाना कर्म करते हैं॥ 7॥

जिस मन्दिर में आदमी कैद होता है वह तो स्नेह एवं मोह का है। हे कल्याणार्थी! उसमें कोई दौड़कर मत घुसो। जो इस मोह-मन्दिर में दौड़कर घुसेगा, वह व्यर्थ में अपना सिर कटा बैठेगा॥ 22॥

व्याख्या—अलख निरंजन अदृश्य काल है। काल के दो रूप हैं एक समय की अवधि तथा दूसरा मन की कल्पना। इस रमैनी में मन की कल्पित अवधारणाओं को ही अलख निरंजन कहा गया है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि लोगों के मन की जो रेखरूपरहित कल्पित अवधारणाएं हैं, उन्हें वे परखने की कोशिश नहीं करते। आदमी का बन्धन उसकी अपनी गलत अवधारणाएं एवं कल्पनाएं ही हैं। आदमी रस्सी, लोह की जंजीर या काष्ठ आदि में बंधा हो, तो उसे अपने बन्धन दिखाई दें, किन्तु बन्धन तो अदृश्य हैं। वे आदमी को सहज दिखाई भी नहीं देते। मन के अदृश्य बन्धनों को तो कोई पारखी ही देखता है।

"जेहि झूठे सब बाँधु अयाना" बन्धन झूठे हैं, किन्तु जिन्हें ज्ञान नहीं है, वे इस झूठे बन्धन को ही सच मान रहे हैं और खुशी-खुशी इसमें बंधे हैं। मोह में बुद्धि भ्रमित होती है। "धन्धा बन्दा कीन्ह व्यवहारा" बन्दा ही बन्धन का धन्धा एवं व्यवहार करता है। बन्दा का अर्थ ही है वशवर्ती एवं गुलाम। स्वतन्त्र जीव मन के मिथ्या बन्धन में पड़कर गुलाम हो गया है।

सद्गुरु कहते हैं "कर्म विवर्जित बसै निन्यारा" जीव कर्मों से अलग और जड़ प्रकृति से सर्वथा पृथक एवं असंग है। अपने असंगत्व का बोध न होने से जीव सब में फंसा है। अपने आप को दृश्यों में मिला देना पीड़ा है और अपने असंगत्व का सदैव भान रहना ही अमृतत्व है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसा शुद्ध असंग जीव सब में मिल-मिलकर बंधा है।

इन बन्धनों से छूटने के लिए मनुष्यों ने छह आश्रम, छह दर्शन, छह रस एवं छह वस्तुओं की अवधारणाएं कीं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास ये चार आश्रम हैं। इनमें हंस एवं परमहंस जोड़कर छह आश्रमों की अवधारणाएं हुईं। योगी, जंगम, सेवड़ा (जैनी-बौद्ध), संन्यासी, दरवेश (फकीर) और ब्राह्मण ये छह दर्शन हैं।

"षटरस बास" छह रसों का आस्वादन है। यहां प्रसिद्ध षड्रस—मीठा, नमकीन, कड़वा, तीता, कसैला तथा खट्टा अर्थ नहीं है; किन्तु छह नामों का जप है। ब्राह्मणों का 'ॐ', संन्यासियों का 'सोऽहं', दरवेशों-सूफियों का 'हू अल्ला हू', योगियों का 'महीनाद', सेवड़ा का 'तत्त्वनाम' एवं जंगमों का 'निरंजन' जप है। इस प्रकार षड्दर्शनों के छह जप हैं और भक्त-जन अविनाशी

राम-नाम जप करते हैं।[1] ये सब अपने-अपने नाम-जप का आस्वादन करते हैं। इनके अलावा भी अनेक प्रकार नाम एवं मंत्रादि के जप हैं।

"षटै वस्तु चीन्हा" इन्होंने अपने-अपने सिद्धान्त का अलग-अलग निरूपण किया है। ब्रह्मचारी ब्राह्मणों का अद्वैत परमात्मा, संन्यासियों का अहंब्रह्मास्मि, फकीरों का वायु का वायु में मिल जाना, योगियों का पिंड से उठकर ब्रह्मांड में पहुंचना, जैनियों का ऊपर अलोकाकाश में चन्द्रशिला पर मुक्त होकर रहना, जंगमों (शिवाचारियों) का आकाशवत परमात्मा शिव में मिलना—यह छह दर्शनों के सिद्धान्त हैं और भक्तों का यह विलक्षण सिद्धान्त है कि राम पुरुष है और सब जीव नारिरूप हैं ऐसा मानकर माधुर्य भक्ति करना।[2] इसके अतिरिक्त भी नाना मतों द्वारा नाना सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है।

"चारि वृक्ष छौ शाखा बखानी" चार वृक्ष छौ शाखा चारों वेद एवं छहों वेदांग के लिए रूपक हैं। मनुष्यों के कल्याण के लिए ही चारों वेद ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व की और छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष की रचना की गयी। जो वेदाध्ययन तथा वेद मंत्रों के विनियोग एवं संस्कारों में सहायक होते हैं, उन्हें वेदांग कहा जाता है, वे उक्त छह हैं। वेद-मंत्रों के उच्चारण का विज्ञान बताने वाला 'शिक्षा' अंग है। कर्मकांड या अनुष्ठान पद्धति और यज्ञों, संस्कारों की विधियां 'कल्प' में बतायी गयी हैं। 'व्याकरण' वह वेदांग है जिसमें भाषा के शब्दों, उनके रूप, प्रयोगों आदि पर विवेचन है। 'निरुक्त' वह ग्रन्थ है जिसमें वैदिक शब्दों की व्याख्या की गयी है। ईसा पूर्व सातवीं-आठवीं शती के यास्क मुनि की प्रसिद्ध रचना 'निरुक्त' है। छन्दों का रूप बताने वाला 'छन्द' है। 'ज्योतिष' का अर्थ है नक्षत्र विद्या या गणित।

---

1. ॐकार ब्राह्मण उपासी। सोहं ब्रह्म इष्ट संन्यासी॥
   हू अल्लाहू सुफी अधारा। महीनाद योगी विस्तारा॥
   तत्त्वनाम सेवड़ा परवाना। नाम निरंजन जंगम ध्याना॥
   षड्दर्शन षड्अंग उपासी। राम नाम भक्ता अविनाशी॥ (पंचग्रन्थी)
2. अदेव मूल श्रवण को कहिये। अहं ब्रह्म संन्यासी लहिये॥
   वायु शेख योगी सो धरणी। शशी अमीरस जाने जैनी॥
   महा अकाश जंगम के होई। षट सिद्धान्त जग जानेहु सोई॥
   पुरुष राम सब नारि स्वरूपा। यह सिद्धान्त है भक्ति अनूपा॥
   (पंचग्रन्थी, मानुष विचार का अन्त)
   यहां 'अदेव मूल श्रवण को कहिये' आया है। यहां अदेव से देव रहित नहीं किन्तु अद्वैत परमात्मा अर्थ है तथा श्रवण श्रमण नहीं किन्तु ब्राह्मण है।

"विद्या अगणित गनै न जानी" विद्याएं असंख्य हैं। इतिहास, पुराण, उत्पात-शास्त्र, निधि विद्या, तर्क विद्या, भूत विद्या, धनुर्विद्या, संगीत विद्या, प्राणि विद्या, वनस्पति विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, कहां तक कहा जाये, गिनकर समाप्त करना कठिन, एक व्यक्ति का सबका जानना असंभव। एक घटना याद आयी। गत दिसम्बर (1986) कलकत्ता में प्रेम प्रकाश जी के यहां निवास था। 11 दिसम्बर को कलकत्ता का म्यूजियम देखने गया। दो घण्टे देखने पर भी आधा ही में घूम सका। देखना तो उसे नहीं कह सकता। एक साथी ने कहा कि इसमें सारी चीजें देखने और समझने के लिए चार घण्टे चाहिए। मैंने कहा इसे देखने के लिए महीनों चाहिए और जानने के लिए असंख्य जन्म चाहिए। परन्तु इन्हें गहराई से जानकर करेंगे क्या? बस इतना देख लिया, हो गया। अपने को देखो, अपने को जानो और अपने में स्थित होओ। यहीं विश्रांति है।

"आरौं आगम करे विचारा" मनुष्य और भी आगे बहुत शास्त्रों का विचार करता है। 'आगम' कहते हैं वेदादि मान्य ग्रन्थ, शास्त्र, दर्शन, तंत्रशास्त्र आदि को। 'वाराही तंत्र' नामक ग्रन्थ के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षटकर्म (शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण) का साधन तथा ध्यान-योग इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को 'आगम' कहते हैं।[1] इस प्रकार लोग असंख्यात विद्याओं का विचार करते हैं। वाणी-जाल का इतना विस्तार है कि उसमें मनुष्य को 'वारपार' नहीं सूझता। "ते नहिं सूझै वार न पारा" बड़ा वजनदार वचन है। वारपार सूझने का मतलब है अपने लक्ष्य का दिखाई दे जाना। यदि मनुष्य अपने लक्ष्य को न देख सका तो बहुत विद्याएं पढ़कर क्या हुआ! इसलिए सद्गुरु का महानिर्देश है "सार सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय।"

लोग कल्याण के लिए नाना नाम एवं मंत्रों का जप करते हैं। देश के बहुत या सभी तीर्थों में बारम्बार भ्रमण करते हैं। एकादशी, अष्टमी, चन्द्रायण इत्यादि व्रत-उपवास करते हैं। पेड़, पहाड़, पानी, पाषाण आदि में देवी-देवता मानकर उनकी पूजा करते हैं। अनेक प्रकार दान-पुण्य करते हैं। ठीक है, अपनी-अपनी समझ-शक्ति के अनुसार कुछ कर्म-धर्म करना अच्छा है। किन्तु इनसे भी कुछ आगे है, इसे सत्संग-विवेक द्वारा समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

---

1. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः॥ (बल्देव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 529)

"मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठो धाय। जो कोइ पैठे धाय के, बिन शिर सेती जाय॥" बहुत महत्त्वपूर्ण साखी है। सद्गुरु कहते हैं कि मोह के मन्दिर में दौड़कर मत घुसो। उपर्युक्त वर्णित सारी विद्याएं एवं सारे खटकरम मोह के मन्दिर हैं। इनमें दौड़-दौड़कर मत घुसो। मोह के मन्दिर में घुसने से मनुष्य का सिर कट जाता है। अर्थात जो मोह से आवृत होता है उसका विवेक सो जाता है। धन-सम्पत्ति का मोह, जमीन-मकान का मोह, परिवार-समाज का मोह, मान-प्रतिष्ठा का मोह, शास्त्र-परम्परा का मोह, विद्या-वाणी का मोह, संप्रदाय-मान्यता का मोह, रस्म-रिवाज का मोह, देह तथा मन के संकल्प-विकल्पों का मोह, कहां तक गिनाया जाये ! यह दृश्य मात्र का मोह ही तो गले की फांसी है। जिसने मोह का परित्याग किया वह अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में स्थित हुआ। वह अपने असंगत्व में प्रतिष्ठित हुआ। वही सच्चे अर्थ में मानवता का उन्नायक है 'कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय।' (बीजक, चाचर 1)

विषयसुख अल्प है, आत्मसुख नित्य है

रमैनी-23

अल्प सुख दुख आदिउ अन्ता। मन भुलान मैगर मै मन्ता॥ 1॥
सुख बिसराय मुक्ति कहाँ पावै। परिहरि साँच झूँठ निज धावै॥ 2॥
अनल ज्योति डाहै एक संगा। नैन नेह जस जरै पतंगा॥ 3॥
करहु विचार जो सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई॥ 4॥
लालच लागी जन्म सिराई। जरा मरण नियरायल आई॥ 5॥

साखी—भरम का बाँधा ई जग, यहि बिधि आवै जाय।
मानुष जनम पायके, नर काहे को जहँड़ाय॥ 23॥

शब्दार्थ—मैगर=हाथी। मै=समान। मन्ता=उन्मत्त।

भावार्थ—विषयों में सुख थोड़ा है और दुख आदि से अन्त तक भरा है; किन्तु मनुष्य का मन उन्मत्त हाथी के समान उनमें भूला है॥ 1॥ यद्यपि सुख की उपेक्षा कर मुक्ति कहां मिल सकती है ! परन्तु सुख के सच्चे और झूठे स्वरूप को समझना होगा। मनुष्य सच्चे एवं स्वरूपस्थितिजनित चिरंतन सुख को छोड़कर असत्य विषय-सुख को ही सच्चा मानकर उसी का ध्यान करता है, उसी के लिए दौड़ता है॥ 2॥ मनुष्य विषयों में कूदकर उसी प्रकार अपना विनाश करता है जैसे नैन-नेह एवं रूपासक्ति में पड़कर पतिंगे अग्निशिखा में अपने आप का हवन कर देते हैं॥ 3॥ हे कल्याणार्थी ! विचार करो और झूठे विषयों के मोह का परित्याग करो, जिससे सारे दुख दूर हों॥ 4॥ विषयों के

लालच में लगकर तुम्हारा जीवन बीता जा रहा है और जरा-मृत्यु निकट आ रही है॥ 5॥

इस प्रकार जीव विषय-सुख-भ्रम में बंधा हुआ बारम्बार जन्म-मरण में आता-जाता रहता है। हे मनुष्य ! विवेकप्रधान मानव जन्म पाकर तू अपने आप को क्यों पतित कर रहा है? ॥ 23॥

व्याख्या—शैशवकालीन माता के गोदजनित सुख, बाल्यकालीन खेलकूद-जनित सुख, तरुणाई के पढ़ने-लिखने का सुख, जवानी के राग-रंग का सुख—सब तो क्षणिक है। और केवल क्षणिक ही नहीं, दुखमिश्रित है। रसभरी जवानी, वैवाहिक उत्सव, सुहागरात के दिन आखिर कितने दिन तक चलेंगे ! शासन, स्वामित्व एवं अधिकारत्व की गद्दी कब तक रह सकती है ! और जब तक है, इन सब में तो चिन्ता की भट्ठी जलती है, सुख है कहां !

संसार में सबसे बड़ा सुख काम-भोग मान रखा है, जिसमें है क्षणिक उत्तेजना, नसों की झनझनाहट, शक्ति का क्षय, मलिनता, शक्तिहीनता और बेवकूफ बनकर पीछे पछताना, यही तो है संसार का माना हुआ सबसे बड़ा सुख ! इसी के पीछे जीवन भर की गुलामी ! इसी के लिए मनुष्य अपनी आधी जिन्दगी तैयारी में लगाता है और शेष आधी जिन्दगी इसके दुखद परिणाम को झेलने में। फिर इसे सुख कहें तो दुख किसे कहें !

यह ठीक है कि एक-दो सन्तान के लिए गृहस्थ को एक-दो बार इस भूल में अपने आप को उतारना चाहिए। किन्तु जो अपना पूर्ण कल्याण चाहे वह इससे एकदम बरी रहे। फिर आज की दुनिया में जहां सन्तानों की भीड़ से शासन विचलित हैं, अधिक से अधिक नर-नारियों को अविवाहित एवं ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणी बनकर रहना चाहिए।

प्रसंग यहां यह नहीं है कि संसार की सामयिक स्थिति क्या है। प्रसंग एक ज्वलंत विषय पर है कि जड़-पंच विषयों के जितने सुख हैं, सब क्षणभंगुर हैं। उनके भोग से इच्छाएं बनकर मनुष्य के चित्त को सदैव उद्वेगित करती रहती हैं। जिससे वह सदैव पीड़ित रहता है। विषयों के निरंतर सेवन से मनुष्य की विवेकशक्ति सो जाती है और वह अन्धा बनकर विषयों के उन्माद में ही प्रमत्त रहता है।

उपर्युक्त सुख का खंडन सुनकर कोई घबरा सकता है कि मुक्ति के चक्कर में पड़कर यदि जीवन में सुख का ही खंडन हो जाये, तो रहा ही क्या ! हर प्राणी दुख से भागता है और सुख चाहता है। सद्गुरु कहते हैं "सुख बिसराय मुक्ति कहाँ पावै" सुख को भूलकर, सुख की उपेक्षाकर कोई मुक्ति कहां से पावेगा ! साहेब कहते हैं कि मैं सुख का खंडन नहीं करता हूं, किन्तु 'सुख-भ्रम' का खंडन करता हूं। "परिहरि साँच झूठ निज धावै" मनुष्य जो सच्चे सुख को

छोड़कर झूठे सुख के लिए दौड़ता है, उसका खंडन करता हूं। सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में कहा है—"झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद। जगत चबैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।" मनुष्य क्षणिक विषयों में सुख कहता है और उसी के उपभोग में आनन्द मानता है। संसार के लोग तो काल के आहार हैं। काल किसी को अपने मुख में ले लिया है और किसी को गोद में ले रखा है और अब मुख में डालने ही वाला है।

विषय के सुख क्षणिक हैं और परिणाम में दुख और बन्धन उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए इनका त्यागा जाना आवश्यक है। सच्चा सुख आत्मजनित है जो चिरंतन है। ऐसा सुख पाना ही मोक्ष पाना है। जब मन में किसी प्रकार के आग्रह, ग्रन्थि, वासना, राग-द्वेष आदि नहीं रहते, तब हर्ष-शोक समाप्त हो जाते हैं, सांसारिक प्राणी-पदार्थ एवं परिस्थितियों के मिलने-बिछुड़ने में कोई मानसिक द्वन्द्व नहीं सताता, हृदय में निरंतर शांति का सागर लहराता रहता है; यही मोक्ष है। यही सच्चा सुख है। यह सच्चा सुख और मोक्ष अलग-अलग चीज नहीं है। ऐसे सुख की उपेक्षाकर मोक्ष क्या वस्तु है जो मिलेगी! अतएव गुरुदेव मनुष्य को तुच्छ एवं बंधनदायी सुखों से छुड़ाकर अनन्त सुख का रास्ता बताते हैं।

मोह का अर्थ ही है दुख पाते हुए तथा अपना पतन देखते हुए भी उस रास्ते को न छोड़ना। पतिंगे अग्नि-शिखा में रूप के मोह से चिपकते हैं। अग्नि के पास जाने पर उनके पंख जलते हैं, परन्तु वे उससे हटने की अपेक्षा उसमें और चिपककर जल मरते हैं। मोहग्रस्त संसारियों की यही दशा है। मोह-माया और विषय-वासनाओं में अपना पतन देखते हुए भी, उनसे दूर होने की अपेक्षा दिनोदिन उन्हीं में चिपकते जाते हैं और अपने आप को अन्धकार में डुबाते जाते हैं।

सद्गुरु कबीर ने बीजक में कई जगह 'सब दुख' से छूटने तथा 'सब सुख' पाने की बातें कही हैं। "मुझ ही ऐसा होय रहो, 'सब सुख' तेरे पास" (साखी 298) तथा "जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग 'सब सुख' नाहिं।" (साखी 296) वे इस रमैनी में कहते हैं "करहु विचार जो 'सब दुख' जाई।" सद्गुरु के ख्याल में 'बन्धन' ही 'सब दुख' है तथा 'मोक्ष' ही 'सब सुख' है। इसको सरल बनाकर कहें तो मन की पीड़ा, मन का असंतोष, मन की उलझन ही 'सब दुख' है और मन की शांति ही 'सब सुख' है। 'सब दुख' दूर होकर 'सब सुख' कैसे मिलेगा? इसके लिए सद्गुरु कहते हैं "करहु विचार जो 'सब दुख' जाई।" विचार ही सब दुखों से मुक्त होने का रास्ता है। पानी से प्यास का दुख दूर होता है, भोजन से भूख का और दवाई से रोग का दुख दूर होता है; किन्तु सब दुख

सांसारिक साधनों से नहीं दूर होता। यदि सांसारिक साधनों से सब दुख दूर हो जाता तो धनी लोग सभी दुखों से मुक्त होते।

सब जीव पथिक हैं, स्वभाव से स्वतन्त्र हैं, अधिकतम लोग मन के वश हैं। उन पर हमारी क्या स्ववशता है ! भले वे पत्नी, बच्चे, भाई, शिष्य कुछ भी हों, यह विचार करने पर मोह तथा दूसरे को विवश करने का दुराग्रह दूर हो जाता है और ऐसा हो जाने पर किसी मनुष्य के प्रति मन में क्षोभ नहीं होता।

शरीर की रक्षा के लिए रोटी तथा कपड़े के कुछ टुकड़े चाहिए। इसके अलावा धन की सार्थकता तो उसे दूसरे की सेवा में लगाने में ही है। यह विचार होने से लोभ अपने आप तिरोहित हो जाता है।

शरीर स्त्री का हो या पुरुष का, न-विचार करने से वह रमणीय लगता है। थोड़ा विचार कीजिए तो वह हाड़-मांस का ढांचा दिखेगा। थोड़ा और विचार कीजिए तो मिट्टी का पिंड। विचार की गहराई में उतरिए तो इलेक्ट्रान एवं सूक्ष्म कणों का प्रवाह मात्र है। शरीर नाम की स्वतंत्र चीज ही नहीं है। ऐसे सारहीन शरीर में अविद्या-वश ही कामादि वितर्क उत्पन्न होते हैं, जिनका परिणाम इच्छा, वासना, तृष्णा, उद्वेग एवं अशांति है। ऐसे विचार में काम की कहां गुंजाइश !

शरीर नाशवान है, मैं अविनाशी हूं, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त एवं असंग चेतन हूं, इस विचार के आते ही दुख का लेश भी कहां रहेगा ! सद्गुरु कबीर कहते हैं, विचार करो जिससे सारे दुख दूर हों।

कोई कह सकता है कि मैं तो विचार करता हूं। सद्गुरु कहते हैं कि विचार की कसौटी है "परिहरि झूठा केर सगाई।" असत्य का मोह छूट जाना विचार का फल है। कोई सांसारिक राग-रंग में डूबा हो और कहे कि मैं विचारवान हूं। तो यह उसका अपने आप को धोखा देना है। विचार उदय होने पर मोह शेष नहीं रहता।

"लालच लागी जनम सिराई" आदमी लालच में जीवन बिता देता है। कुछ और खा लूं, कुछ और देख लूं, कुछ और कर लूं, कुछ और पा लूं, यह तृष्णा नहीं मिटती है। इसी में बुढ़ापा आ जाता है और मौत आ धमकती है। विवेकप्रधान कल्याणदायी मानवजीवन का सुनहला अवसर माया की मिथ्या लोलुपता में बीत जाता है। इससे बड़ा प्रमाद और क्या हो सकता है !

"भरम का बाँधा ई जग, यहि बिधि आवै जाय।" बड़ा तलस्पर्शी वचन है। इस प्रकार जगत के जीव भ्रम में बंधे हुए आते-जाते हैं। करने, भोगने, देखने, सुनने, खाने, जीने की लालसा रखकर जो शरीर छोड़ेगा, उसे पुनः करने, भोगने आदि के लिए शरीर धारण करना ही पड़ेगा। इच्छा का रह जाना ही लौटने का कारण है। विषय-प्रपंचों में सुख का भ्रम होने से उसके लिए आज मन भटकता है और यही पुनः जन्म धारण करने का कारण बनता है।

सद्गुरु अन्त में सावधान करते हैं "मानुष जनम पाय के, नर काहे को जहँड़ाय॥" विचारप्रधान कल्याण-साधन-सम्पन्न तन पाकर हे मानव ! तू क्यों उसे खो रहा है ! आज के सुनहले अवसर को मत खो। सत्संग, सद्विचार एवं सत्साधना में लगाकर अपना कल्याण कर।

तुम स्वयं सर्वोच्च सत्ता हो

रमैनी-24

चन्द्र चकोर की ऐसी बात जनाई। मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई॥ 1॥
चारि अवस्था सपनेहु कहई। झूठो फूरो जानत रहई॥ 2॥
मिथ्या बात न जानै कोई। यहि बिधि सब गैल बिगोई॥ 3॥
आगे दै दै सबन गमाया। मानुष बुद्धि सपनेहु नहिं पाया॥ 4॥
चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई॥ 5॥

साखी—सोई कहन्ता सोइ होउगे, तैं निकरि न बाहिर आव।
हो हजूर ठाढ़ कहत हौं, तैं क्यों धोखे जन्म गमाव॥ 24॥

शब्दार्थ—मानुषबुद्धि=स्वतन्त्र विवेक। आगे=भविष्य काल या भूत काल। चौंतिस अक्षर=क से क्ष तक अक्षर, वाणीजाल।

भावार्थ—गुरुओं ने उपासकों को यह बताकर कि जैसे चकोर चन्द्रमा में ध्यान लगाता है, वैसे तुम आत्मा से पृथक परमात्मा मानकर उसमें ध्यान लगाओ, मनुष्य की बुद्धि उलट दी॥ 1॥ एक तरफ कहते हैं कि चारों अवस्थाएं स्वप्नवत हैं, दूसरी तरफ असत्य को ही सत्य मानते रहते हैं॥ 2॥ लोग झूठी बातों को झूठी करके नहीं जानते। इस प्रकार सबने अपने अपनत्व को खोया एवं खोते हैं॥ 3॥ भविष्य की आशा दे-देकर सबने अपने कल्याण को खोया तथा दूसरे के पतन में सहायक हुए। इसलिए ऐसे लोगों को स्वप्न में भी मनुष्य की बुद्धि नहीं मिली॥ 4॥ जो व्यक्ति चौंतीस अक्षरों अर्थात शास्त्रप्रमाण के मोह-जाल से निकलेगा, वही यह समझेगा कि पाप क्या है और पुण्य क्या है तथा सत्य क्या है और असत्य क्या है॥ 5॥

जो कहोगे, वही हो जाओगे। तू जाल से निकलकर क्यों नहीं बाहर आता ! मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि तू स्वयं हुजूर है, सम्राट है। तू अपने जीवन को धोखे में क्यों खो रहा है ॥ 24॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर इस बात पर बारम्बार जोर देते हैं कि तुम अपना लक्ष्य अपने से अलग मानकर भटको मत। इस रमैनी में कबीर साहेब उन गुरुओं की आलोचना करते हैं जो जीव का लक्ष्य उससे अलग मानते हैं। चकोर

चन्द्रमा का प्रेमी होता है। वह चन्द्रमा को एकटक देखता है। वह उसी में ध्यान लगाता है। जो गुरुजन अपना लक्ष्य अपने से अलग मानते हैं, और कहते हैं कि आत्मा से अलग परमात्मा है, वे अपने श्रोताओं एवं जिज्ञासु-भक्तों को यही बताते हैं कि तुम उस परमात्मा में ध्यान लगाओ। फिर वे मन से परमात्मा का एक रूप गढ़ते हैं। चार हाथों वाला, आठ हाथों वाला, हजार हाथों वाला, मुरली वाला, धनुष वाला, ज्योति रूप, नाद रूप, शब्द रूप या सर्वत्र व्याप्त रूप, किसी प्रकार की मानसिक अवधारणा बनाते हैं और उसी का ध्यान करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं—"मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई" गुरुओं ने लोगों की मानुषबुद्धि मननशीलता, विचार एवं विवेकबुद्धि को पलटकर उन्हें न सोचने की स्थिति में ला दिया। पशु प्रायः स्वयं विचारकर काम नहीं कर सकता, वह दूसरों द्वारा हांका जाकर काम करता है। इसी प्रकार गुरुओं ने मनुष्य को पशु बना दिया। उनके सोचने की क्षमता छीन ली। 'मानुषबुद्धि' है स्वतन्त्र चिन्तन, विचार एवं विवेक। हम मन से जितनी अवधारणाएं बनाते हैं, सब मन की उपज होती हैं। साधारण साधक किसी अवधारणा का आलम्बन लेकर मन को एकाग्र करता है यह आरम्भ के लिए किसी हद तक ठीक है; परन्तु वह अवधारणा मनुष्य का अपना लक्ष्य नहीं हो सकती। चकोर से चन्द्रमा सर्वथा पृथक है इसलिए चकोर को चन्द्रमा के विषय में कभी तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अलग की वस्तु अलग ही रह जाती है। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा के भिन्नत्व की दृष्टि रखकर साधक कभी तृप्त नहीं हो सकता है। जो गुरुजन साधकों को स्वरूपज्ञान न देकर उसे कहीं बाहर कल्पित परमात्मा में लटकाते हैं, वे स्वयं विवेक का पथ छोड़ चुके हैं और दूसरे का भी छुड़ाते हैं। मन की अवधारणा हमारा लक्ष्य कैसे हो सकती है ! विवेक-ज्ञान यह है कि मन के शांत हो जाने पर जो शेष रह जाता है, वह स्व-चेतन तत्त्व ही अपना स्वरूप है और वही अपना लक्ष्य है।

"चारि अवस्था सपनेहु कहई" गुरुजन यह भी कहते हैं कि जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चारों अवस्थाएं स्वप्नवत हैं। जब ये चार अवस्थाएं तथा इनके व्यवहार स्वप्नवत हैं, तब जिस मन की अवधारणा को परमात्मा मानकर उसमें चन्द्र-चकोरवत ध्यान लगाने की बात करते हैं, क्या वह स्वप्नवत नहीं है ! यह तो "झूठो फूरो जानत रहई" की बात हुई। अर्थात असत्य को सत्य समझने की बात हुई।

"मिथ्या बात न जाने कोई" सद्गुरु कहते हैं कि असत को असत समझना तथा उसे असत ही कहना कोई मामूली बात नहीं है। हजारों वर्षों से जिस

अवधारणा की मन में लीक पड़ी हुई है, उसको काटना विवेक और वीरता का काम है। दीर्घ अभ्यास से असत्य भी सत्य प्रतीत होता है। सभी मनुष्य अपने-अपने मन में अलग-अलग परमात्मा बना लेते हैं। उनका उनमें मोह हो जाता है। इसलिए इन्हें वे सत्य लगते हैं। जब विवेकी-पारखी की संगत से व्यक्ति को विवेक होता है, तब मन की कल्पनाएं क्षीण होती हैं और स्वरूप का ज्ञान होता है। जब विवेक द्वारा मन और उसकी अवधारणाओं एवं कल्पनाओं को अलग समझ लिया जाता है तथा समाधि में मन को शून्य कर दिया जाता है, तब परोक्ष उपासना की लकीर कटती है। तब लगता है कि आत्मा से परमात्मा अलग नहीं। जीव से शिवत्व पृथक नहीं। स्वरूपस्थिति ही जीवन का लक्ष्य है। जो ऐसा नहीं समझते वे अपने महत्त्व को खो देते हैं।

"आगे दै दै सबन गमाया" आगे परमात्मा या मोक्ष मिलेगा, लोगों को ऐसी आशा दे-देकर गुरुओं ने उन्हें सान्त्वना दी; किन्तु इस आशा में लोग अपने दावं को हार चले। आगे की आशा में पड़े हुए वक्ता-श्रोता दोनों धोखे में हैं। ये दोनों मानवीय-बुद्धि एवं विचार-विवेक से दूर हैं। विवेकसम्मत बात है अपने लक्ष्य को वर्तमान में ही प्राप्त करना। "जियत न तरेउ, मुये का तरिहो" (शब्द 14)।

'आगे' का अर्थ पीछे भी होता है। जैसे आगे के लोग कह गये हैं। इससे अर्थ होगा कि पीछे के पुरुषों एवं शास्त्र-वचनों का प्रमाण दे-देकर लोग अपनी कल्पित धारणाओं का समर्थन करते हैं। "मानुष बुद्धि सपनेहु नहिं पाया।" वे भूलकर भी विवेक की बात नहीं करते। धार्मिक क्षेत्र की सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि लोग शास्त्र-प्रमाण के आगे विवेक-बुद्धि को बलि चढ़ा देते हैं। शास्त्र, परम्परा, गुरु सब आदरणीय हैं, परन्तु विवेक-बुद्धि की बलि चढ़ाकर नहीं। हम शास्त्रों की बातें भी बुद्धि से ही समझ सकते हैं। ज्ञान-प्राप्ति का साधन मनुष्य की विवेकबुद्धि ही है। केवल शास्त्र-प्रमाण की दोहाई देना निष्पक्ष जिज्ञासु को सन्तोष नहीं दे सकता।

इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई॥" देवनागरी लिपि में क से क्ष तक चौंतीस अक्षर होते हैं। यहां चौंतीस अक्षर से मतलब है वाणी-जाल एवं शास्त्र-प्रमाण का अन्धाधुन्ध जाल। जो इससे निकलेगा वही समझ सकेगा कि पाप क्या है और पुण्य क्या है तथा असत्य क्या है और सत्य क्या है। प्रत्यक्ष है कि शास्त्र-प्रमाण के जोर से अनेक सम्प्रदाय वाले यज्ञ, बलि, कुर्बानी आदि नाम से जीवहत्या को पुण्य कहते रहे और आज भी कहते हैं। इसी प्रकार केवल शास्त्र-प्रमाण के नाम पर असत्य धारणाएं सत्य का जामा पहनाकर खड़ी की जाती हैं। शास्त्र-प्रमाण के बल पर ही जाति-वर्ण आदि का पाखण्ड फैलाकर मानव-मानव के बीच

भेदभाव की भित्ति खड़ी की गयी। "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई॥" बहुत मार्मिक वचन है। शास्त्र-प्रमाण का मोह छोड़े बिना कोई सत्य ज्ञान नहीं पा सकता।

"सोई कहन्ता सोइ होउगे" अर्थात जैसा कहोगे, वैसा हो जाओगे। चोरी की चर्चा करते-करते आदमी चोर बनता है। पर-स्त्री की चर्चा करते-करते व्यभिचारी बनता है। राग की चर्चा करते-करते रागी एवं वैराग्य की चर्चा करते-करते आदमी वैरागी बनता है। क्योंकि चर्चा मन की उपज होती है। बात पहले मन में आती है, तब चर्चा, फिर क्रिया होती है। किसी विषय में बारम्बार बात करने से मन में उसका अभ्यास जमता है।

यह मनुष्य की विशेषता है जो वह वर्णात्मक वाणी बोलता है और सुनकर समझता है। वाणी का मन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि आदमी बार-बार यही कहता और सोचता रहे कि मैं तुच्छ हूं, तो वह निश्चित ही अपने आप को तुच्छ मानकर और कमर पकड़कर बैठ जायेगा। यदि आदमी शास्त्रों के प्रमाण के चक्कर में पड़कर बारम्बार अपने आप को अल्पज्ञ, अंश, प्रतिबिम्ब, तुच्छ आदि ही कहता रहा और अपना पूर्णत्व बाहर खोजता रहा, तो निश्चित ही उसका पतन है, इसलिए सद्गुरु कहते हैं "तैं निकरि न बाहिर आव" तू प्रतिगामी विचारों एवं शास्त्र प्रमाणों के दलदल से निकलकर बाहर आ न !

"हो हजूर ठाढ़ कहत हौं" यह आत्मज्ञान और आत्मविश्वास का सर्वाधिक जोरदार वचन है। सद्गुरु कहते हैं, मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि तुम स्वयं हुजूर हो। हुजूर अरबी भाषा का शब्द है। यह बड़ों के लिए सम्बोधन में कहा जाता है। मनुष्य की चेतना से बड़ा तो कुछ भी नहीं। यह जीव, यह आत्मा चेतन होने से सर्वोच्च सत्ता है। सद्गुरु कहते हैं, हे चेतन देव ! तू अपनी सर्वोच्चता को समझ। तू किसी चन्द्रमा का चकोर मत बन। सर्वाधिक प्रकाश और शीतलता तेरे पास ही है। चैतन्य ही तेरा अपना सहज स्वरूप है और अपनी स्वरूपस्थिति में रहना सर्वाधिक सहज साधना एवं तथ्य है।

जिसे खोजते हो वह तुम स्वयं हो

रमैनी-25

चौंतिस अक्षर का इहै विशेषा। सहस्त्रों नाम याहि में देखा॥ 1॥
भूलि भटकि नर फिर घट आया। होत अजान सो सबन गमाया॥ 2॥
खोजहिं ब्रह्मा विष्णु शिव शक्ती। अनन्त लोक खोजहिं बहु भक्ती॥ 3॥
खोजहिं गण गन्धर्व मुनि देवा। अनन्त लोक खोजहिं बहु भेवा॥ 4॥

साखी—जती सती सब खोजहीं, मनहिं न मानै हारि।
बड़ बड़ जीव न बाँचिहैं, कहहिं कबीर पुकारि॥ 25॥

शब्दार्थ—चौंतीस अक्षर=क से क्ष तक अक्षर, वाणी।

भावार्थ—चौंतीस अक्षरों (वर्णात्मक शब्दों) की यही विशेषता है कि व्यक्ति-वस्तुओं के हजारों नाम इन्हीं में देखे जाते हैं॥ 1॥ जीव संसार में भटकते हुए पुनः मानव शरीर में आते हैं; परन्तु सत्यज्ञान से रहित होने से सब अपने जीवन को व्यर्थ में खो देते हैं॥ 2॥ शास्त्रों के जाल में पड़कर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, गंधर्वगण, मुनि, देवता आदि तथा इनके अलावा भी अन्य लोग बड़ी भक्तिभावना तथा नाना प्रकार साधनों से अनन्त लोकों की कल्पना कर अपने लक्ष्य को खोजते हैं॥ 3-4॥

त्यागी, सत्यव्रतधारी एवं पतिव्रताएं भी अपने लक्ष्य की खोज में पड़े हैं। वे मन में हार नहीं मानते। कबीर साहेब उच्च स्वर में कहते हैं कि बड़े-बड़े जीव इस भवचक्र से नहीं बचते॥ 25॥

व्याख्या—ग्रन्थकार 24 वीं रमैनी में कह आये हैं "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई॥" 'चौंतीस अक्षर' का लाक्षणिक अर्थ है वाणीजाल। सद्गुरु ने कहा कि जो इनसे निकलेगा वही सत्य समझ सकेगा। अभिप्राय है जो हर जगह शास्त्रों की दोहाई देने की आदत छोड़कर स्वतन्त्र विवेक रखेगा, वही सत्य-असत्य एवं कर्तव्य-अकर्तव्य के भेद को समझ सकेगा।

प्रश्न हो सकता है कि क्या चौंतीस अक्षरों अर्थात वर्णात्मक शब्दों की आवश्यकता नहीं है? साहेब कहते हैं उनकी आवश्यकता का अस्वीकार कौन कर सकता है ! ये सारे वाक्य भी चौंतीस अक्षरों में ही लिखे जा रहे हैं। चौंतीस अक्षरों की यही विशेषता है कि जड़-चेतन के हजारों नाम इन्हीं में देखे जाते हैं। सहस्त्रों नाम का अर्थ भी लाक्षणिक है। अर्थ है जड़-चेतन के असंख्य नाम इन्हीं चौंतीस अक्षरों में पाये जाते हैं। अन्य प्राणियों से मानव की यही विशेषता है कि उसके पास विकसित मन और वाणी हैं। यदि मनुष्य इनका सदुपयोग करे तो वह भौतिक तथा आध्यात्मिक दशा के उच्चतम शिखर पर चढ़ जाये, और दुरुपयोग करे तो सर्वाधिक पतित हो जाये।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं वाणी का महत्त्व मानता हूं, उससे काम लेता हूं और काम लेने की राय देता हूं; परन्तु उसके जाल से बचने के लिए लोगों को सावधान करता हूं।

संसारी जीव इस भवाटवी में अनादिकाल से भटकते हैं। उनमें से कुछ जीव मानव शरीर में आते रहते हैं। मानव शरीर जो प्रकाशरूप एवं ज्ञानरूप है, जहां सारे अज्ञानों का नाश होकर कल्याण हो सकता है, वहीं भटकने का भी खूब साधन है। खानीजाल अर्थात विषय-वासना का प्रबल बन्धन है ही,

वाणीजाल का भी कम बन्धन नहीं है। सद्गुरु ने प्रथम हिंडोले में कहा है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।"

वाणी-जाल का अर्थ है शास्त्र-जाल, साम्प्रदायिक जाल। वाणी-जाल देवत्व, ईश्वरत्व, ब्रह्मत्व, परमात्मत्व, शिवत्व, मोक्षत्व जीव से बाहर बताता है और उसके लिए जीव को भटकाता है। इसलिए ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, गंधर्वगण, मुनि, देवता, यती, सती, साधारण मनुष्य सब अपने लक्ष्य को, परमात्मा एवं मोक्ष को बाहर खोज रहे हैं। कितने लोग बड़े सच्चे दिल से भावविह्वल होकर बहुत तरह से परमात्मा को खोजते हैं। परमात्मा और मोक्ष को खोजना, इससे अधिक भोलापन क्या होगा! बाहर खोजने से तो भौतिक वस्तुएं मिलती हैं। जब खोजना छूट जाता है, तब स्वरूप का बोध होता है। सारी इच्छाओं के शांत हो जाने पर अपने आप में ही तृप्ति मिलती है। इससे अधिक परमात्मा या मोक्ष का पाना क्या हो सकता है! बाहर कहीं ऐसा मोक्ष या परमात्मा नहीं, जो मिलता हो। परन्तु शास्त्रों के वचनों के बहकावे में पड़कर भक्तजन उसकी खोज में पड़े हैं। "मनहिं न मानै हारि" यह कबीर साहेब का उनके लिए व्यंग्य है। "बड़ बड़ जीव न बाँचिहैं, कहहिं कबीर पुकारि।" सद्गुरु कहते हैं इस धोखे से बड़े-बड़े जीव नहीं बचते हैं। बड़े-बड़े विद्वान, तपस्वी एवं नामी-ग्रामी लोग भगवान के दर्शन पाने के लिए लालायित हैं। वे अपनी अवधारणाओं के प्रतिबिम्ब अपने मन में देख लेते हैं, यही परमात्म-दर्शन मान लेते हैं। किन्तु जो सारी अवधारणाओं का जनक, उनका द्रष्टा एवं ज्ञाता है, वह चेतन देव ही अपना स्वरूप है। उसके अलावा सब भुलावा है।

निज चेतन स्वरूप को पहचानने वाला सर्वोच्च है

रमैनी-26

आपुहिं कर्ता भये कुलाला। बहु विधि बासन गढ़ै कुम्हारा॥ 1॥
बिधि ने सबै कीन्ह एक ठाऊँ। अनेक जतन के बने कनाऊँ॥ 2॥
जठर अग्नि मों दीन्ह प्रजारी। तामहँ आपु भये प्रतिपाली॥ 3॥
बहुत जतन कै बाहर आया। तब शिव शक्ती नाम धराया॥ 4॥
घर का सुत जो होय अयाना। ताके संग न जाहु सयाना॥ 5॥
साँची बात कही मैं अपनी। भया दिवाना और की पुन्ही॥ 6॥
गुप्त प्रगट है एकै दूधा। काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा॥ 7॥
झूठे गर्भ भूलो मति कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई॥ 8॥

साखी—जिन्ह यह चित्र बनाइया, साँचा सो सूत्रधारि।
कहहिं कबीर ते जन भले, जो चित्रवन्तहिं लेहि निहारि॥ 26॥

शब्दार्थ—आपुहि=जीव ही। कुलाला=कुम्हार। विधि ने= नियम ने, कर्म ने। कनाऊँ=वृक्ष, तात्पर्य में शरीर। शिव-शक्ती=पुरुष-स्त्री। घर का सुत=मन। पुन्हीं=पुनः। चित्रवन्तहि=चितेरा, चेतन जीव।

भावार्थ—जैसे कुम्हार मिट्टी लेकर चाक पर बहुत प्रकार के बरतन बनाता है, वैसे स्वयं जीव वासना-वश कर्ता बनकर गर्भाशय में शरीरों की रचना करता है॥ 1॥ शरीर-रचना के नियम ने माता के गर्भ में सब सामग्री इकट्ठी कर दी और अनेक अंगों से सम्पन्न शरीर की रचना होने लगी॥ 2॥ माता के प्रज्वलित पेट की अग्नि में बच्चे का शरीर पकता एवं बढ़ता है। उसमें जीव के अपने कर्म ही उसके शरीर के प्रतिपालक होते हैं॥ 3॥ माता के सजग रहन-सहन, पेट के रेचन तथा दाई और वैद्य-डॉक्टरों के बहुत यत्न से बच्चा बाहर आता है, तब उसके लिंग जानकर उसके पुरुष या स्त्री वाचक नाम रखे जाते हैं॥ 4॥ यदि अपने घर का लड़का एवं अपना पुत्र अज्ञानी हो और वह अज्ञानयुत काम करता हो, तो उसके साथ गलत कर्म में सयाने पिता को नहीं जाना चाहिए। तात्पर्य है कि यदि मन गलत चीजों में भागता है, तो जीव को उसके साथ नहीं जाना चाहिए॥ 5॥ मैंने अपनी सच्ची बात कह दी; किन्तु लोग दूसरे की भ्रामक बातें सुनकर उन्मत्त हो रहे हैं॥ 6॥ गाय और भैंस के स्तन में हो या दुहकर पात्र में रखा हो, दूध का प्रकार एक ही है। इसी प्रकार माता के गर्भ में या बाहर पैदा होकर इन्सान का तत्त्व एक ही है। फिर किसको ब्राह्मण कहा जाये और किसको शूद्र॥ 7॥ अतः मिथ्या अहंकार में कोई मत भूलो। हिन्दू और मुसलमान दोनों कुल असत्य हैं॥ 8॥

जिसने इस शरीर तथा इसके झूठे जाति, वर्ण एवं नाना कल्पनाओं के चित्र बनाये हैं, वह शरीर के भीतर बैठा सूत्रधार अविनाशी चेतन ही सत्य है। सद्गुरु कहते हैं कि वे ही लोग समझदार हैं जो सारे चित्रों के रचयिता चेतन को समझ लेते हैं॥ 26॥

व्याख्या—इस रमैनी में सद्गुरु कुम्हार, बरतन, आंवा आदि का आकर्षक रूपक प्रस्तुत कर मानव-शरीर की रचना का प्रारूप बताते हैं। इसके बाद वे क्रमशः तीन महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डालते हैं—(1) मन के बुरे पथ में न जाना, (2) मानव मात्र में तात्त्विक एकता एवं (3) सारे दृश्य-चित्रों से द्रष्टा चेतन स्वरूप की सर्वोपरि महत्ता। हम इन बातों पर खुलासा विचार करें।

"आपुहि कर्ता भये कुलाला" यह अविनाशी जीव स्वयं उसी प्रकार शरीर-रचना का कर्ता बनता है जैसे कुम्हार बरतन बनाता है। कुम्हार का उदाहरण उपलक्षण मात्र है। कुम्हार तो मिट्टी लेकर अलग से बरतन बनाता है, परन्तु जीव वासना-वश माता के गर्भ में आकर और रज-वीर्य में सम्मिलित होकर शरीर बनाता है। जीव गर्भ में कोई विचारपूर्वक शरीर नहीं बनाता, किन्तु उसके

वहां रहने से उसके साथ ही कर्म-वासनाओं के संयोग से रज-वीर्य से शरीर की रचना स्वयं होती है। मिट्टी, जल, प्रकाश, ऊष्मा, वायु आदि साधक तत्त्वों को पाकर बीज से अंकुर स्वयमेव फूटते हैं। उसके लिए अलग से किसी देवता की प्रेरणा की जरूरत नहीं होती । इसी प्रकार जीव, जीव के साथ कर्मवासनाएं, माता-पिता के रज-वीर्य एवं समस्त उपयुक्त साधन पाकर देह की रचना स्वयं होती है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "विधि ने सबै कीन्ह एक ठाऊँ।" यह विधि क्या है? वस्तुतः यहां 'विधि' का अर्थ है 'नियम'। पौराणिक बुद्धि वाले विधि शब्द मन में आते ही ब्रह्मा नाम के किसी व्यक्ति एवं तथाकथित देवता की कल्पना करने लगते हैं, किन्तु विधि एवं ब्रह्मा नाम का कोई देवता न था और न है जो सबकी रचना करता हो। वस्तुतः जड़ और चेतन के संयोग से शरीर की रचना होती है और शरीर-रचना के उनमें अपने नियम हैं। वे नियम ही 'विधि' है। सद्गुरु ने कहा "विधि ने सबै कीन्ह एक ठाऊँ।" सृष्टि के नियमों ने शरीर-रचना की सारी सामग्री इकट्ठी कर दी और अनेक प्रकार के अंगों के सहित शरीर बनने लगा।

जो लोग जड़-चेतन के धर्म-स्वभाव तथा कारण-कार्य-व्यवस्था को नहीं समझते, वे भोले मानते हैं कि माता के गर्भ में कोई देव या ईश्वर बैठकर बच्चे के शरीर को बनाता है। चारों खानियों में असंख्य जीवों के शरीरों की रचना हरक्षण होती है। एक ईश्वर कहां-कहां बैठकर किसका-किसका शरीर बनाता रहेगा? वस्तुतः सृष्टि-नियम ही शरीर रचना में कारण हैं, जो एक ही काल में असंख्य जीवों की शरीर-रचना करने में समर्थ हैं। हिरन के सींग को कौन ऐंठ देता है? पत्तों में नसें, असंख्य वस्तु और प्राणियों की देहों में आकृति और रंग, मयूर के पंखों में विचित्रता कौन करता है? ये सब होने के अपने-अपने नियम हैं। बीजी असर है। यही 'विधि' है और यही 'नियम' है।

"जठर अग्नि मों दीन्ह प्रजारी। तामहँ आपु भये प्रतिपाली।" जिस जठराग्नि में रोटी, पूरी, साग, चबैना आदि कठोर-कठोर खाद्य पदार्थ भी गलकर पच जाते हैं, उसमें जीव का शरीर पकता और बढ़ता है। यह ठीक है कि भोजन पचने की आंत अलग होती है और बच्चादान अलग, परंतु वे दोनों पेट में ही रहते हैं। उसमें उसकी कौन रक्षा करता है? स्वयं जीव के अपने कर्म ही उसके रक्षक हैं। यदि कहो ईश्वर रक्षक है, तो कितने ही गर्भस्थ शिशु अपंग हो जाते हैं या मृत पैदा होते हैं वहां ईश्वर रक्षक नहीं रहा। वस्तुतः जीव के जैसे अपने कर्म होते हैं, वैसे गर्भ से लेकर जन्म, जीवन, बुढ़ापा, मृत्यु एवं पुनः गर्भवास में उसे सुख-दुख की प्राप्ति होती है। यही तथ्य है और यही सिद्धान्त मनुष्यों को कर्म-सुधार के लिए प्रेरित कर सकता है।

"बहुत जतन कै बाहर आया" समझदार गर्भवती माता गर्भकाल में बड़ी सावधानी से एवं बहुत यत्न से रहती है। यत्न कहते हैं साधन या तरीके को। पुरुष से अलग रहना। सुपाच्य, सात्त्विक और स्वल्प भोजन करना। अच्छे विचार रखना। अच्छी वाणी बोलना। सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय और सत्संग कर अच्छे संस्कार बनाना आदि अनेक यत्नों से माता अपने गर्भ का सेवन करती है। गर्भवती माता का खाना, पीना, सांस लेना तथा विचार करना ही गर्भस्थ शिशु का खाना, पीना, सांस लेना तथा विचार करना है। गर्भधारण करना नारी की बहुत बड़ी जिम्मेदारी का काम है। समझदार गर्भवती बहुत यत्न से रहती है। फिर बच्चा के पैदा होने में दाई तथा डॉक्टरों के भी सहयोग हुआ करते हैं।

"तब शिव शक्ती नाम धराया" पैदा होने पर ही पता लगता है कि लड़का है या लड़की। पश्चात उसके शिव या शक्ति अर्थात नर या नारी-व्यंजक नाम रखे जाते हैं।

शिशु अवस्था तो प्रायः बेभान की रहती है। बाल्यकाल और किशोरावस्था में वह संस्कारों को ग्रहण करता और सीखता है। जवानी आते ही वह अपने जीवन में अनेक हस्तक्षेप करने लगता है। उसका मन संसार के विषयों में चलने लगता है। सद्गुरु कहते हैं—"घर का सुत जो होय अयाना। ताके संग न जाहु सयाना॥" जैसे घर के बच्चे यदि कहीं बाहर जाकर झगड़ा कर लें या कोई खोटा कर्म कर लें तो घर के सयाने तथा समझदार लोग उन बच्चों के झगड़े एवं खोटे कर्मों का पक्ष नहीं लेते; बल्कि उन्हें समझाकर सही रास्ते पर लाते हैं; वैसे यह मन घर का सुत है। अर्थात यह मन शरीरधारी जीव का बच्चा है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम्हारा मन कहीं गलत जगह में जाये, तो तुम भी उसके साथ मत बह जाओ।

जीवन को काममय देखने वाले प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ही नहीं सब समय में ऐसे विचार के लोग रहे तथा आज भी हैं, जो यह कहते पाये जाते हैं कि मन में जो कुछ उठे उसे कर लेने से मन में कोई ग्रन्थि, पीड़ा एवं पाप नहीं रह जाते। परन्तु वे स्वयं मन के अनुसार एक दिन भी चलने लगें तो समाज उनका कचूमर निकाल दे। मनुष्य के मन में पता नहीं कैसे-कैसे ऊलजलूल विचार क्षण-क्षण उठ पड़ते हैं। यदि मनुष्य उनके अनुसार काम करने लगे, तो न वह समाज में जी सकता है और न समाज उसे क्षमा कर सकता है। ऐसे लोग समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हो जायेंगे। आदमी एकांत में चुपचाप बैठ जाये और मन में जो-जो संकल्प उठें, उन्हें एक कागज पर नोट कर ले, तो उस कागज को वह दूसरे को नहीं दिखा सकेगा। फिर उसके अनुसार वह आचरण करके कैसे जी सकता है? अतएव सद्गुरु का यह कथन अत्यन्त आदरणीय है कि मन के बहकावे में समझदार को नहीं जाना चाहिए। सदैव मन को देखना

चाहिए। उसकी निगरानी रखना चाहिए और उसे अपने वश में रखना चाहिए। यही सुख से जीने तथा समाज के साथ न्याय करने का तरीका है।

सद्गुरु कहते हैं "साँची बात कही मैं अपनी। भया दिवाना और की पुन्ही॥" मैंने अपनी सच्ची बातें कह दी हैं। अब दूसरे की प्रमादी बातें सुनकर लोग दिवाने बनते हैं, तो उनके सुधारने का क्या चारा है! 'पुन्हीं' शब्द पुनः के लिए प्रयुक्त है।

"गुप्त प्रगट है एकै दूधा। काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा। झूठे गर्भ भूलो मति कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई॥" ये दोनों चौपाइयां बड़ी मार्मिक हैं। तथाकथित बड़े-बड़े विद्वान, मुल्ला, पण्डित जिस भेदभाव को 'शिव-चाप' समझकर उसके निकट नहीं फटकते, उसे कबीर साहेब तृण के समान तोड़कर फेंक देते हैं। दूध चाहे गाय के स्तन में हो या दुहकर पात्र में रखा हो, एक ही समान है। इसी प्रकार माता के गर्भ में या पैदा होने के बाद, मानव एक समान है। सबकी चेतना का गुण एक है। सबके शरीर में लगे तत्त्व एक से हैं। सबका शरीर माता के गर्भ में रज-वीर्य से बनता है। सभी माताएं बच्चों को एक ढंग से पैदा करती हैं, मल साफ करती हैं, दूध पिलाती हैं तथा रक्षा करती हैं। इस प्रकार सभी मानव एक ही समान हैं, फिर इनमें किसको मूलतः ब्राह्मण कहा जाये, किसको शूद्र, किसको हिन्दू कहा जाये और किसको मुसलमान!

गुरुदेव कहते हैं "झूठे गर्भ भूलो मति कोई।" ब्राह्मण, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान होने का अहंकार झूठा है। इस मिथ्याभिमान में कोई मत भूलो। मनुष्य को ब्राह्मण, शूद्र एवं हिन्दू, मुसलमान की दृष्टि से न देखो। एक दूसरे को मानव की दृष्टि से देखो। सब मानव केवल मानव हैं। सबके साथ प्रेम का व्यवहार करना मानवता है।

"जिन्ह यह चित्र बनाइया, साँचा को सूत्रधारि" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। ये ब्राह्मण-शूद्र के चित्र, हिन्दू-मुसलमान के चित्र, नाना मान्यताओं के चित्र और अन्ततः कर्मवश शरीर रूप चित्र जिसने बताया है, वह चेतन जीव ही सच्चा सूत्रधार है। परदे के भीतर बैठकर सूत्र के सहारे कठपुतलियों को नचाने वाले को सूत्रधार कहते हैं, अथवा नाट्यशाला के व्यवस्थापक एवं प्रधान नट को सूत्रधार कहते हैं। शरीर के भीतर बैठकर स्मृति-सूत्र के आधार पर इन्द्रिय-मन को नचाने वाला ही सूत्रधार है। मान्यताओं के सारे चित्र यही बनाता है। ज्ञान-विज्ञान का जहां तक फैलाव है, सबका सूत्रधार मनुष्य जीव है। सद्गुरु कहते हैं, वे ही भले हैं, "जो चित्रवन्तहि लेहि निहारि।" चित्र रचयिता अपनी रचना में भूल गया है। वही ज्ञानी है, जो अपने चेतन-स्वरूप को पहचान ले। सबका कल्पक, ज्ञाता, बोद्धा, साक्षी चेतन-स्वरूप तुम्हारा है। इसे समझो! सार यह है कि मानव की आत्मा ही सर्वोच्च है।

संसार प्रकृति-पुरुषमय है

रमैनी-27

ब्रह्मा को दीन्हों ब्रह्मण्डा। सप्त दीप पुहुमी नौ खण्डा॥ 1॥
सत्य सत्य कहि विष्णु दृढ़ाई। तीन लोक मा राखिन जाई॥ 2॥
लिंग रूप तब शंकर कीन्हा। धरती खीलि रसातल दीन्हा॥ 3॥
तब अष्टंगी रची कुमारी। तीन लोक मोहा सब झारी॥ 4॥
दुतिया नाम पार्वती को भयऊ। तप कर्ते शंकर कहँ दियऊ॥ 5॥
एकै पुरुष एक है नारी। ताते रची खानि भौ चारी॥ 6॥
सर्वन बर्वन देव औ दासा। रज सत तम गुण धरति अकाशा॥ 7॥
साखी—एक अण्ड ओंकार ते, सब जग भया पसार।
कहहिं कबीर सब नारि राम की, अविचल पुरुष भ्रतार॥ 27॥

शब्दार्थ—सर्वन=शर्मा, ब्राह्मण। बर्वन=वर्मा, क्षत्रिय। देव=वैश्य। दासा=शूद्र।

भावार्थ—अष्टांगी आद्या ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड दिया, जिसमें यह सात द्वीपों एवं नौ खण्डों वाली पृथ्वी है॥ 1॥ उसने विष्णु को सत्यवादी पाया और उनके सत्यव्रत की प्रशंसा कर तीसरे लोक (स्वर्ग) में उनको स्थान दिया॥ 2॥ तब शंकर ने अपना लिंग रूप बनाकर उसे पृथ्वी में गाड़ दिया और वह पृथ्वी के निचले हिस्से तक चला गया। फलतः रसातल ही उनको स्थान मिला॥ 3॥ फिर अष्टांगी ने तीन कुमारियां रचीं सरस्वती, लक्ष्मी एवं सती। इन्हें देखकर तीन लोक के सभी लोग मोहित हो गये अथवा तीनों गुणों से संयुक्त ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर अत्यन्त मोहित हो गये॥ 4॥ सरस्वती और लक्ष्मी क्रमशः ब्रह्मा तथा विष्णु की पत्नी बनकर उनके साथ सदैव रहीं, और सती महादेव की; किन्तु सती दक्षप्रजापति के यज्ञ में जल मरने से दूसरे जन्म में पार्वती नाम से प्रसिद्ध हुईं, और उन्हें तपस्यालीन शंकर को दे दिया गया॥ 5॥ वस्तुतः पुरुष रूप एक चेतनकोटि है तथा नारीरूप एक प्रकृतिकोटि है। इन्हीं से चारों खानियों की रचना है। अथवा एक नारी और पुरुष के पारस्परिक आसक्तिवश ही जीव चारों खानियों में भटकते हैं॥ 6॥ इस धरती और आकाश के बीच में सतोगुणी ब्राह्मण, रजोगुणी क्षत्रिय, रजतम युक्त वैश्य एवं तम गुण सहित शूद्र का निर्धारण हुआ॥ 7॥

कहते हैं ओंकार ही एक अंड एवं बीज रूप है और उसी से सारे विश्व का फैलाव हुआ। कबीर साहेब कहते हैं कि सब उपासक लोग उस राम एवं ओम को अविचल पुरुष पति मानकर उसकी पत्नी बन रहे हैं॥ 27॥

व्याख्या—उक्त रमैनी में पौराणिक कथा का वर्णन है। इस ढंग से हिन्दू पुराणों में अदल-बदल कर अनेक कथाएं आयी हैं। जो लोग तथाकथित

दैवीशक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं उनके ख्याल से अष्टांगी आद्या या देवी से ही ब्रह्मा, विष्णु, शंकर पैदा होते हैं। उस देवी ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड या पृथ्वी का राज्य और विष्णु को स्वर्ग का राज्य दिया। इन दोनों को अहंकार हुआ, तब उसने शंकर को लिंग रूप बनाकर पृथ्वी में गाड़ दिया। उस लिंग की अनंतता को देखकर ब्रह्मा और विष्णु का अहंकार दूर हो गया, और आद्या ने पाताल ही शंकर का निवास दे दिया।

एक ओंकार ही अंड है, बीज है और उसी से सारे संसार की उत्पत्ति है। राम पति है और सब जीव उसकी पत्नियां हैं। यह सारी बातें पौराणिक एवं भावुक उपासकों की कल्पनाएं हैं। कबीर साहेब व्यंग्य में कहते हैं "कहहिं कबीर सब नारि राम की, अविचल पुरुष भ्रतार" ये भावुक लोग अपने से पृथक किसी अविचल पुरुष को अपना भ्रतार मानकर उसकी पत्नी बनते हैं, जो एक कुसंस्कार है। बीजक में जगह-जगह सद्गुरु ने दूसरों की कल्पित बातें इसलिए रखी हैं कि उनकी वास्तविकता की परख की जा सके। सद्गुरु ने ज्ञान चौंतीसा के शुरू में ही कहा है कि ओंकार को लिखकर जो उसे काट सकता है वह मानव उससे श्रेष्ठ है। किसी तथाकथित पति की पत्नी बनने की बात का खण्डन शब्द 35 तथा 36 में सद्गुरु ने स्वयं किया है।

सृष्टि का नये सिरे से उत्पन्न होने का खंडन सद्गुरु ने सातवीं रमैनी में प्रश्नवाचक चौपाइयां कहकर स्वयं कर दिया है "तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी॥" अर्थात जड़-चेतन स्वयंभू एवं अनादि हैं। उनके गुण-धर्म भी उनमें अनादि हैं और उनसे सृष्टि भी अनादि है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर रज, सत एवं तम गुण के प्रतिनिधित्व करने वाले काल्पनिक देवता हैं। पूरा बीजक पढ़ लेने पर इन बातों का खुलासा हो जाता है।

इस रमैनी की छठीं चौपाई से साफ हो जाता है कि नारी-पुरुष से ही सृष्टि होती है। अथवा पुरुष-प्रकृति, चेतन-जड़ के गुण-धर्मों से संसार-चक्र चलता है।

"सर्वन बर्वन देव औ दासा" अर्थात शर्मा (ब्राह्मण), वर्मा (क्षत्रिय), देव (वैश्य) और दास (शूद्र) को क्रमशः सतोगुण, रजोगुण, रजो-तमो मिश्रित एवं तमोगुण युक्त मान लिया गया। परन्तु देखा जाता है सभी तथाकथित वर्णों में सभी गुण वाले मनुष्य हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जो विशेष सतोगुणी है, वह ब्राह्मण है। वह भले ही किसी कुल में पैदा हो। इसी प्रकार जो रजोगुणी है वह क्षत्रिय है, जो रज-तम मिश्रित है वह वैश्य है तथा जो तमोगुणी विशेष है वह शूद्र है, फिर ये किसी भी कुल में पैदा हुए हों।

तथ्य तो यह है कि आज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम युगबाह्य हो गये हैं। आज इन नामों की कोई आवश्यकता नहीं हैं। आज तो हर व्यक्ति को अच्छा आदमी बनना चाहिए।

कर्म-पट बीनने वाला जीव-जोलाहा

रमैनी-28

अस जोलहा काहु मर्म न जाना। जिन्ह जग आनि पसारिनि ताना॥ 1॥
धरति अकाश दोउ गाड़ खँदाया। चाँद सूर्य दोउ नरी बनाया॥ 2॥
सहस्त्रतार ले पूरनि पूरी। अजहूँ बिने कठिन है दूरी॥ 3॥
कहैं कबीर कर्म से जोरी। सूत कुसूत बिने भल कोरी॥ 4॥

शब्दार्थ—जोलहा=जीव। गाड़=गड्ढा।

भावार्थ—ऐसे जोलाहा का भेद कोई नहीं जान सका जिसने जगत में आकर ताना फैलाया॥ 1॥ उसने धरती और आकाश दोनों को गड्ढा बनाया, और चांद तथा सूर्य को नरी बनाया॥ 2॥ और हजार सूत लेकर भरना करने लगा। वह आज भी बीनता है। उसकी यह आदत दूर होना कठिन है॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह जोलाहा कर्म के बन्धन को जोड़कर अच्छे-बुरे कर्म रूप सूत को अच्छी तरह बुन रहा है॥ 4॥

व्याख्या—विषयों के अध्यास में जकड़ा हुआ संसारी जीव ही जोलाहा है, जो बारम्बार जगत में जन्म लेकर कर्मों के ताना-बाना फैलाता है। परन्तु वह खुद अपने जोलाहेपन को, अर्थात कर्मजाल को नहीं समझ पाता, न वह अपने शुद्ध चेतन स्वरूप को समझता है कि मेरी क्या गरिमा है और न यही समझता है कि मैं क्या कर रहा हूं। मैं ही अपने कर्मजाल का बीनने वाला तथा तोड़ने वाला हूं, इस रहस्य को नहीं जानता। इसीलिए अनादिकाल से कर्मों का पट बुनता जा रहा है।

सद्गुरु जोलाहे के करघे का सुन्दर रूपक उपस्थित करते हैं। वस्त्र बुनने का करघा जहां स्थापित किया जाता है, वहां नीचे गड्ढा होता है, जिसमें पैर डालकर जोलाहा बैठता है और पट बुनता है। 'नरी' उस लकड़ी को कहते हैं जिसमें भरनी के लिए सूत लपेटा रहता है। जैसे प्रकृति ने मानो सृष्टि-पट बुनने के लिए पृथ्वी तथा आकाश को गड्ढा खुदाया हो और चांद तथा सूर्य को एवं रात और दिन को नरी बनाया हो; वैसे कर्मी जीव शरीर का अधोभाग रूपी पृथ्वी तथा ऊर्ध्व एवं शिरोअंग रूपी आकाश के गड्ढे खुदाये हैं, और इडा तथा पिंगला को नरी बनाकर जीवन एवं कर्म रूपी वस्त्र बुन रहा है। नाक के बायें छिद्र के श्वास को इडा तथा चन्द्र नाड़ी कहते हैं और दांयें छिद्र के श्वास को पिंगला तथा सूर्य नाड़ी कहते हैं। "चाँद सूर्य दोउ नरी बनाया" का अभिप्राय है इडा तथा पिंगला नाड़ी को नरी बनाया। इसी से जीवन का वस्त्र बुनता है और कर्मों का वस्त्र तैयार होता है।

"सहस्रतार ले पूरनि पूरी" यहां 'सहस्र' का अभिधा अर्थ एवं शब्दार्थ नहीं लेना चाहिए, किन्तु लक्षणा अर्थ लेना चाहिए। सहस्र का लक्षणा अर्थ है असंख्य। जैसे प्रकृति मानो असंख्य तारों एवं नक्षत्रों से सृष्टि-पट सम्पन्न करती है; वैसे जीव असंख्य श्वासों से जीवन-पट सम्पन्न करता है तथा असंख्य कर्मों से कर्मजाल का वस्त्र बुनता एवं भरनी भरता है।

"अजहूँ बिने कठिन है दूरी" सद्गुरु का यह वाक्य प्रपंची जीवों के मोह तोड़ने के लिए मर्मभेदी है। जीव अनादिकाल से कर्मों का वस्त्र बुन रहा है; किन्तु आज भी इसका मोह नहीं गया है। आज भी यह कर्मों का जाल बुनता जाता है। करने, खाने, देखने, सुनने, पाने आदि की तृष्णा समाप्त ही नहीं होती है। सद्गुरु कहते हैं "कठिन है दूरी" इसका दूर होना कठिन है। विषयों का राग इतनी गहराई में गड़ा है कि वह निकल ही नहीं रहा है। जब तक चित्त से राग नहीं निकलता, तब तक कर्मों का वस्त्र बुनना बन्द नहीं हो सकता।

किसी साधक को इसलिए साहसहीन नहीं होना चाहिए कि सद्गुरु तो स्वयं कहते हैं कि "कठिन है दूरी" अर्थात यह कर्म-बन्धन दूर होना ही कठिन है। यहां सद्गुरु संसारियों की राग-लिप्सा पर प्रकाश डालते हैं। सद्गुरु के इस बीजक में साहस के सैकड़ों वचन हैं। केवल एक साखी लें—

तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न सूर।
तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर॥ (साखी 205)

पूर्ण ज्ञान होने पर कर्मों का जाल भस्म हो जाता है। "कहैं कबीर कर्म से जोरी। सूत कुसूत बिने भल कोरी॥" सद्गुरु कहते हैं कि यह कर्मी जीव रूपी कोरी अर्थात जोलाहा अपने आप को निरन्तर कर्मों से जोड़े रखता है। और 'सूत कुसूत' अर्थात अच्छे और बुरे—सभी कर्मों का वस्त्र बुनता रहता है। इस चौपाई में आया हुआ 'भल' शब्द कर्म वस्त्र बुनने का क्रियाविषेषण है। जोलाहा अच्छे-बुरे सूत को लेकर वस्त्र निपुणता से बुनता है। अर्थात जीव शुभाशुभ कर्मों के धागे को लेकर भव-बन्धन का वस्त्र अच्छी तरह बुनता है और इसी में सदैव उलझा रहता है।

सद्गुरु ने इस रमैनी में जोलाहा, करघा, गड्ढा, नरी, सूत आदि का सुन्दर रूपक दिया है और प्राकृतिक धरती, आकाश, चांद, सूर्य आदि का उदाहरण पेश किया है। गुरुदेव के अनेक वचन श्लेषात्मक, द्वयर्थक एवं अलंकार युक्त होते ही हैं। किन्तु इस रमैनी में सद्गुरु मुख्य बात यह बताना चाहते हैं कि जीव बारम्बार अपने बनाये हुए कर्मजालों में उलझ रहा है। वह आज भी नहीं जाग रहा है। आज भी अच्छे-बुरे कर्मों में उलझा है। उसे अपनी सत्ता और महत्ता का भान नहीं है। मैं ही अपने कर्मों का कर्ता तथा विधाता हूं। मेरे बन्धन मेरे ही

बनाये हैं और मैं ही उन्हें तोड़ सकता हूं, इसका उसे पता नहीं है। "अस जोलहा काहु मर्म न जाना" इसी भाव का उद्भावक है। नाना मत के गुरु लोग भी प्रायः जीव को हरि-इच्छा-अधीन बताकर उसको स्वरूपशोधन एवं पौरुष से दूर ही करते रहते हैं। जब तक जीव स्वयं नहीं जगेगा, उसका बन्धन नहीं छूट सकता।

रजोगुण से उठकर स्वरूपज्ञान में स्थित होओ

रमैनी-29

बज्रहु ते तृण खिन में होई। तृण ते बज्र करै पुनि सोई॥ 1॥
निझरू नीरु जानि परिहरिया। कर्म का बाँधा लालच करिया॥ 2॥
कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया। झूठा नाम साँचले धरिया॥ 3॥
रज गति त्रिविधि कीन्ह परकाशा। कर्म धर्म बुधि केर बिनाशा॥ 4॥
रवि के उदय तारा भौ छीना। चर बीहर दूनों में लीना॥ 5॥
विष के खाये विष नहिं जावै। गारुड़ सो जो मरत जियावै॥ 6॥

साखी—अलख जो लागी पलक में, पलकहि में डसि जाय।
विषहर मन्त्र न मानै, तो गारुड़ काह कराय॥ 29॥

शब्दार्थ—खिन=क्षण। निझरू नीरु=जलप्रतात। चर-बीहर=जंगम-स्थावर, चल-अचल। गारुड़=सांप का जहर दूर करने वाली औषध, तात्पर्य में सत्योपदेश या सद्गुरु।

भावार्थ—यह मन क्षण में वज्र को तृण तथा तृण को वज्र बना देता है॥ 1॥ इसलिए विवेकीजन मन को निर्झर-प्रपात समझकर और इसके द्रष्टा बनकर इसका त्याग करते हैं। परन्तु कर्म-बन्धनों में बंधे हुए लोग भोगों के लालच में जीवन खोते हैं॥ 2॥ वे कर्म, धर्म, मति और बुद्धि की उपेक्षा करते हैं, और झूठे नाम को सत्य समझकर उसी की माला फेरने लगते हैं॥ 3॥ ऐसे लोगों के मन में रजोगुण की गति तीव्र, तीव्रतर एवं तीव्रतम हो जाती है, उसमें उनके कर्म, धर्म और बुद्धि का विनाश हो जाता है॥ 4॥ जिस प्रकार चर-अचर में लीन होकर उन्हें प्रकाशित करने वाला तारों का प्रकाश सूर्य के उदय होने पर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार स्वरूपज्ञान होने पर लौकिकज्ञान का अहंकार नष्ट हो जाता है॥ 5॥ विष का प्रभाव पुनः विष खाने से नहीं मिटता। विष को दूर करने वाली औषध उसे कहते हैं, जो विष के प्रभाव से प्रभावित मरणासन्न व्यक्ति को पुनः जीवन दे दे। अर्थात वह ज्ञान ज्ञान नहीं कहला सकता जो भवव्याधि को बढ़ाये, किन्तु उसे मिटाने वाला ही ज्ञान है॥ 6॥

मनुष्य के लक्ष्य में जो अगम-अगोचर की अवधारणा है, उसी में वह डंसा एवं मारा जा रहा है। यदि अज्ञान विष को दूर करने वाले सत्योपदेश रूपी मन्त्र को व्यक्ति नहीं मानता है, तो सत्योपदेश या उपदेष्टा गुरु क्या करेगा!॥ 29॥

व्याख्या—"बज्रहु ते तृण खिन में होई। तृण ते बज्र करै पुनि सोई॥" यह मन की कल्पना वज्र को तृण तथा तृण को वज्र बना देती है। कभी-कभी मन इस प्रकार सुलझे हुए ढंग से सोचने लगता है कि विकट प्रतीत होने वाली समस्या अत्यन्त सरल दिखने लगती है, और कभी-कभी वह सरल दिखने वाली बात को बड़ी उलझी हुई दुर्गम मान लेता है। मन की दशा ऐसी है कि "कबहिं भरलि बहै कबहिं सुखाय" (शब्द 51)। मन क्षण में अविवेकपूर्ण कल्पना से दुखों का पहाड़ खड़ा कर लेता है और क्षण में कुछ ऐसी बातें सोच लेता है जिससे हृदय खुशी से भर जाता है।

इसलिए विवेकवान पुरुष "निझरू नीरु जानि परिहरिया" मन को एक निर्झर-प्रपात के समान देखते हैं। मन सुषुप्ति तथा समाधि के अतिरिक्त समय में झरने के समान निरन्तर बहता रहता है। विवेकवान मन के प्रवाह को देखकर उसके हर्ष-शोक का त्याग करते हैं। दुखों से छूटने का तरीका यही है कि अपने आप को शुद्ध चेतन समझकर मन से अलग कर लिया जाये।

दूसरे लोग "कर्म का बाँधा लालच करिया" भोगों के लोभ में पड़े रहते हैं, इसलिए वे कर्मों के बन्धनों में बंधे रहते हैं। सारे कर्मों के बन्धनों की जड़ लालच है। वे ही कर्म जीवों को बांधते हैं, जिनमें लालच, लोभ एवं सकाम भावना है। सकामी मनुष्य "कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया" कर्म, धर्म, मति, बुद्धि सबका मानो त्याग कर देता है। लालची एवं सकामी मनुष्य न कर्म के स्वरूप को ठीक से समझकर उसे कर सकता है, न धर्म के तत्त्व को ठीक से समझकर उसका आचरण कर सकता है और न उसकी विवेकवती बुद्धि तथा मति ही होती है।

"बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा"

तात्कालिक विषयों पर समीक्षा करने वाली मानसिक शक्ति बुद्धि है और भविष्य के विषय में सही निर्धारण कर लेने वाली मति है। लालची एवं सकामी मन इतना भावुक एवं धुंध भरा होता है कि वह वर्तमान और भविष्य दोनों के विषय में सही निर्णय कम कर पाता है। जब बुद्धि और मति ही दिग्भ्रमित हो तो उनसे कर्म और धर्म के सच्चे स्वरूप को कैसे समझा जा सकता है! सकामी मन निष्काम कर्म समझने से रहा। सकामी मनुष्य का कर्म भी व्यापार होता है और धर्म भी व्यापार होता है। इस प्रकार लालची आदमी कर्म, धर्म, मति, बुद्धि सबकी उपेक्षा करता है।

"झूठा नाम साँच ले धरिया" कहा जाता है वह क्या है, जो सब में है और उसमें कुछ नहीं है? उत्तर है 'नाम'। सारी वस्तुओं को समझने के लिए उनके नाम रख लिये जाते हैं; परन्तु नाम अपने आप में कुछ नहीं है। सारे

नाम काल्पनिक हैं। कोई भी नाम-जप एक साधारण साधन है, परन्तु कितने ही लोग कर्म, धर्म, मति-बुद्धि का परित्यागकर झूठे एवं काल्पनिक नाम को ही परम सत्य मान रात-दिन उसी के जपने में दृढ़ हो जाते हैं। अथवा अविवेकी मनुष्य ऐसी झूठी धारणाओं को मन में स्थान दिये रखता है जिनके केवल नाम हैं, किन्तु उनका तथ्य कहीं नहीं है और नाम अपने आप में स्वयं काल्पनिक है। वाणी जाल को देखिए तो भूत-प्रेत, देवी-देवादि-व्यंजक कितने ही नाम हैं जो मानवीय वातावरण में गूंजते रहते हैं, परन्तु उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

"रजगति त्रिविधि कीन्ह परकाशा" सत, रज, तम तीनों गुणों में 'रजगुण' क्रिया-प्रधान है। रजगुण की क्रिया के तीन प्रकार हैं—तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम। रजगुण की जितनी तीव्रता होती है उतनी ही जीव की बहिर्मुखता होती है। रजोगुण से काम, क्रोध और लोभ पैदा होते हैं। रजोगुण जितना बढ़ता है, उतने ही काम, क्रोध और लोभ के उग्ररूप होते हैं। ये तीनों जितने उग्र होते हैं, उतना ही 'कर्म धर्म बुधि केर विनाशा" होता है। पवित्रभाव से लोकमंगलकारी कर्म ही कर्म है। धर्म है विश्व के नियम और मानव के कर्तव्य जिनसे 'स्व' और 'पर' का कल्याण होता है। बुद्धि है अच्छी समझदारी। जहां रजोगुण की वृद्धि में काम, क्रोध तथा लोभ का प्राबल्य है वहां उक्त कर्म, धर्म और बुद्धि का विनाश ही है। रजोगुण की वृद्धि से कामादि और कामादि से आत्मपतन यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

रात में तारागण का प्रकाश चर और बीहर में अर्थात गतिशील और गतिहीन सृष्टि में लीन रहता है और वह प्रकाश स्थावर-जंगम को उद्भासित करता है। किन्तु रवि के उदय होने पर वह क्षीण हो जाता है। इसी प्रकार रजोगुण का प्रकाश सांसारिक वस्तुओं को प्रकाशित करता है। एक अति रजोगुणी व्यक्ति को कहो कि समाधि लगाओ, तो यह उसके मान की बात नहीं है। वह तो एक जगह स्थिर होकर कुछ समय बैठ भी नहीं पायेगा। परन्तु उसको रुपये का एक कोष दे दो और कह दो कि यह-यह काम करो, कराओ, तो वह खुशी से करेगा। रजोगुणी मन सांसारिक वस्तुओं को अधिक महत्त्व देता है। किन्तु जब उसमें स्वरूपज्ञान रूपी सूर्य उदय होता है तब स्थावर-जंगमात्मक संसार में डूबा रजोगुण शांत हो जाता है। जीव का शुद्ध चेतनस्वरूप अचल है और रजोगुण क्रियाशील है। अतएव अचल स्वरूप के ज्ञान एवं स्थिति से क्रियाशील रजोगुण का अन्त होना ही है। इसलिए "रवि के उदय तारा भौ छीना" वचन तथ्यपूर्ण है। स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति से रजोगुण शान्त होता है और जितना रजोगुण शान्त होता है, उतनी स्वरूपस्थिति परिपक्व होती है।

"विष के खाये विष नहिं जावै। गारुड़ सो जो मरत जियावै॥" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि किसी ने विष खा लिया हो और वह उससे प्रभावित होकर मरणासन्न हो, तो क्या उसे पुनः विष खिला देने से उसका विष दूर होगा? वह तो और बढ़ेगा। संसार के लोग स्वरूपज्ञान से रहित रजोगुण एवं विषय-भोगों में उन्मत्त होकर काम, क्रोध, लोभादि में डूबे हैं। यदि वे पुनः उन्हीं विषयों में डूबते हैं तो उनका उद्धार कहां है!

स्थूल बुद्धि वाले स्थूल भोगों में डूबते हैं। किन्तु स्वरूपज्ञान के बिना सूक्ष्म बुद्धि वाले सूक्ष्म विषयों में उलझ जाते हैं। श्री निर्मल साहेब कहते हैं "स्वरूप के बाद सारा विषय जान।" अर्थात अपने शुद्धस्वरूप चेतन के अलावा जहां तक इन्द्रिय गोचर और मनोगत है, सब विषय है। बाहरी शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध तो विषय हैं ही, देवी-देवादि से लेकर ईश्वर-ब्रह्म की अवधारणाएं भी विषय हैं। क्योंकि अवधारणाएं मन के रूप ही होती हैं जो विषय हैं। अतएव उच्चतम लक्ष्य से देखा जाये तो मन की अवधारणाओं में उलझे रहने से कोई अमृतपद स्वरूपस्थिति नहीं पा सकता है। कितने ही गुरु लोग परमतत्त्व के नाम पर जितना उपदेश करते हैं सब मन की अवधारणाएं ही होती हैं। सद्गुरु कहते हैं "गारुड़ सो जो मरत जियावै" 'गारुड़' वह है जो मरते हुए को जिला ले। सर्प-विष के उतारने वाले मन्त्र[1] को गारुड़ कहते हैं। यहां शाब्दिक अर्थ नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। तात्पर्य है कि विषय-विष को दूर करने वाला ही सच्चा उपदेश है जो स्थूल-सूक्ष्म सारे विषयों का निषेधकर व्यक्ति को स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की ओर प्रेरित करता है।

लोग अपनी आत्मा से अलग कहीं अलख अदृश्य ब्रह्म मानते हैं और उसी में पलक लगाते हैं। अर्थात ऐसी अवधारणा को अपना लक्ष्य समझते हैं। पलक लगाना, देखना, तात्पर्य में लक्ष्य लगाना है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे पलक में ही अर्थात ऐसे लक्ष्य में ही जीव डंसा जाता है। अपने स्वरूप से अलग लक्ष्य लगाना ही आत्मिकपतन है। अतएव सद्गुरु का यह मार्मिक वचन "अलख जो लागी पलक में, पलकहि में डसि जाय।" समझने योग्य है।

"विषहर मन्त्र न मानै, तो गारुड़ काह कराय।" विषहर कहते हैं विष को दूर करने वाले को, मन्त्र का अर्थ है राय, सम्मति एवं उपदेश। जो स्थूल तथा सूक्ष्म सारे विषयों के विष को दूर करते हैं, ऐसे सत्योपदेश को यदि व्यक्ति नहीं मानता है तो इसमें न उपदेश का दोष है और न उपदेष्टा का। यह तो उस व्यक्ति

---

1. यहां 'गारुड़' शब्द उदाहरण मात्र है। तात्पर्य में सत्योपदेश, पारख वचन एवं पारखी गुरु है। मंत्र से झाड़ने पर सर्पदंश का विष उतरता है, यह एक भ्रम है। सर्पदंश में आपरेशन, दवाई इत्यादि काम करते हैं, 'चल छू' मन्त्र नहीं।

का ही अपना जड़-संस्कारजनित दोष है। उसे स्वयं ही निष्पक्ष होकर पारखी-वचनों पर ध्यान देना चाहिए। पारख ही 'भरमगढ़' तोड़ सकता है।

अविनाशी का बोध पाखंड से बाहर है

रमैनी-30

औ भूले षट दर्शन भाई। पाखण्ड भेष रहा लपटाई॥ 1॥
जीव शीव का आहि नशौना। चारिउ वेद चतुर्गुण मौना॥ 2॥
जैनि धर्म का मर्म न जाना। पाती तोरि देव घर आना॥ 3॥
दवना मरुवा चम्पा के फूला। मानहु जीव कोटि सम तूला॥ 4॥
औ पृथ्वी के रोम उचारे। देखत जन्म आपनो हारे॥ 5॥
मन्मथ बिन्दु करै असरारा। कल्पै बिन्द खसे नहिं द्वारा॥ 6॥
ताकर हाल होय अदबूदा। छौ दर्शन में जैनि बिगुर्चा॥ 7॥
साखी—ज्ञान अमर पद बाहिरे, नियरे ते है दूरि।
जो जाने ताके निकट है, नहिं तो रहा सकल घट पूरि॥ 30॥

शब्दार्थ—षटदर्शन=योगी, जंगम, सेवड़ा (जैनी), संन्यासी, फकीर और ब्राह्मण। शीव=शिव, कल्याण। असरारा=भेद, रहस्य, लगातार, दुष्ट व्यवहार, अमरौली-बज्रोली क्रिया। बिगुर्चा=धोखा, उलझन।

भावार्थ—और हे भाई! षटदर्शन सम्प्रदाय के लोग अपने टंट-घंट में भूल गये। ये अपने-अपने सम्प्रदाय के पाखण्ड और भेष में लिपटे हैं॥ 1॥ यह सब पाखण्ड जीव के कल्याण का नाशक है। चारों वेदों के भी अपने-अपने गुण हैं परमतत्त्व के विषय में मौन रहना॥ 2॥ जैनी लोग धर्म के रहस्य को नहीं जानते। वे फूल-पत्ती तोड़कर देव मन्दिरों में लाकर अपने तीर्थंकरों की मूर्तियों को चढ़ाते हैं॥ 3॥ दौना, मरुवा, चंपा आदि के फूलों को तोड़कर जब मूर्तियों पर चढ़ाते हैं, तब उनको यह नहीं समझ पड़ता कि हम मानो करोड़ों जीवों की हत्या करने के समान पाप करते हैं, क्योंकि जैनमत में फूल-पत्तियों में असंख्य जीवों के होने की कल्पना की गयी है॥ 4॥ और पार्थिव शरीर के, अर्थात सिर-मुख आदि के बाल उखाड़ते हैं, यह भी एक प्रकार आत्महिंसा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही अपने जीवन को खो रहे हैं॥ 5॥ बज्रोली-क्रियारूप मन्मथ व्यवहार कर वीर्य को साधते हैं। मन में वीर्य के गिरने की कल्पना होती है, परन्तु बज्रोली-अभ्यास के प्रभाव से वह गिरने नहीं पाता॥ 6॥ ऐसे लोगों की दशा अद्भुत है। छह दर्शनी वेषधारियों में जो एक जैनी हैं, इनकी स्थिति ज्यादा उलझनपूर्ण है॥ 7॥

ज्ञानस्वरूप चेतन ही परमपद है। वह षटदर्शनों के पाखण्ड से बाहर है। वह निकट होते हुए पाखण्ड के कारण दूर-सा हो गया है। जो उसे तत्त्व से जानता है उसके निकट है। (निकट भी कहने का एक तरीका है। वस्तुतः वह स्वयं स्वरूप ही है।) जो उसे नहीं जानता, उसके मन में तो कल्पना ही परिपूर्ण हो रही है। अथवा न जानने पर भी वह सभी घटों में विद्यमान है ही॥ 30॥

व्याख्या—योगी, जंगम (शिवाचारी), सेवड़ा (जैनी), संन्यासी, दरवेश (फकीर) तथा ब्राह्मण—ये छह[1] दर्शन हैं। इनके छानबे[2] भेद माने जाते हैं। कबीर साहेब ने जब ये पंक्तियां कही हैं तब से आज तक षटदर्शनों के भेद बढ़े ही हैं। सद्गुरु कहते हैं कि षटदर्शन वेषधारी सांप्रदायिक टंट-घंट, पाखण्ड एवं वेष-बाना के चक्कर में आत्मकल्याण तथा लोककल्याण की बातें भूल गये। आज भी एक ही सम्प्रदाय के हर अखाड़ा, गद्दी और शाखा वाला अपने को बड़ा तथा दूसरे को छोटा मानता है। फिर अलग-अलग सम्प्रदायों के नखरों का कहना ही क्या ! किस सम्प्रदाय, अखाड़ा, गद्दी एवं शाखा वाले का कैसा तिलक है, कैसी माला एवं कंठी है, कैसा वस्त्र, उसके पहनने का ढंग और पूजा आदि कैसे-कैसे नियम हैं, बड़ी बारीकी से इनका विचार होता है और सभी अपने-अपने वेष और नियमों को उच्च तथा दूसरों को तुच्छ बताते हैं। उनके वेष, बाह्याचार एवं गद्दी का इतना जोर हो गया है कि उनमें वे अपने असली स्वरूप को ही भूल गये हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि यह तो "जीव शीव का आहि नशौना" अर्थात जीव के शीव का नशौना है। 'शिव' कल्याण को कहते हैं। यह पाखण्ड जीव के कल्याण का नाशक है।

"चारिउ वेद चतुर्गुण मौना" चारों वेदों में भी कर्मकांड का काफी विस्तार है। स्वरूपज्ञान के विषय में वे भी प्रायः मौन हैं। अर्थात चारों वेदों के अपने गुण हैं आत्मज्ञान के विषय में प्रायः मौन रहना। इसीलिए मुंडक उपनिषद् का ऋषि कहता है—"(दो विद्याएं हैं 'अपरा' तथा 'परा') उनमें 'अपरा' विद्या है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष और जिससे अविनाशी आत्मतत्त्व का बोध होता है वह 'परा' विद्या इन वेद-वेदांगों से परे है।"[3] इसीलिए गीताकार ने कहा—"हे

---

1. योगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेश।
   छठवां कहिए ब्राह्मण, छौ घर छौ उपदेश॥
2. दश संन्यासी बारह योगी, चौदह शेष बखान।
   ब्राह्मण अठारह अठारह जंगम, चौबीस सेवड़ा परमान॥ (पंचग्रन्थी, मानुष विचार)
3. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (मुंडक उप. 1/5)

अर्जुन ! सभी वेद त्रिगुणात्मक जगत का ही ज्ञान कराते हैं। अतएव तुम इनसे रहित निर्द्वन्द्व, नित्य सत्य स्वरूप में स्थित, योग-क्षेम (संग्रह-रक्षा) से उदासीन एवं आत्मपरायण हो जाओ।"[1]

जैनी लोग अहिंसा धर्म पर जोर देते हैं। उनके जीव की व्याख्या में काफी अतिवाद है। वे मिट्टी, जल, अग्नि तथा वायु के कण-कण में जीव मानते हैं। फूल-पत्तों में असंख्य जीवों का निवास मानते हैं। साहेब कहते हैं जैन मतानुसार उन फूल-पत्तों को तोड़कर देवमन्दिरों की मूर्तियों पर चढ़ाना हिंसा है और ऐसी हिंसा करना धर्म नहीं है।

जैनी साधु सिर, दाढ़ी, मूंछ आदि के बाल उखाड़ते हैं और अपने साधु-शिष्यों के बाल उखड़वाने में सहयोग करते हैं। यह भी एक हिंसा है। "औ पृथ्वी के रोम उचारे" का यही अभिप्राय है।

जैनी साधु कच्चा पानी नहीं पीते। कहते हैं पानी के सारे कण जीवधारी हैं। उनके भक्त पानी उबाल देते हैं, भोजन पका देते हैं, तब वे उन्हें ग्रहण करते हैं जिससे उन्हें हिंसा का पाप न लगे। भक्तों को यह भी कहना पड़ता है कि यह गरम जल या भोजन हमारे लिए है, तब साधु लेते हैं। इससे साधु लोग यह मानते हैं कि यह सारा दोष भक्तों पर गया। यदि भक्त साधुओं से कह दें कि आपके लिए है तो पकाने-गरमाने में हुई हिंसा का पाप साधुओं पर चला जायेगा। वर्षा चौमासा में जैनी साधु इकट्ठा रहते हैं। उनके लिए रोज पुष्कल पानी गरमाया जाता है और रोज भक्तों को कहना पड़ता है कि यह हमारे लिए है यह सब पाखण्ड नहीं तो क्या है ! जीवन-निर्वाह सबको करना पड़ता है। उसको सरलता से स्वीकारना चाहिए। अपने निर्वाह के लिए दूसरे को हिंसक बनाकर हम हिंसा के पाप से मुक्त नहीं हो सकते। आडम्बर और दिखावा छोड़कर सरलता ही कल्याण में हेतु है। बड़ा मुश्किल है। धर्म के नाम पर बनी रूढ़ि पत्थर की लकीर बन जाती है। विवेकप्रधान जैनदर्शन मिथ्याचार में उलझा रहे, यह शोभा नहीं देता। आधुनिक युवा जैन साधुओं को इस पर विचार करना चाहिए और हानिकारी रूढ़ियों की बेड़ियों को तोड़ना चाहिए।

'असरार' शब्द अरबी है। इसका अर्थ होता है भेद एवं रहस्य। असरार का अर्थ लगातार भी होता है। सद्गुरु कहते हैं 'मन्मथ बिन्दु करै असरारा' अर्थात काम के वश में होकर वीर्य-स्तम्भन करने का रहस्यात्मक एवं गुप्त अभ्यास करते हैं या लगातार अभ्यास करते हैं। टीकाकारों ने असरार का अर्थ दुष्ट व्यवहार भी माना है। इस प्रसंग में ये सभी अर्थ उपयुक्त लगते हैं।

---

1. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ (गीता 2/45)

'बज्रोली' एक हठयोग की क्रिया है। इसको साधने वाले विशेष क्रिया द्वारा जननेन्द्रिय से क्रमशः पानी, दूध और शहद खींच लेते हैं। अभ्यास परिपक्व होने पर ऐसे लोग स्त्री का संग करते हुए वीर्य गिरने नहीं देते। इस बज्रोली को भोग तथा मोक्ष का साधन मानते हैं। यह सब वासना-तृप्ति का एक साधन है और कल्याणार्थी साधकों का पतनपथ है। ऐसे लोग अपने आप को सिद्ध योगी बताते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग त्याग का दिखावाकर भोगपरायण और मलिन हैं। साधकों को ऐसे-ऐसे मन के धोखे से सदैव दूर रहना चाहिए।

"छौ दर्शन में जैनि बिगुर्चा" बिगुर्चा एवं बिगूचना का अर्थ है उलझन। सद्गुरु कहते हैं कि योगी-जंगमादि छह दर्शनियों में जैन जो सेवड़ा भी कहलाते हैं ज्यादा उलझे हुए हैं। अर्थात अन्य पांच दर्शनी तो उलझे ही हैं, किन्तु जैनी अधिक उलझे हैं। इसका यह अर्थ न समझकर किसी टीकाकार ने छह दर्शन का अर्थ वैदिक-छह दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त लिया है, और अर्थ माना है कि जैनी इन छहों दर्शनों में उलझे हैं। फिर उन्होंने टिप्पणी की है "कबीर यहां भूल करते हैं, क्योंकि जैनी सांख्यादि छह वैदिक दर्शनों को मानते ही नहीं, तो वे उनमें उलझेंगे क्यों?" परन्तु भूल कबीर की नहीं, टीकाकार की है। इस रमैनी के शुरू की ही चौपाई है "औ भूले षटदर्शन भाई। पाखण्ड भेष रहा लपटाई॥" इत्यादि। ऊपर इसका खुलासा हो गया है।

"ज्ञान अमर पद बाहिरे" ज्ञान ही अमर पद है जो षटदर्शन के साम्प्रदायिक जंजाल, वेष, बाह्याचार एवं अहं-हीनत्व से परे है। हर मनुष्य के भीतर ज्ञान की एक अखण्ड ज्योति निरन्तर जलती रहती है। 'मैं हूं' यह भाव सबको सब समय बना रहता है। मैं स्वयं ही ज्ञानस्वरूप हूं। सबके भीतर का 'स्व' ही ज्ञान है और ज्ञान ही 'स्व' है। वह अमरपद है। अमरपद का अर्थ अविनाशी स्वरूप है। चेतन का लक्षण जड़तत्त्व से सर्वथा पृथक एवं स्वतन्त्र है। जड़-तत्त्वों में चेतना गुण न होने से चेतन जड़ से सर्वथा भिन्न है। जो स्वतन्त्र है, वह नित्य है। जो नित्य है वह अमर है। इसीलिए कहा जाता है कि जीव एवं आत्मा अमर है। सद्गुरु कहते हैं यह ज्ञानस्वरूप चेतन अमर है और इस स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति को पाने के लिए षटदर्शन के पाखण्ड की जरूरत नहीं है। साम्प्रदायिक पाखण्ड तो इसके अवरोधक हैं। अतएव यह ज्ञान पाखण्ड के बाहर की वस्तु है। इसके लिए तो निष्पक्षता, विवेक, सदाचार, वैराग्य, भक्ति, सरलता आदि की आवश्यकता है।

यह अमरपद निकट होते हुए भी विषयासक्ति, पाखण्ड, पक्षपात आदि में उलझे हुए लोगों के लिए दूर है—"नियरे ते है दूरि।" यहां 'नियरे' पद का प्रयोग लाक्षणिक है। क्योंकि अपना ज्ञानस्वरूप चेतन व्यक्ति के 'स्व' से अलग

नहीं है। इसलिए वह नियरे नहीं, किन्तु स्वयं है। 'नियरे' तो एक कहने का तरीका है। सद्गुरु कहते हैं "जो जाने ताके निकट है" जिसने समझ लिया कि परमतत्त्व मुझसे अलग नहीं है, उसके लिए वह निकट हो गया है। तात्पर्य में सरल हो गया। अन्यथा "नहिं तो रहा सकल घट पूरि" जिन्हें स्वरूप का ज्ञान नहीं है, उन सबके घट में तो भ्रांति ही भरी है कि परमतत्त्व मुझसे अलग है। अथवा अविनाशी चेतन सब घटों में विद्यमान होते हुए भी अनुभव रहित होने से अविद्यमान के समान है। शराब पी लेने से गले का कंठा भी खोया-जैसा लगता है। अतएव हमें साम्प्रदायिक बाह्याडंबर से हटकर अपने स्वरूप का ज्ञान तथा स्थिति प्राप्त करना चाहिए। यही इस सन्दर्भ का सार है।

क्या धर्मशास्त्रज्ञ होने का फल अहंकार, पाखंड और शोषण है?

रमैनी-31

सुमृति आहि गुणन को चीन्हा। पाप पुण्य को मारग कीन्हा॥ 1॥
सुमृति वेद पढ़ें असरारा। पाखण्ड रूप करें हंकारा॥ 2॥
पढ़ें वेद औ करें बड़ाई। संशय गाँठि अजहुँ नहिं जाई॥ 3॥
पढ़ें शास्त्र जीव बध करई। मूँड़ि काटि अगमन के धरई॥ 4॥
साखी—कहहिं कबीर ई पाखण्ड, बहुतक जीव सताव।
अनुभव भाव न दरशै, जियत न आपु रखाव॥ 31॥

शब्दार्थ—असरारा=(असरार) भेद, रहस्य; लगातार।

भावार्थ—स्मृतियां एवं धर्मशास्त्र गुण-दोषों की पहचान करते हैं और पाप-पुण्य के मार्गों का निर्धारण करते हैं॥ 1॥ लोग वेदों और धर्मशास्त्रों को लगातार पढ़ते हैं तथा उनका भेद जानने की भी उन्हें अहंमन्यता होती है और वे पाखण्ड का रूप खड़ाकर उनका अहंकार करते हैं॥ 2॥ लोग वेद पढ़ते हैं और अपने वेदाध्ययन की बड़ाई करते हैं, परन्तु उस पर भी उनके सन्देह की गांठ नहीं खुलती॥ 3॥ यहां तक पण्डितों का चरित्र है कि शास्त्र पढ़कर एवं शास्त्रोक्त मन्त्र उच्चारण करते हुए बलि के नाम पर जीववध करते हैं और पशुओं के सिर काटकर जड़-मूर्तियों के सामने चढ़ाते हैं॥ 4॥

सद्गुरु कहते हैं इस धर्म के पाखण्ड ने बहुत जीवों को कष्ट दिया है और आज भी दे रहा है। ऐसे लोग अपनी अनुभूत पीड़ा को सामने रखकर दूसरे को दया की दृष्टि से नहीं देखते। जाग्रत जीवन पाकर भी अपनी रक्षा नहीं करते॥ 31॥

व्याख्या—वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रन्थ बने, फिर आरण्यक। उसके बाद सूत्रग्रन्थ। सूत्रग्रन्थ श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र हैं। उसके बाद स्मृति ग्रंथों का एक लम्बा क्रम है। जैसे मनुस्मृति, गौतमस्मृति, पराशरस्मृति, नारद-स्मृति[1] आदि। पहले थोड़ी ही स्मृतियां थीं। पीछे बढ़ती गयीं। फिर 18-20 हो गयीं। उसके बाद 100 तक पहुंच गयीं। कुछ स्मृतियां ईसा की चौथी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक बनती रहीं।

मनुस्मृति में श्रुति और स्मृति के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—"वेदों को श्रुति तथा धर्मशास्त्रों को स्मृति जानना चाहिए।"[2] मनु, गौतम, आपस्तम्ब, पराशर आदि स्मृतियों में वर्णाश्रम-व्यवस्था, सभी वर्णों एवं आश्रमों के कर्तव्य, राजकाज, विधान-कानून आदि का वर्णन है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "सुमृति आहि गुणन को चीन्हा। पाप पुण्य को मारग कीन्हा॥" स्मृतियां वर्णों, आश्रमों एवं राजकाज के गुणों की पहचान करती हैं। वे निर्धारण करती हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के क्या गुण हैं। उन्हें क्या करना चाहिए। पाप और पुण्य क्या हैं; इनका भी वे विधान करती हैं। स्मृतियों में मानवहित की बहुत-सारी बातें हैं, किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वे निष्पक्ष नहीं हैं।

कहा जाता है कि जब वर्णव्यवस्था हुई थी तब केवल काम का बटवारा हुआ था। आपस में कोई भेदभाव नहीं था। उस समय जो हो, परन्तु वर्णव्यवस्था का वर्णन जहां तक शास्त्रों में है उसको देखते हुए कहना पड़ता है कि यह मानवता के लिए निष्पक्ष नहीं था। यहां तक कि कहीं-कहीं क्रूर था। आगे चलकर तो यह कमजोर वर्ग के शोषण का एक हथकंडा मात्र बनकर रह गया।

धर्मशास्त्रों द्वारा मानव के गुणों की पहचान में कितनी खोट थी, यह इसी से पता लग जाता है कि शूद्र और स्त्री वेद नहीं पढ़ सकते। कोई भी मनुष्य जब संस्कृत भाषा पढ़ लिया हो और बुद्धि रखता हो, तो वेदों को क्यों नहीं पढ़ सकता? वसिष्ठ के मुख से कहलाया गया है—"विधाता ने गायत्री छंद से ब्राह्मण को बनाया, त्रिष्टुप छंद से क्षत्रिय को और जगती छन्द से वैश्य को; परन्तु उसने शूद्र को किसी भी छन्द से नहीं बनाया। अतः शूद्र संस्कार के योग्य नहीं है।"[3] इसलिए वह वेद नहीं पढ़ सकता। स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों ने मनुष्यों

---

1. मुख्य स्मृतिकार हैं—मनु, वृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशना, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तंब, हारीत। उपस्मृतिकार अन्य बहुत हैं। (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 41)
2. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। (मनुस्मृति 2/10)
3. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या
वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। (वसिष्ठ 4/3)

के उच्च और नीच गुणों का निर्धारण कुल-परम्परा से किया, उनकी योग्यता से नहीं। और धीरे-धीरे शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को नीच-गुण का बनाये रखने के लिए विद्यादि पढ़ने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह भी अद्भुत बात है कि शुक्ल वेद पढ़ सकते थे, शुकुलाइन नहीं, तिवारी वेद पढ़ सकते थे, तिवराइन नहीं। अतएव धर्मशास्त्रों ने मनुष्यों के गुणों को पहचानने में काफी गलतियां ही नहीं की हैं, अपराध भी किया है।

उसने पाप-पुण्य के मार्ग का निर्धारण भी सर्वथा ज्ञानपूर्ण एवं निष्पक्षता से नहीं किया है। धर्मशास्त्रों में यज्ञ, बलि आदि के नाम पर मूक प्राणियों को मारना धर्म बताया। मनुस्मृति में कहा गया—"ब्रह्मा ने पशुओं को यज्ञ में वध करने के लिए ही बनाया है। यज्ञ समस्त प्राणियों के हित के लिए है; इसलिए यज्ञ में पशुवध करना वध नहीं है।"[1] शूद्र न न्यायाधीश हो सकता है और न धर्म की घोषणा कर सकता है।[2] क्षत्रिय की हत्या करने पर छह वर्ष का ब्रह्मचर्य और एक हजार गायों का दान प्रायश्चित है। वैश्य की हत्या करने पर तीन वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन एवं सौ गाय-बैलों का दान करना चाहिए। किन्तु शूद्र की हत्या करने पर केवल एक वर्ष का ब्रह्मचर्य तथा दस गायों का दान काफी है।[3] आपस्तम्ब ने तो यहां तक कह डाला है कि शूद्र की हत्या करने पर केवल उतना ही पाप लगता है जितना कौआ, गिरगिट, मोर, चकवा, हंस, भास, मेढक, नेवला, छछून्दर आदि की हत्या करने पर लगता है।[4] अतएव स्मृतियों में पाप-पुण्य के मार्ग का निर्धारण भी सब जगह ठीक नहीं है। हां, इन ग्रन्थों में बहुत-सी बातें मानवमात्र के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। मनुष्य को नीर-क्षीर विवेकी बनकर सार का ग्रहण तथा असार का त्याग करना चाहिए।

परन्तु लोग ऐसा करते नहीं हैं। सद्गुरु कहते हैं "सुमृति वेद पढ़ें असरारा। पाखण्ड रूप करें हंकारा॥" धर्मशास्त्रों के पक्षधर लोग वेद-स्मृति तो लगातार पढ़ते हैं; और उनको घमण्ड भी रहता है कि हम इनके रहस्य जानते हैं, परन्तु वे उनके प्रमाण देकर अपनी मिथ्या वरीयता का अहंकार करते हैं। 'पाखण्ड' कहते हैं बनावटीपन या धोखा को। जन्म के आधार पर छोटा-बड़ा मानना तथा जीव-हत्या को धर्म मानना पाखण्ड है। धर्मशास्त्रों में जीवदया तथा मानवता की बातें भी जगह-जगह कही गयी हैं; परन्तु स्वार्थी लोग ऐसे वचनों

---

1. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
   यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥ (मनु. 5/39)
2. मनु (8/9 एवं 20), याज्ञ. (1/3) एवं कात्यायन।
3. गौतम (22/14-16), मनु (11/126-130), याज्ञवल्क्य (3/366-367)।
4. आपस्तम्ब (1/9/25/14 तथा 1/9/26/1)। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 165-166।

पर ध्यान नहीं देते। वे ऐसे ही वचनों को लेते हैं जिनमें उनके मलिन स्वार्थ की पूर्ति है।

"पढ़ें वेद औ करें बड़ाई। संशय गाँठि अजहुँ नहिं जाई॥" लोग वेद पढ़ते हैं और अपनी बड़ाई हांकते हैं कि हम वेदों के ज्ञाता एवं विद्वान हैं। परन्तु उनका जीवन देखा जाये, तो वे नाना संशयों में ग्रसित हैं। वे भूत-प्रेत, देवी-देवता, झाड़-फूंक, लग्न-मुहूर्त, शकुन-अपशकुन आदि तक की सारी भ्रांतियों से ग्रसित हैं। वे स्वरूपज्ञान एवं आत्मबोध से वंचित होकर केवल शास्त्रज्ञान का बोझा लिये घूमते हैं। जीवन में कैसी रहनी रहने से शांति मिल सकती है, न इसका उन्हें ज्ञान है और न आचरण।

विद्वान के तीन प्रकार हैं—छंदोविद्, वेदविद् तथा वेद्यविद्। जो वेदों के छंदों के सारे लक्षण जानकर उनको याद कर ले, वह छंदोविद् एवं छंदों का ज्ञाता है। जो वेदों का अर्थ जानता हो, वह वेदविद् है और जो जानने योग्य को जानता हो वह 'वेद्यविद्' है। अतएव वेद के छंदों एवं अर्थों को जानना मात्र श्रेष्ठता का सूचक नहीं है; किन्तु जीवन में जो जानने योग्य है उसे जानना चाहिए और उसका जीवन में आचरण करना चाहिए। इसी प्रकार सारे शास्त्रों को समझना चाहिए। केवल शास्त्रज्ञान एक बोझा तथा घमण्ड बढ़ाने का कारण है। मनुष्य वेद-शास्त्र एवं ग्रन्थों को पढ़े बिना भी अपने विवेक तथा सत्संग से जानने योग्य को जान सकता है। शास्त्र एवं ग्रन्थ अध्ययन उसमें सहायक अवश्य हैं; परन्तु विवेक तथा आचरण करने पर।

"पढ़ें शास्त्र जीव वध करई" यदि शास्त्र पढ़कर धर्म के नाम पर जीव वध किया जाता है; तो यह शास्त्राध्ययन हास्यास्पद है। जानदार प्राणियों का वध करना तथा बे-जान देवताओं की पूजा करना शास्त्र-अध्ययन का दिवाला पिट जाना है। धर्म का नाम लेकर जीव का वध करना सर्वाधिक पाखंड है। यह पाखंड संसार के अधिकतम मतों में व्याप्त है और इसने बहुत जीवों को दुखाया तथा आज भी दुखा रहा है।

"अनुभव भाव न दरशै" लोगों को रात-दिन का अनुभव है कि पीड़ा किसी जीव को सहन नहीं है। परन्तु उसी भाव से वे दूसरे को नहीं देखते। 'जीयो और जीने दो' का मानवीय विचार जिसके हृदय में होगा, वह अपने ही समान जानकर अन्य प्राणियों को तकलीफ नहीं देगा।

"जियत न आपु रखाव" साखी का अन्तिम अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। जीते तक जो अपनी रक्षा नहीं करता, उसकी रक्षा मरने पर क्या होगी! यह मानव शरीर जाग्रत भूमि है। इसकी सफलता अहिंसा में है। जो दूसरे प्राणी को कष्ट नहीं देता, वही अपने आप की रक्षा करता है। जो दूसरे को कष्ट देता है वह

मानो अपने को असुरक्षित कर रहा है। हमारे जीवन का फल यही है कि दूसरे को पीड़ा न दें। इसी में हमारी सुरक्षा है। हम दूसरे को पीड़ा देने से बचकर ही, स्वयं पीड़ा से रहित हो सकते हैं।

विवेकहीन के लिए वेद-शास्त्र निरर्थक हैं

रमैनी-32

अन्ध सो दर्पण वेद पुराना। दर्बी कहा महारस जाना॥ 1॥
जस खर चन्दन लादेउ भारा। परिमल बास न जानु गँवारा॥ 2॥
कहहिं कबीर खोजे असमाना। सो न मिला जो जाय अभिमाना॥ 3॥

शब्दार्थ—दर्बी=करछुली, चम्मच। खर=गधा। परिमल बास=चंदन की सुगन्धी। असमाना=आकाश। सो=वह, विवेकज्ञान एवं सच्चा बोध।

भावार्थ—जैसे अन्धे आदमी के लिए दर्पण निरर्थक है; वैसे विवेकहीन के लिए वेद-शास्त्र पढ़ना निष्प्रयोजन है। करछुली नाना व्यंजनों में फिरती हुई भी उनके षटरसों को क्या जाने!॥ 1॥ जैसे व्यापारी का गधा चन्दन का बोझा ढोता है; परन्तु वह मूढ़-पशु चन्दन की सुगन्धी नहीं जानता, वैसे कितने पढ़-पशु शास्त्र-अध्ययन का बोझा ढोते हुए भी आत्मज्ञान से वंचित बने रहते हैं॥ 2॥ सद्गुरु कहते हैं कि विद्या और शास्त्र के प्रमादी लोग आकाश नापते हैं। अथवा ये लोग अपना लक्ष्य आकाश में खोजते हैं। इन्हें वह विवेकज्ञान नहीं मिलता जिससे इनका शास्त्र-मद दूर हो॥ 3॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर यहां वेदों तथा पुराणों का आदर करते हैं। वे कहते हैं कि वेदों और पुराणों में बहुत काम की बातें हैं, परन्तु जिनकी आंखें ही फूटी हैं, वे उनसे क्या ले सकते हैं! यहां उनका उन लोगों पर व्यंग्य है जो शास्त्रों एवं ग्रन्थों को तो बहुत पढ़ते हैं परन्तु आचरण की जगह पर कोरे रहते हैं। करछुली सभी व्यंजनों में फिरती है, परन्तु वह उनके रसों को कब जान सकती है! कुछ मनुष्य भी करछुली होते हैं। वे खूब पढ़ते हैं। नाना शास्त्रों को मथ डालते हैं। परन्तु जीवन के स्तर पर कोरे-कोरे रह जाते हैं। पुस्तकों के भीतर कीड़े भी निवास करते हैं; परन्तु वे क्या जानें कि इनमें क्या है। जो शास्त्रों के कीड़े बन जाते हैं, उनकी भी यही दशा है।

गधा चन्दन का बोझा ढोता है। वह उसका महत्त्व नहीं जानता। इसी प्रकार कुछ लोग विद्या और शास्त्र पढ़ने का मद ढोते हैं। एक पण्डित जी संतों की मण्डली में पहुंचे। उन्होंने अन्य सन्तों से प्रमुख सन्त के विषय में पूछा—"महाराज के शास्त्र-अध्ययन की कितनी उपाधियां हैं? उनके पास विश्वविद्यालय से प्राप्त कितनी डिग्रियां हैं?" उन्हें संतों द्वारा अपने मन के

अनुकूल उत्तर नहीं मिला, इसलिए मुख्य सन्त के पास पहुंचने पर भी उन्होंने उनका नमस्कार नहीं किया, और उनके पास बैठते ही असंबद्ध श्लोकों की झड़ी लगाने लगे। ऐसे लोग सत्संग में पहुंचकर भी क्या पा सकते हैं !

"कहहिं कबीर खोजे असमाना।" सद्गुरु कबीर ऐसे लोगों पर व्यंग्य करते हैं कि ये आकाश नापते हैं। असंभव कार्य के लिए आकाश नापना एक मुहावरा है। शास्त्र-अध्ययन का अहंकार कर जो मनुष्यत्व-बोध एवं शांति चाहता है, वह असंभव को संभव बनाना चाहता है।

अथवा शास्त्रों का प्रमाद धारण करने वाले लोग सत्य, परमात्मा एवं मोक्ष को आकाश में खोजते हैं। परन्तु आकाश में न कोई परमात्मा है और न परमात्मा का लोक एवं धाम है। सद्गुरु ने 79वें शब्द में भी कहा है—"जो खोजो सो उहवाँ नाहीं, सो तो आहि अमरपद माहीं॥" जब तक सच्चा बोध नहीं मिलता, तब तक शास्त्राभिमान नहीं जा सकता। श्रुति भी कहती है—"जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे अविवेकमय निविड़ अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या अर्थात शास्त्रज्ञान में आसक्त हैं, वे उससे भी घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं।"[1]

"जिसको स्वयं विवेक-शक्ति नहीं है, उसके लिए शास्त्र किस काम के ! नेत्रहीन व्यक्ति दर्पण लेकर क्या करेगा ! चारों वेद तथा बहुत शास्त्र पढ़ लिये, किन्तु ब्रह्मज्ञान न हुआ, तो वह वैसे है जैसे व्यंजनों में घूमती हुई करछुली। जैसे गधा केवल चंदन का भार ढोता है न कि उसकी गंध से लाभ ले सकता है, उसी प्रकार वह विद्वान है जो है तो छहों शास्त्रों का ज्ञाता, परन्तु सद्ज्ञान से हीन है और गधे के तुल्य विद्या-मद ढो रहा है।"[2]

इस रमैनी की प्रथम दो पंक्तियां उक्त तीन श्लोकों के भावों एवं शब्दावलियों से पूर्णतया प्रभावित हैं। यह तथ्य है कि कोई मौलिक-से-मौलिक रचनाकार भी अपनी पूर्व परम्परा से सर्वथा अछूता नहीं रह सकता। विचार तो ग्रहण होते ही हैं, शब्द, शैली आदि भी यत्र-तत्र ग्रहण हो जाते हैं। गोस्वामी जी का महाकाव्य इस ढंग के प्रभाव से तो अधिकतम प्रभावित है, कबीर साहेब भी

---

1. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
   ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ (ईशावास्योपनिषद्, 9)
2. यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
   लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति॥
   अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः।
   ब्रह्मत्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥
   यथाखरश्चन्दनभारवाही भारस्यवेत्ता न तु चंदनस्य।
   तथैव विप्राः षटशास्त्रयुक्ता सद्ज्ञानहीनाः खरवद् वहन्ति॥

बिलकुल अछूते नहीं हैं। वस्तुतः कोई भी अपनी पुरानी परम्परा से अछूता नहीं रह सकता।

कहा जा सकता है कि रचनाएं दो ढंग की होती हैं अनुभवजन्य एवं अध्ययनजन्य। चिंतन की गहराई तथा चिंतन से परे समाधि में पहुंचकर और बाह्य जगत की घटनाओं को देखकर जो विचार बनते हैं वे अनुभूत विषय होते हैं। ऐसे विषय जब काव्य और निबन्ध में व्यक्त किये जाते हैं, तो यह अनुभवजन्य रचना कही जा सकती है। परन्तु इसमें भी दो रचनाकारों के अनुभव कभी-कभी समान रूप से मिल जाते हैं, जबकि वे एक दूसरे को जानते नहीं।

दूसरी अध्ययनजन्य रचना वह होती है जो पुस्तकें पढ़कर विचार बनते हैं और वे लिखे जाते हैं। जब रचनाकार अध्ययन किये हुए विषयों को अपने में पचाकर उसे अपने ढंग से लिखता है तो उसमें उसकी अपनी मौलिकता आ जाती है और जब वह ज्यादा परिश्रम नहीं करना चाहता या अधीत विषयों की उत्तम युक्तियों को उन्हीं रूपों में रखना चाहता है, तब वह बहुत स्थूल रूप में प्रकट होती है। जिसकी रचनाएं बहुव्यापी एवं विस्तृत होती हैं, उनमें दोनों प्रकार की रचनाएं होती हैं और कहीं-कहीं ऐसी भी होती हैं जो दूसरे ढंग की स्थूलतम विधा है।

शास्त्रजाल का बन्धन

रमैनी-33

वेद की पुत्री सुमृति भाई। सो जेवरी कर लेतहि आई॥ 1॥
आपुहि बरि आपन गर बन्धा। झूठा मोह काल को फन्दा॥ 2॥
बँधवत बन्धा छोरियो न जाई। विषय स्वरूप भूलि दुनियाई॥ 3॥
हमरे देखत सकल जग लूटा। दास कबीर राम कहि छूटा॥ 4॥

साखी—रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस।
सूधा जल पीवै नहीं, खोद पिवन की हौंस॥ 33॥

शब्दार्थ—सुमृति=स्मृति। जेवरी=रस्सी, बन्धन। काल=कल्पना, अज्ञान। दुनियाई=संसार के लोग। दास कबीर=उपासक। रौंस=घट्ठा, निशान, छाले। हौंस=हौस, हौसला, लालसा।

भावार्थ—हे भाई! स्मृतियां वेदों की पुत्रियां हैं। वे लोगों को बांधने के लिए मानो रस्सी लेकर आयी हैं॥ 1॥ मनुष्यों ने अपने हाथों से रस्सी बटकर अपने गले को बांध लिया है। वेद-शास्त्र ईश्वरकृत हैं इसलिए बिना विचार किये उनको स्वतः प्रमाण मान लेना चाहिए, यह मोह व्यर्थ है और कल्पना का

फंदा है, गले की फांसी है॥ 2॥ मनुष्य नित्य नये-नये बन्धनों से अपने को बांधते-बांधते भली-भांति बंध तो जाता है; परन्तु उन बन्धनों को वह खोलकर फेंक नहीं पाता। संसारी लोग विषयों एवं देह ही को अपना रूप मानकर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप को भूल गये॥ 3॥ मेरी समझ में तो संसार के सारे लोग माया द्वारा लूटे गये हैं। परन्तु उपासक लोग राम-राम कहकर छूटने की आशा करते हैं॥ 4॥

किन्तु राम-राम कहते-कहते इनकी जीभ में घट्ठे एवं छाले पड़ गये। ये पात्र में रखा हुआ शुद्ध जल नहीं पीते, कुआं खोदकर पीने की लालसा रखते हैं॥ 33॥

व्याख्या—31वीं रमैनी की व्याख्या के आरम्भ में भी बताया गया है कि वेदों के बाद ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्रग्रन्थ बने। इनके पश्चात स्मृति-ग्रन्थ बनने लगे। ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के हजार वर्ष बाद तक भी स्मृति-ग्रन्थ बनते रहे। यद्यपि मनुस्मृति के पहले भी स्मृति-ग्रन्थ बन चुके थे, तथापि लगभग ई० पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी के बीच में बनी मनुस्मृति अधिक सर्वांगीण है; अतः उसी का पठन-पाठन अधिक होता रहा। ऋग्वेद में मनु को मानव-जाति का पिता कहा गया है।[1] तैत्तिरीय संहिता एवं तांड्य महाब्राह्मण में[2] तथा महाभारत में[3] मनु का आदर से नाम लिया गया है। निश्चित है मनु ऋग्वेद-काल के भी पूर्व के महापुरुष हैं। यह नाम पहले से ही प्रतिष्ठित था, इसलिए इस नाम पर किसी लेखक ने ईसा के सौ-दो सौ वर्ष पहले मनुस्मृति रच डाली। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं "मनुस्मृति का प्रणयन किसने किया, यह कहना कठिन है। यह सत्य है कि मानव के आदि पूर्वज मनु ने इसका प्रणयन नहीं किया है। इसके प्रणेता ने अपना नाम क्यों छिपा रखा, यह कहना दुष्कर ही है। हो सकता है कि इस महान ग्रन्थ को प्राचीनता एवं प्रामाणिकता देने के लिए ही इसे मनुकृत कहा गया है। वर्तमान मनुस्मृति में 12 अध्याय एवं 2694 श्लोक हैं। मनुस्मृति सरल एवं धाराप्रवाह शैली में प्रणीत है। इसका व्याकरण अधिकांश पाणिनि-संमत है। इसके सिद्धान्त गौतम, बोधायन एवं आपस्तंब के धर्मसूत्रों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इसके बहुत-से श्लोक वसिष्ठ एवं विष्णु के धर्मसूत्रों में भी पाये जाते हैं। भाषा एवं सिद्धान्तों में मनुस्मृति एवं कौटिलीय में बहुत-कुछ समानता है।"[4]

---

1. ऋग्वेद 1/80/16; 1/114/2; 2/33/13।
2. तांड्य महाब्राह्मण 23/16/17।
3. महाभारत, शांतिपर्व 21/12; 57/43।
4. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 43-44।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि स्मृतियां वेदों की पुत्रियां हैं और वे अपने हाथों में रस्सी लेकर लोगों को बांधने के लिए आयी हैं। क्या सचमुच स्मृतियां लोगों को बन्धन ही देती हैं? क्या वे मनुष्यों के पतन के लिए ही बनायी गयी हैं? उत्तर में कहा जा सकता है कि बिलकुल ऐसी बातें नहीं हैं। मनुस्मृति आदि स्मृतियों में धर्म, आचार, राजनीति, दंडविधान, चारवर्ण एवं चार आश्रमों के कर्म आदि पर बहुत प्रकाश डाला गया है। जब शृंगारिक एवं जासूसी उपन्यासों में अच्छी-अच्छी बातें मिल जाती हैं, तब जो धर्मशास्त्र के रूप में हैं उन स्मृतियों में अच्छी एवं काम की बातें क्यों नहीं होंगी!

स्मृतियों में बहुत-सारी भ्रांतियों के साथ दो प्रबल दोष हैं, वर्णव्यवस्था के नाम पर मानव-मानव के बीच में दीवार बनाने की प्रक्रिया तथा कर्मकांडों की उलझन। ऋग्वेद (10/90) में पीछे से मिलाये हुए पुरुष सूक्त में जब एक बार कह दिया गया कि विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, हाथ से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा पैर से शूद्र पैदा हुए, तो इसका विकास पीछे के ग्रन्थों में होना ही था; और शूद्र को पैर से केवल पैदा होने की ही नहीं, उन्हें पैर से रगड़ने की बात की गयी। इन बातों की चर्चा 14वीं एवं 31वीं रमैनी की व्याख्या में कर आये हैं।

स्मृतियां प्रायः पुरोहित-पंडितों की लिखी हैं और उनमें घोर पक्षपात की बातें कही गयी हैं। शूद्रों के नाम भी घृणित रखने की राय दी गयी जैसे झाड़ू, झाखर, बेकारू आदि। उन्हें श्मशान के तुल्य अशुद्ध कहा गया। उन्हें सवर्णों का गुलाम बताया गया और राय दी गयी कि सवर्ण जब चाहे तब शूद्र को उखाड़ फेंके, उन्हें पीट दे या उनका वध भी कर दे।[1] यह स्मृतियों का ही प्रभाव है जो सवर्ण नामधारी लोगों की नाक में शूद्रों की दुर्गंधी समायी हुई है और वे आज भी उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही लिखा है—'स्मृति और पुराण सीमित बुद्धि वाले व्यक्तियों की रचनाएं हैं और भ्रम, त्रुटि, प्रमाद, भेद तथा द्वेष भाव से परिपूर्ण हैं। पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों ही में जाति जैसे पागल विचार पाये जाते हैं।"[2] वेद की पुत्री स्मृतियों की जेवरी में जगत के लोग ऐसे बंधे हुए हैं कि आज भी उनसे पूर्ण छुटकारा नहीं मिला है।

जातिवाद की रस्सी से भी मजबूत रस्सी कर्मकांडों की है। ब्राह्मणग्रंथ, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, स्मृति—ये ग्रंथ तो कर्मकांड के विस्तार में बने ही हैं, पुराण तथा महाकाव्यों में भी कथा के माध्यम से भ्रमजनित नाना कर्मकांडों का पचड़ा गाया गया है। धर्मशास्त्रों में अश्वमेध, गोमेध, पशुबंध, अग्निष्टोम, राजसूय, सौत्रामणी, दर्श-पूर्ण-मास आदि अनेक यज्ञों का वर्णन है जिनमें

1. देखें चौदहवीं रमैनी की व्याख्या में उद्धरण।
2. विवेकानंद साहित्य, खंड 6, पृ. 326।

पशुओं का वध तथा पुरोहितों की ऊलजलूल क्रियाएं हैं। सैकड़ों ग्रन्थों में फैले अनेक यज्ञों की सैकड़ों विधियों का न यहां वर्णन करने की जगह है और न आवश्यकता। पशुवध और निष्प्रयोजन क्रियाओं के थोड़े उदाहरण लें; "अग्निष्टोम यज्ञ में एक 'प्रवर्ग्य' नाम कृत्य है। इसमें मिट्टी का एक पात्र बनाया जाता है जिसकी 'महावीर' संज्ञा है। इसमें एक छिद्र होता है जिसके द्वारा तरल पदार्थ गिराया जाता है। इसी प्रकार दो अन्य महावीर पात्र होते हैं। 'पिनवन' नामक अन्य दो दुग्ध पात्र होते हैं और 'रौहिण' नामक दो प्यालियां होती हैं जिनमें रोटियां पकायी जाती हैं। महावीर, पिनवन एवं रौहिण गार्हपत्याग्नि से प्रज्वलित घोड़े के गोबर की अग्नि में तपाये जाते हैं (कुछ लोगों के मत से ये पात्र दक्षिणाग्नि में तपाये जाते हैं)। रौहिण में दो पुरोडाश पकाकर प्रातः एवं सायं दिन तथा रात्रि के लिए आहुति रूप में दिये जाते हैं। महावीर पात्र को मिट्टी से बने उच्च स्थल पर रखकर उसके चतुर्दिक अग्नि जलाकर उसमें घी छोड़ा जाता है। प्रमुख महावीर पात्र को प्रथम माना जाता है। अन्य दो महावीर पात्रों को वस्त्र से ढककर सोम वाले स्थान से उत्तर दिशा में बड़ी आसन्दी[1] पर रख दिया जाता है। प्रमुख पात्र के उबलते हुए घी में गाय तथा बकरे वाली बकरी का दूध मिलाकर छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार से मिश्रित गर्म दूध को 'घर्म' कहा जाता है जो अश्विनौ, वायु, इन्द्र, सविता, बृहस्पति एवं यम को आहुति रूप में दिया जाता है। यजमान (पुरोहित लोग केवल गन्ध लेते हैं) शेष दूध को उपयमनी से पी जाता है। यह सब करते समय 'होता' मंत्रों का पाठ करता है और प्रस्तोता साम-गान करता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण कृत्य को 'प्रवर्ग्य' कहते हैं।"[2]

कात्यायन, शतपथ, आपस्तंब, बौधायन आदि धर्मग्रन्थों में यज्ञ के लिए 'महावेदी' बनाने का जो विधान है, अद्भुत है। कैसे कितनी-कितनी दूरी पर कितनी खूंटियां गाड़नी चाहिए और कैसे रस्सी बांधनी चाहिए, वह सब नपा-तुला है। एक क्रिया 'सवनीय पशु की आहुति' देकर इस संदर्भ को समाप्त करेंगे।

"सवनीय पशु की आहुति—अग्निष्टोम में सोमरस निकालने के दिन अग्नि के लिए बकरे की बलि दी जाती है। उक्थ्य यज्ञ में इंद्र एवं अग्नि के लिए एक बकरे की बलि होती है। षोडसी यज्ञ में एक तीसरा पशु (कात्या. 9/8/4 के मत से मेष तथा आपस्तंब 12/18/13 के मत से बकरा) काटा जाता है। अतिरात्रि में सरस्वती के लिए बकरा काटा जाता है। इन चार पशुओं को 'स्तोमायन'

---

1. आसन्दी तकियेदार आराम कुर्सी को कहते हैं। यहां अभिप्राय आसन होना चाहिए।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 548।

(कात्यायन 8/7/9) एवं ऋतु पशु (आश्वालायन 5/3/4) कहा जाता है। इन पशुओं की बलि निरूढ़ पशुबन्ध के समान ही की जाती है। सभी पुरोहित एवं यजमान सदो में प्रवेश करते हैं और औदुंबरीस्तंभ के पूर्व एवं अपने कतिपय आसनों (धिष्ण्याओं) के पश्चिम भाग में बैठ जाते हैं। वे सभी अपने-अपने सोमरस पात्रों एवं तीनों द्रोणियों, अर्थात अधवनीय, पूतभूत एवं द्रोण कलश तथा घृत पात्रों की ओर मन्त्रों के साथ दृष्टि फेरते हैं। यजमान मन्त्रों (आपस्तंब 12/19/5) के साथ इन सभी पात्रों का सम्मान करता है। इसके उपरांत प्रतिप्रस्थाता पांचों सवनीय आहुतियां—यथा इंद्र के लिए ग्यारह कपालों पर बनी रोटी, इंद्र के दोनों हरि नामक घोड़ों के लिए धाना (भुना हुआ जौ), पूषा के लिए करंभ (दही से मिश्रित जौ का सत्तू), सरस्वती के लिए दही एवं मित्र तथा वरुण के लिए पयस्या लाता है। अध्वर्यु इन आहुतियों को सजाकर एक पात्र में रखता है। इन आहुतियों को देने के उपरांत सोमाहुतियां द्विदेवत्व ग्रहों को अर्थात इंद्र एवं वायु, मित्र एवं वरुण तथा दोनों अश्विनों को (दो-दो देवों के साथ-साथ) दी जाती है। इसके उपरांत चमसोन्नयन कृत्य होता है।"[1] इन स्मृति-विचारों का ही परिणाम है जो दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में तीन सौ पशु कटवाये जाते हैं तथा श्रीराम द्वारा चित्रकूट में गृहशांति के नाम पर मृग मरवाकर उसका हवन कराया जाता है।[2]

ग्रह-वाधा, प्रेत-वाधा, शकुन-अपशकुन आदि बहुत सारे भ्रम खड़ाकर उनकी शांति के लिए पूजा-पाठ का प्रपंच खड़ा किया गया, उसमें मनुष्य को उलझा दिया गया है।[3] कहा गया बच्चे पैदा करो, तभी श्राद्धकर्म एवं पिंडोदक क्रिया चलेगी और पितरों का स्वर्गवास होगा, अन्यथा वे नरक में जायेंगे। इन सबके पीछे है पुरोहितों के लिए दक्षिणा की बातें। पुरोहितों के अज्ञान, भ्रम एवं प्रलोभन ने ऊलजलूल कर्मकांडों का इतना विस्तार करवाया कि उनमें पूरा हिन्दू समाज डूब गया।

अद्भुत, उत्पात और निमित्त—तीन प्रकार के अनिष्ट माने गये हैं। इसे हम सरल ढंग से कह सकते हैं कि भूचाल, अंधड़, बाढ़ आदि प्राकृतिक उथल-पुथल अद्भुत है; गिद्ध, कपोत, कौआ आदि का घर में घुस जाना, पशुओं-पक्षियों का विचित्र आवाज करना, छिपकली का शरीर पर गिर जाना तथा अन्य माने गये अपशकुन आदि उत्पात है और पुरुष के बायें तथा नारी के दायें अंगों का फड़कना आदि निमित्त है। इन सब में भूचाल, अंधड़, बाढ़ आदि अवश्य

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 552।
2. वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग 14 तथा अयोध्याकांड, सर्ग 56, श्लोक 22-30।
3. देखिये विप्रमतीसी प्रकरण की व्याख्या में डेढ़ दर्जन तक शांति कराने का घनचक्कर।

अनिष्ट हैं, परन्तु पशु-पक्षी की बोली तथा उनका घर में घुसने एवं अंग फड़कने आदि में अनिष्ट मानना अज्ञान है। अंग फड़कने का कारण वायु है। उससे न हानि है न लाभ। भूचाल, बाढ़, अनावृष्टि आदि अनिष्टकर अवश्य हैं, परन्तु पूजा करने से उन अनिष्टों का हटना असंभव है।

भावी कल्पित अनिष्ट-निवारण आदि के चक्कर में पड़कर आज के युग में भी जज, वकील, इंजीनियर, प्रोफेसर, मन्त्री आदि कहलाने वाले लोग भी उसकी शांति के लिए पुरोहितों से हवन-तर्पण, पूजा-पाठ कराने के चक्कर में पड़े रहते हैं।

"आपुहि बरि आपन गर बन्धा। झूठा मोह काल को फन्दा॥" सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्यों ने इन बन्धनों की रस्सी अपने हाथों से बटी है और अपने गले में फांसी लगा ली है। पुरोहित-पंडितों ने केवल दूसरों को ठगने के लिए ही कर्मकांड का जाल नहीं फैलाया है, किन्तु वे स्वयं अज्ञान एवं भ्रम में रहे हैं। इसके परिणाम में उन्होंने स्वयं उसमें उलझकर अपना आध्यात्मिक अहित किया है। परिवार, समाज, राष्ट्र तथा प्राणिमात्र के हित के लिए अपना कर्तव्यपालन रूप कर्म तो मानव मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु कर्मकांड के नाम पर चलाये गये प्रपंच मानव के कल्याण के रास्ते में अत्यन्त अवरोधक हैं। कर्मकांड ने मनुष्यों के मन को अत्यन्त कमजोर बना दिया है। इससे मनुष्य कापुरुष बनकर भयभीत बना जगह-जगह सिर पटकता है। कल्पित अनिष्टों से बचने के लिए तथा सांसारिक सुखों एवं काल्पनिक स्वर्गीय सुखों के लिए जीव दीन-हीन बना कर्मकांड की रस्सी में बंधा घसिटता जा रहा है। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारा मोह झूठा है। यह काल का फंदा है जिसमें तुम लटके हो। लोगों को यह मोह है कि वेद-शास्त्र ईश्वरकृत या आप्तकृत हैं, इसलिए उनके वचनों को बिना सोचे-विचारे मान लेना चाहिए। साहेब कहते हैं कि यह मिथ्या मोह है, यह गले की फांसी है।

"बँधवत बन्धा छोरियो न जाई। विषय स्वरूप भूलि दुनियाई॥" मनुष्य ने बांधते-बांधते अपने आप को बहुत बांध लिया है। मान लो, कोई आदमी अपने शरीर में एक रस्सी रोज बांध लिया करे, तो उसका शरीर साल भर में 365 रस्सियों से बंध जायेगा; और यदि वह 80 वर्ष जीता है, तो 29,200 रस्सियों से बंध जायेगा। मनुष्य की दशा यही है। वह संसार में आकर जब से होश सम्हालता है नित्य नये-नये बन्धनों में अपने आप को बांधता जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि अपने आप को बांधते जाने में तो सरलता है, परन्तु उन बन्धनों को तोड़ने में कठिनाई होती है। विवाह कर बाल-बच्चे पैदा कर लेना सरल है, परन्तु इन बन्धनों को तोड़ना मामूली बात नहीं है। खैर, यह तो बड़ा बन्धन है, पान-तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट, गांजा-भांग आदि साधारण

वस्तुओं की आदत डाल लेने में देरी नहीं लगती, परन्तु इनकी पड़ी भई आदतों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने में पक्का निश्चय एवं बड़ा परिश्रम करना पड़ता है।

सद्गुरु कहते हैं "विषय स्वरूप भूलि दुनियाई" संसारी लोग विषयों के जाल में पड़कर अपने चेतन-स्वरूप को भूल गये। 'मैं कौन हूं' और इन विषयों तथा कर्मकांडों से मेरा क्या प्रयोजन है, इसका मनुष्य को ध्यान ही नहीं रहा। मनुष्य ने देह तथा विषयों को ही अपना स्वरूप मान लिया जबकि उसका अपना मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतन है जो पूर्णकाम, पूर्ण सन्तुष्ट एवं अजर-अमर है। ऐसे अपने शुद्ध स्वरूप का बोध न होने से जीव नाना कर्मकांडों एवं विषयों में भटक रहा है।

"हमरे देखत सकल जग लूटा।" सद्गुरु कहते हैं कि मेरी दृष्टि में, मेरी समझ में संसार के सारे लोगों के बोध एवं शांति-धन लुट गये हैं। जो अपनी सत्ता और महत्ता को न समझ सके, जो पदे-पदे भयभीत होकर घुटने टेकता फिरे, जिसे अपने आप का बोध न हुआ हो और जो अपने आप में तृप्त न हो, वह निश्चित है कि लुट गया है। किसी कल्पित देवता एवं ईश्वर की गुलामी भी तो गुलामी ही है। मनुष्य तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक उसे दूसरे की आवश्यकता का बोध होता है। पूर्ण तृप्त होने पर, "छाँड़ सकल की आस" की दशा आने पर ही "सब सुख तेरे पास"[1] हो सकता है।

"दास कबीर राम कहि छूटा" उपासकों पर व्यंग्य है। कबीर साहेब कहते हैं कि जो ईश्वर के दास हैं वे राम का नाम लेकर माया के बन्धनों से छूट जाना चाहते हैं। परन्तु सद्गुरु कहते हैं "रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस। सूधा जल पीवै नहीं, खोद पिवन की हौंस॥" राम-राम रटते-रटते जीभ में छाले भले ही पड़ जायें, परन्तु इससे न तो स्वरूपज्ञान मिलेगा और न स्वरूपस्थिति होगी। जो सामने पात्र में रखे स्वच्छ एवं शीतल जल को छोड़, कुआं खोदकर पीना चाहता है, वह कितना भोला है! राम तो अपना चेतन-स्वरूप ही है, उसको जबान से रटने की क्या जरूरत है! मन के विकारों को विचारों से हटाओ और अपने राम-स्वरूप में शांत हो जाओ। अथवा अपने राम-स्वरूप में शांत होओ, मनोविकार अपने आप समाप्त हो जायेंगे।

बीजक भर में 'दास कबीर' जहां कहीं आया है प्रायः खंडनपरक है। इसमें अपवाद कहीं-कहीं हो सकता है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि कबीर साहेब ने अपने शारीरिक नाम का प्रयोग मनुष्यों के सम्बोधन में एवं उन्हें समझाने में किया है। केवल एक 86वां शब्द लिया जा सकता है, जिसमें सद्गुरु ने एक

---

1. बीजक, साखी 298।

बार कबिरा, चार बार 'कबीरा' शब्द कहकर सामान्य जीवों को सम्बोधित किया है और छठवीं बार में 'कहहिं कबीर' अपने आप को वक्ता के रूप में रखा है।

मोक्ष विचार

रमैनी-34

पढ़ि पढ़ि पण्डित करु चतुराई। निज मुक्ति मोहि कहो समुझाई॥ 1॥
कहाँ बसै पुरुष कौन सा गाऊँ। सो पण्डित मोहि सुनावहु नाऊँ॥ 2॥
चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना। मुक्ति का मर्म उनहु नहिं जाना॥ 3॥
दान पुण्य उन बहुत बखाना। अपने मरण की खबरि न जाना॥ 4॥
एक नाम है अगम गँभीरा। तहवाँ अस्थिर दास कबीरा॥ 5॥
साखी—चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।
आवागमन की गम नहीं, तहाँ सकलो जग जाय॥ 34॥

शब्दार्थ—पुरुष=ईश्वर या ब्रह्म। गाऊँ=लोक, धाम। ठाना=मन में निश्चय किया, स्थापित किया। चिउँटी=चींटी, वाणी। राई=राई का दाना, बुद्धि। गम=पता, पहुंच। दास कबीरा=उपासक।

भावार्थ—हे पण्डितो ! तुम शास्त्रों को पढ़-पढ़कर अपनी बड़ी बुद्धिमानी दिखाते हो और दूसरों के सामने मुक्ति की रोचक व्याख्या करते हो, परन्तु यह तो किताबी और बौद्धिक बात हुई, तुम मुझे यह समझाओ कि तुम्हारा अपनी मुक्ति का क्या अनुभव है॥ 1॥ जिस ईश्वर या ब्रह्म से मिलकर तुम मुक्ति मानते हो, वह पुरुष कहां निवास करता है, उसका लोक या धाम कहां है, हे पण्डित ! इसका परिचय दो॥ 2॥ ब्रह्मा ने चारों वेदों को संसार में विशेषरूप से स्थापित किया, परन्तु मुक्ति का रहस्य उन्होंने भी नहीं जाना॥ 3॥ उन्होंने दान-पुण्य करने की बात बहुत कही, परन्तु अपनी मृत्यु क्या है इसका पता उन्हें न लगा॥ 4॥ ॐ इत्यादि किसी एक नाम को अगम और गंभीर मानकर उनमें उपासक लोग स्थित होते हैं॥ 5॥

जहां चींटी नहीं चढ़ सकती और राई का दाना नहीं ठहर सकता, अर्थात जहां वाणी और बुद्धि का प्रवेश नहीं होता और आने-जाने की पहुंच नहीं है, वहां सारा संसार जाना चाहता है॥ 34॥ यह लोकांतर में मुक्ति मानने वालों पर व्यंग्य-कथन है।

व्याख्या—पण्डित शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों के ज्ञाता होते हैं। शास्त्र एवं धर्मग्रन्थ बहुत हैं। वे उनके अध्ययन के आधार पर जनता में मुक्ति के विषय में व्याख्यान देते रहते हैं। यहां पण्डित का अभिप्राय कर्मकांडी एवं कथावार्ता करने वाले पुरोहित-पण्डितों से है। पण्डित शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने में लगे रहते

हैं। वे प्रायः साधना पर ध्यान नहीं देते। वे शास्त्रों का उदाहरण देकर जनता को मोक्ष-विषय समझाते हैं, परन्तु स्वयं मोक्ष-अनुभव से शून्य होते हैं। पण्डित जानता कुछ अन्य है, मानता कुछ अन्य है तथा करता कुछ दूसरा ही है। पण्डित विद्या-बुद्धि एवं शास्त्रों के अध्ययन के बल पर मोक्ष का वर्णन करता है। सद्गुरु कहते हैं कि शास्त्रों के बल पर बताया गया मोक्ष तो बुद्धिविलास तथा वाक्यचातुरी मात्र है। हे पण्डित! तुम अपना अनुभव बताओ। तुम्हें मोक्ष का अपना अनुभव क्या है? दूसरों की गायें गिनने वाला, दूध चखने का अनुभव क्या कर सकता है! बातों या चित्रों के दीपक से प्रकाश कैसे होगा! अतएव शास्त्रों के बल पर मुक्ति का व्याख्यान पर्याप्त नहीं है, किन्तु विषयों को त्यागकर और वासना-हीन होकर स्वयं मुक्ति का अनुभव करना चाहिए।

पण्डित लोग धर्मग्रन्थों, महाकाव्यों एवं पुराणों के आधार पर श्रोताओं को यह बताते हैं कि अंतरिक्ष में भगवान के विविध लोक एवं धाम हैं। भगवान की उपासना करते-करते शरीर छोड़ने पर उपासना के अनुसार जीव उन लोकों में जाता है, जैसे शिव-उपासक शिवलोक में, राम-उपासक साकेत-धाम में, कृष्ण-उपासक गोलोक में आदि। इस प्रकार भगवान के धाम में पहुंचकर उपासक मोक्ष का अनुभव करता है।

पण्डितों द्वारा कही गयीं उक्त सारी कहानियां मनोरंजन मात्र एवं उनकी बाललीला है। इन कथनों को आड़े हाथों लेते हुए सद्गुरु उनसे पूछते हैं कि हे पण्डित! बताओ, वह भगवान एवं ब्रह्म-पुरुष कहां निवास करता है? उसका गांव कहां है? यदि वह किसी गांव में, लोक एवं धाम में निवास करने वाला है, तो देहधारी व्यक्ति है। व्यक्ति होने से उसने जन्म लिया होगा और आखिर में वह मरेगा भी। फिर ऐसे ईश्वर से तुम्हें पूर्णता कैसे मिलेगी! किसी देश और काल में जाकर तथा किसी दूसरे ईश्वर-ब्रह्म से मिलकर मोक्ष मानने की बात, मोक्षतत्त्व से पूर्ण अनभिज्ञता का फल है।

"चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना। मुक्ति का मर्म उनहु नहिं जाना॥" ब्रह्मा ने समाज में चारों वेदों की स्थापना की और उसका खूब प्रचार किया; परन्तु मुक्ति का रहस्य वे भी नहीं जान सके। वेदों को रचने वाला एक व्यक्ति ब्रह्मा नहीं है। वेदों की हर ऋचा पर ऋषि, देवता और छन्दों के नाम हैं। अर्थात किस देवता की प्रार्थना में किस ऋषि ने, किन छन्दों की रचना की है, इसका विवरण है। पुलस्त्य, कक्षीवान्, दीर्घतमा, भरद्वाज, वामदेव, अगस्त्य, कण्व, विश्वामित्र, अंगिरस, वसिष्ठ, पराशर, अत्रि, सदापृण, स्वस्ति, श्यावाश्य, ऋजिश्वा, नारद, प्रियमेध, कवष, बन्धु, सप्ति, सुमित्र आदि बहुत ऋषि हैं जिन्होंने वेदों की ऋचाओं को रचा है। ये सैकड़ों या कहना चाहिए हजारों वर्षों के क्रम में पीढ़ी-दर-पीढ़ी के पिता, पितामह, परपितामह एवं पुत्र, पौत्र, परपौत्रों द्वारा प्रणीत हुई

हैं। गुरुओं ने या पिताओं ने रचकर शिष्यों एवं पुत्रों को सुनाया। लोग कंठस्थ करते और गाते रहे। जब उनकी परंपरा में लिखने का ज्ञान हुआ, तब चाम, कपड़े, काष्ठ, वृक्ष के छाल आदि पर लिखने लगे और वे समय-समय से वनवासी झोपड़ियों में आग लगने पर उनकी भेंट चढ़ती रहीं। बचे-खुचे अंश कभी ऋषियों-पंडितों की सभा में संपादित हुए, और वेद नाम से प्रचलित हुए। पहले ऋक्, यजु, साम तीन ही वेद स्वीकृत हुए, पीछे अथर्व भी वेद मान लिया गया। कहा जाता है ब्रह्मा चारों वेदों के प्रचारक तथा वेदव्यास उसके अंतिम संपादक हुए।

सद्गुरु कहते हैं कि चारों वेदों को ब्रह्मा ने 'निज ठाना' अर्थात उन्होंने वेदों में अपनी दृढ़ आस्था प्रकट कर उनका प्रचार किया। चारों वेदों का प्रचारक होने से रूपक में उनके चार हाथ बना दिये गये और चारों हाथों में चारों वेद पकड़ा दिये गये। और चार मुख बना दिये गये जिससे वे उनसे उनकी व्याख्या कर सकें। जैसे दुर्गा नाम की कोई वीर महिला पहले रही हो और वह तलवार, धनुष-बाण, भाला, परशा, पाश आदि कई अस्त्र-शस्त्र से लड़ना जानती रही हो तो रूपक में उसके चित्र में बहुत हाथ बनाकर उन सारे अस्त्र-शस्त्रों को एक ही बार में पकड़ा दिया गया।

कबीर साहेब कहते हैं कि ब्रह्मा वेदों के प्रचारक भले हुए हों, किन्तु मोक्ष का रहस्य उन्हें भी ज्ञात नहीं था। इस कथन की परख आप वेदों को पढ़कर ही कर सकते हैं। वेदों में कर्मकांडों का जाल बुना हुआ है। अनेक प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उनको खुश करने के लिए अधिकतम ऋचाएं एवं सूक्त बने हैं। वेदों के ऋषि बारम्बार उन कल्पित देवताओं से पुत्र, धन, निरोग्यता, अनिष्टों एवं शत्रुओं से रक्षा, दीर्घायु आदि मांगते हैं। वे मिथ्या अवधारणाओं से संबलित क्रियाबाहुल्य यज्ञ करते हैं, छककर सोमरस पीते हैं और यज्ञ में अर्पित बलि का प्रसाद खाते हैं तथा गाते-बजाते और मस्त रहते हैं। वैदिक ऋषि इस लोक में छककर भोग भोगना चाहते हैं तथा मर जाने के बाद स्वर्ग में भी वही सब चाहते हैं। फिर इन वेदों का प्रचारक ब्रह्मा मुक्ति के रहस्य को क्या जान सकता है! वैदिक ऋषि और ब्रह्मा कल्पित देवताओं की उपासना तथा कर्मकांडों में ही लीन हैं। इसलिए वे प्रायः मोक्षतत्त्व से दूर हैं। ब्रह्मा कर्मकांड के ही प्रचारक थे, इसलिए उन्होंने दान-पुण्य करने की ही बात बहुत की। वस्तुतः यज्ञ के बड़े पुरोहित को ब्रह्मा कहा जाता है। इसीलिए मुंडक उपनिषद् का ऋषि कहता है कि चारों वेद तथा छहों वेदांग सांसारिक विद्याएं हैं और जिससे अविनाशी का बोध होता है, वह इससे परे है।[1]

---

1. मुण्डक उपनिषद्, मुण्डक 1, मन्त्र 4-5।

"अपने मरण की खबरि न जाना।" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। अपने अविनाशी स्वरूप का बोध न होना और विषयों में ही उलझे रहना यही अपनी आध्यात्मिक मौत है। कर्मकांडी लोग विषय-लोलुप होते हैं। उनकी सदैव देहबुद्धि बनी रहती है। उन्हें अपनी आध्यात्मिक मौत का बोध नहीं होता।

"एक नाम है अगम गँभीरा। तहवाँ अस्थिर दास कबीरा॥" कर्मकांडियों ने ॐ को ही एक अगम गंभीर नाम माना है। प्रसंग वही होने से यहां ॐ ही लिया जाना ज्यादा ठीक लगता है। वैसे भिन्न-भिन्न उपासक अपने-अपने मत द्वारा कल्पित नामों को ही सर्वोपरि एवं अगम गंभीर मानते हैं। हर उपासक अपने कल्पित नाम में दृढ़ रहने, उसे जपने आदि में कल्याण मानता है। नाम में स्थिर होने का अर्थ है किसी नाम विशेष में मन लगाना। सारे नाम तो शब्द हैं। परन्तु 'शब्द बड़ा की जीव'[1] सारे शब्दों एवं नामों की रचना करने वाला जीव ही श्रेष्ठ है। हां, यह बात दूसरी है कि अपने चंचल मन को थोड़ा संयत करने के लिए किसी निर्धारित नाम को कुछ समय जपना लाभदायक हो सकता है। परन्तु कोई भी नाम या शब्द जीव की स्थिति का निधान नहीं हो सकता। जीव की स्थिति का निधान जीव ही है। जीव की स्वरूपस्थिति ही उसकी वास्तविकता है। "जीव पाव निज सहज स्वरूपा" यह गोस्वामी जी का वचन परम आदरणीय है।

इस रमैनी की प्रथम चार चौपाइयां कर्मकांडी पंडितों से सम्बन्ध रखती हैं तथा पांचवीं चौपाई नाम-उपासकों पर व्यंग्य में कही गयी लगती है।

"चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय। आवागमन की गम नहीं, तहाँ सकलो जग जाय॥" चींटी प्रायः कहीं भी चढ़ जाती है और राई का दाना पतले आधारबिन्दु पर भी ठहर जाता है। परन्तु जहां चींटी भी न चढ़ सके और राई का दाना भी न टिक सके, वह बड़ा सूक्ष्म पदार्थ होता है। चींटी वाणी का प्रतीक है तथा राई का दाना बुद्धि का। मोक्ष न वाणी का विषय है और न बुद्धि का। पंडित लोग वाणी और बुद्धि के ही जोर से मोक्ष की व्याख्या करना चाहते हैं, यह उनका कितना भोलापन है! मोक्ष में आवागमन की भी गम नहीं है। अर्थात वहां आने और जाने का पहुंच मार्ग नहीं है। आश्चर्य है 'तहाँ सकलो जग जाय।' वहां सारा संसार जाना चाहता है।

पंडित जन बताते हैं कि जीव मुक्त होकर अमुक लोक में जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि यह आना-जाना सांसारिक कार्य है। मोक्ष में आना-जाना नहीं होता। इस प्रकार सद्गुरु बताते हैं कि मोक्ष केवल वाणी और बुद्धि के जोर से व्याख्या करने की वस्तु नहीं है। वह रहनी-गहनी की बात है। वाणी और बुद्धि

---

1. बीजक, साखी 22।

से हम रसगुल्ला का केवल वर्णन कर सकते हैं। इससे न हमारी जीभ में मिठास लगेगी और न सुनने वाले की जीभ में। किसी को भी रसगुल्ला की मिठास तभी अनुभव में आयेगी, जब वह उसे खायेगा। इसी प्रकार वाणी और बुद्धि के जोर से हम केवल मुक्ति की महिमा का कथन और श्रवण कर सकते हैं। उसका अनुभव तब होगा जब सारी वासनाओं को छोड़कर अपने आप में स्थिति होगी।

मुक्ति का न तो कोई गांव है और न ठांव है और न वहां कोई ईश्वर-ब्रह्म बैठा है जो मुक्त जीवों की व्यवस्था देखता है। मन की सारी वासनाओं का छूट जाना ही मोक्ष है। जो सब तरफ से अनासक्त है, वही मुक्त है। मुक्ति मरने के बाद नहीं, जीवन में ही होती है। जो जीते-जीते मुक्त है, वही मरने पर भी मुक्त है। जीव अविनाशी है। वह वासना-वश भटकता है। वासनाओं के छूट जाने पर जब आज वह अपने स्वरूप में स्थित हो गया, तो शरीर छूट जाने पर भी अपने स्वरूप में स्थित रह जायेगा।

विद्याभिमान तथा वर्णाभिमान का निराकरण

रमैनी-35

पण्डित भूले पढ़ि गुनि वेदा। आप अपन पौ जानु न भेदा॥ 1॥
संझा तर्पण औ षट कर्मा। ई बहु रूप करे अस धर्मा॥ 2॥
गायत्री युग चारि पढ़ाई। पूछहु जाय मुक्ति किन पाई॥ 3॥
और के छिये लेत हो छींचा। तुम सो कहहु कौन है नीचा॥ 4॥
ई गुण गर्व करो अधिकाई। अधिके गर्व न होय भलाई॥ 5॥
जासु नाम है गर्व प्रहारी। सो कस गर्वहि सकै सहारी॥ 6॥

साखी—कुल मर्यादा खोय के, खोजिन पद निर्बान।
अंकुर बीज नशाय के, नर भये विदेही थान॥ 35॥

शब्दार्थ—आप=स्वयं। अपन पौ=स्वरूप-भाव। संझा=संध्योपासना। तर्पण=तृप्त करने की क्रिया; देवताओं, ऋषियों और पितरों को तिल या चावल मिश्रित जल देने की क्रिया। षटकर्मा=छह कर्म—विद्या पढ़ना तथा पढ़ाना, दान देना तथा लेना और यज्ञ करना तथा कराना। इसके अतिरिक्त स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप और होम—नित्य छह कर्म हैं। ई=ब्राह्मण। बहुरूप=अनेक प्रकार के। छिये=छूने से। छींचा=जल छिड़कना। सहारी=सह सकना। निर्बान=निर्वाण, बुझा हुआ, वासनाओं का बुझ जाना, मोक्ष। अंकुर-बीज=अहंकार-वासना।

भावार्थ—पंडित लोग वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर उन्हीं के मद में भूल गये और अपने आत्मस्वरूप के रहस्य को न समझ सके॥ 1॥ वे संध्या, तर्पण और छह कर्म करते हैं और बहुत प्रकार से क्रिया-कांड को धर्मरूप मानकर

करते हैं॥ 2॥ कहते हैं गायत्री-जप से ही कल्याण है और इस पर अधिकार केवल द्विजों का है, स्त्री तथा शूद्र गायत्री नहीं जप सकते। पंडित लोग द्विज नामधारियों को चारों युगों से गायत्री पढ़ा रहे हैं, परन्तु जाकर द्विजों से पूछो कि केवल गायत्री जपने से किसने मुक्ति पायी है?॥ 3॥ हे पंडितो एवं द्विज नामधारियो ! जब कोई शूद्र नामधारी तुम्हें छू लेता है तब तुम अपने ऊपर पानी के छींटे मारकर पवित्र होने के लिए मन्त्र पढ़ते हो "ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः"। परन्तु मैं पूछता हूं कि कहो भला, तुमसे नीच कौन है?॥ 4॥ हे द्विजो ! अपने विद्या, वर्ण एवं जाति का अहंकार ज्यादा न करो। अधिक गर्व करने से किसी की भलाई नहीं होती॥ 5॥ जिसका नाम ही गर्वप्रहारी है, वह तुम्हारे गर्व को कैसे सह सकेगा? वस्तुतः संसार में एक स्वतः कारण-कार्य-व्यवस्था है। जिसके अनुसार हर जीव को अपने कर्म-फल मिलते हैं। उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता॥ 6॥

पहले के महापुरुषों ने कुल-वर्ण की मर्यादा और उनके अहंकार का त्याग कर मोक्ष-पद की खोज की थी, वे नर-रत्न जाति-वर्ण एवं विद्यादि के अहंकार और वासनाओं को ध्वंसकर विदेह-स्थल एवं मोक्ष को प्राप्त किये थे॥ 35॥

व्याख्या—पंडित लोग वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर उसी के अहंकार में फूले-फूले घूमते हैं। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि शास्त्र-अध्ययन बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है अपने आप को ठीक से समझना और अपने आप का उद्धार करना। यदि वे 'आप अपनपौ का भेद नहीं जानते' तो वेद-शास्त्रों को पढ़ने का मतलब क्या हुआ? "आप अपन पौ जानु न भेदा।" बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्य है। अपनपौ-अपनापन-अपने स्वरूप का महत्त्व—मैं कौन हूं—यदि यह न जाना गया, तो बहुत विद्या पढ़ी, वेद-शास्त्र सब पढ़ डाले, तो क्या पढ़ा?

जैसे पहले भी कहा गया है कि ज्ञाता तीन प्रकार के होते हैं—छंदोविद्, वेदविद् तथा वेद्यविद्। वेदों के छंदों के सारे भेद जानकर जो उनको कंठ कर लेता है वह छंदोविद् है, छंदों का ज्ञाता है; जो छंदों का अर्थ समझता है, वह वेदविद् है और जो जानने योग्य को जानता है वह 'वेद्यविद्' है। 'वेदविद्' श्रेष्ठ नहीं है किन्तु 'वेद्यविद्' श्रेष्ठ है। जो जीवन में जानने योग्य को जानता है, वही श्रेष्ठ है। सर्वोच्च जानने योग्य विषय है 'अपने आप का भेद।'

मैं शुद्ध चेतन हूं। मैं न किसी का अंश हूं न अंशी, न कारण हूं न कार्य। मैं अजर, अमर, अविनाशी, अखण्ड, शुद्ध चेतन, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं स्वरूपतः तृप्त हूं। इस प्रकार अपने आप के भेद को समझकर सारी वासनाओं का त्याग करना ही वास्तविक विद्वता है।

यह तो शुद्ध आध्यात्मिक ढंग से अपने आप का भेद जानना हुआ। हमें व्यावहारिक ढंग से भी अपने आप का भेद जानना चाहिए। हमें यह जानना चाहिए कि हमारे स्वभाव में कितनी त्रुटियां हैं। मन में कितने विकार हैं। गत वर्ष से आज तक हमारे मन के विकार बढ़े हैं कि घटे हैं। यदि बढ़े हैं तो ग्लानि कर उन्हें निकालने का प्रयत्न करना चाहिए और यदि घट गये हैं, तो अवशेष विकारों को भी निकालने का प्रयास करना चाहिए।

आत्म-शोध एवं आत्म-उद्धार ही सच्ची विद्या है। प्राचीन नीतिकार अप्पयदीक्षित ने कहा है—"नीति शास्त्र के विद्वान, ज्योतिषी, चतुर्वेदी, शास्त्री और ब्रह्मज्ञानी बहुत मिलते हैं; परन्तु ऐसा बिरला मिलता है जो अपने अज्ञान को जानता हो।"[1] युधिष्ठिर भी कहते हैं—"पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले तथा शास्त्रों के चिंतन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं, जो आचरण-सम्पन्न है, वह पंडित है।"[2] गीता भी कहती है—"सभी वेदों का सार है अपने आप को जानना।"[3]

पंडित लोग संध्या, तर्पण, षटकर्म तथा यज्ञ-यागादि बहुत-से धर्मकृत्य करते रहते हैं और गायत्री जपते रहते हैं। उनको यह अहंकार है कि इन सबका विशेषाधिकार हमें ही मिला है, शूद्र और स्त्री तो इन सब के निकट भी नहीं जा सकते। विशेषतः गायत्री मन्त्र तो शूद्र और स्त्री को जपने का सर्वथा अधिकार ही नहीं है। तरस आता है पंडितों की बुद्धि पर जो यह घोषणा करते फिरते हैं कि वेद तथा गायत्री में स्त्री तथा शूद्रों का अधिकार नहीं है। स्त्री और शूद्र भी मनुष्य हैं। जब द्विज लोग वेद तथा गायत्री से लाभान्वित हो सकते हैं, तब स्त्री और शूद्र क्यों नहीं हो सकते !

पंडित लोग कहते हैं गायत्री ही मुक्तिदायिनी है और उस पर अधिकार द्विजों का ही है, स्त्री और शूद्र का नहीं, अतएव वे मुक्ति से वंचित ही रहेंगे। सद्गुरु कहते हैं कि पंडित लोग चारों युगों से द्विजों को गायत्री पढ़ा रहे हैं, परन्तु उनसे जाकर पूछो कि गायत्री-जप मात्र से किसने मुक्ति पायी है? यह एक धोखा है कि गायत्री जपो और मरने के बाद मुक्त हो जाओगे। मुक्ति तो जीवन की वस्तु है। "जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरै।"[4] जो व्यक्ति इस जीवन में मुक्त नहीं हुआ है, वह मरने पर क्या तरेगा?

---

1. नीतिज्ञा नियतिज्ञा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञाः।
   ब्रह्मज्ञा अपि लभ्याः स्वज्ञानज्ञानिनो विरलाः॥
2. पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
   सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥ (महाभारत)
3. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो॥ गीता 15/15॥
4. बीजक, शब्द 14।

"गायत्री युग चारि पढ़ाई। पूछहु जाय मुक्ति किन पाई॥" यह बड़ा मार्मिक वचन है। वेदों में अनेक प्रकार के छंद हैं—जैसे जगती, त्रिष्टुप, पंक्ति, वृहती आदि। उसी में एक प्रकार का छंद गायत्री है जो वेदों में हजारों की संख्या में हैं। जिस गायत्री छंद की उपासना पीछे बड़े जोरों से चली, उसका अभिप्राय इतना ही है "हम उस सविता (सूर्य) देवता का ध्यान धारण करते हैं जो वरण करने योग्य तथा प्रकाशस्वरूप है और हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है।"[1] यह छंद विश्वामित्र का रचा है। इसमें प्रकाशस्वरूप सूर्य से बुद्धि के लिए प्रेरणा लेने की बात कही गयी है। बात अच्छी है। परन्तु मुक्ति-प्राप्ति के लिए अपने स्वरूप का ज्ञान चाहिए। विषय-बन्धनों का त्याग चाहिए। अन्य अनेक नाम तथा मन्त्र-जप, जैसे बच्चों को क्षणिक सन्तुष्ट करने के लिए चटुवा मुंह में दे दिया जाता है, वैसे हैं, मन के थोड़ा परिमार्जन के लिए हैं। मोक्ष तो गुरु-भक्ति, बोध एवं वैराग्य का फल है, जिसमें मानव मात्र का अधिकार है। गायत्री छंद की रचना मनुष्य जीव ने की है। गायत्री एक शब्द-समूह है जो कृत्रिम है। मानव उसका कर्ता है। गायत्री से मानव की आत्मा श्रेष्ठ है। मानव को चाहिए कि वह अपने आप को पहचाने और अपने आप को विकारों से ऊपर उठाये।

"और के छिये लेत हो छींचा। तुम सो कहहु कौन है नीचा॥" शूद्र तथा अवर्ण कहे जाने वाले लोग चाहे नहा-धोकर स्वच्छ वस्त्र पहनकर आयें और स्वच्छ हाथों से पंडितों को छू लें, तो कर्मकांडी पंडित अपने आप को अशुद्ध हुआ मान लेते हैं और शुद्ध होने के लिए अपने शरीर पर पानी छिड़कते हैं तथा मन्त्र पढ़ते हैं। सद्गुरु कबीर पंडितों से पूछते हैं कि तुमसे नीच कौन है? दूसरे का शरीर हाड़-मांस से बना है, तो तुम्हारा शरीर भी उन्हीं से बना है। दूसरे के शरीर में टट्टी-पेशाब भरी है, तो तुम्हारे शरीर में भी वही भरी है। जैसे दूसरों में सदाचारी-दुराचारी होते हैं, वैसे ब्राह्मण नामधारी में भी सदाचारी-दुराचारी होते हैं। दूसरे और तुम्हारे में क्या अन्तर है?

निश्चित ही छुआछूत का अपना महत्त्व है और उसका आधार है आचार। इससे कल्पित वर्ण और जाति से कोई प्रयोजन नहीं है। भंगी, मुसलमान तथा क्रिश्चियन का बच्चा भी यदि आचार-विचार से पवित्र है, तो वह भोजन पकाने का अधिकारी है और ब्राह्मण कहे जाने वाले समाज का बच्चा हो, परन्तु आचारहीन है, तो वह रसोई घर में जाने का अधिकारी नहीं है। जिस समय जो व्यक्ति अपवित्र है, उस समय वह अछूत है, जो पवित्र है वह अछूत नहीं।

'हे पंडित! दूसरे के छूने से तुम छींटे मारकर पवित्र होने का उपक्रम करते हो, भला बताओ, तुमसे नीच कौन है?' यह कितना बड़ा व्यंग्य है, कितना दिल को छूने वाला है! इस वाक्य में कितनी मानवता भरी है! मानवता की महामूर्ति

---

1. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। (ऋग्वेद 3/62/10)

कबीर के हृदय ने कितना मर्माहत होकर यह पंक्ति कही होगी! जो इतनी भी बात नहीं समझ सके क्या उसे पंडित कहना चाहिए! मानव को अछूत कहना कितना नैतिक अपराध है! पंचगव्य के नाम पर गाय के दूध, दही तथा घी के साथ उसके मल और मूत्र को भी खा लेने में अपने आप को पवित्र होना मानना, और सर्वोच्च प्राणी मनुष्य के बच्चे को अछूत मानना बुद्धि का दिवाला निकल जाना है।

सद्गुरु कहते हैं कि अपने विद्यादि गुणों का तथा कल्पित वर्णादि का अहंकार मत करो। अहंकार तो किसी चीज का ठीक नहीं है। अहंकार से किसी का भला नहीं हुआ है। अहंकार तो पतन का कारण है। हिन्दू-समाज के पतन में वर्ण-जाति का अहंकार मुख्य कारण रहा है, जिसके कारण शूद्र कहलाने वाले एक बड़े समाज को पशु के समान जीने के लिए विवश किया गया।

"जासु नाम है गर्व प्रहारी। सो कस गर्वहि सकै सहारी॥" जिसका नाम गर्वप्रहारी है, वह तुम्हारे गर्व को कैसे सह सकेगा! सामान्यतया लोग एक ऐसे व्यक्तिचेतन की कल्पना करते हैं जो सर्वशक्तिमान है और वही गर्वप्रहारी है। परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है। वस्तुतः संसार में एक स्वचालित कारण-कार्य-व्यवस्था है। जो अहंकार करेगा, उस व्यवस्था के अनुसार उसका पतन रखा-रखाया है। आज (1987 ई.) से साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्व कबीर साहेब की कही हुई बात आज चरितार्थ हो रही है। आज सर्वाधिक पतन ब्राह्मण-समाज का है। अहंकार का परिणाम ही पतन है।

"कुल मर्यादा खोय के, खोजिन पद निर्बान। अंकुर बीज नशाय के, नर भये विदेही थान॥" सद्गुरु कहते हैं कि पहले के महापुरुषों ने कुल की मर्यादा खोकर निर्वाण-पद की खोज की थी। उन्होंने जाति, वर्ण एवं समस्त भौतिक वरीयता के अंकुर तथा बीज, अर्थात अहंकार एवं वासना को नष्ट कर मोक्ष-दशा की प्राप्ति की थी।

एक बच्चा था 'सत्यकाम'। उसने अपनी मां से पूछा—मेरा गोत्र क्या है? मैं किसी गुरु के पास पढ़ने जाऊंगा, वे गोत्र पूछेंगे, तो मैं क्या बताऊंगा? माता ने कहा—मुझे यह पता नहीं है कि तुम्हारा गोत्र क्या है; क्योंकि मैं अपनी जवानी में विचरती हुई बहुत-से पुरुषों की सेवा करती थी। अनेकों का संयोग हुआ था। उसी बीच में गर्भ रहा। तू पैदा हुआ। बस, इतना कह सकती हूं कि तू मेरा पुत्र है। मेरा नाम 'जबाला' है और तेरा नाम 'सत्यकाम'। गुरुजी से अपना नाम 'सत्यकाम जाबाल' बता देना। मेरा नाम ही तेरे गोत्र का आधार है।[1]

---

1. छांदोग्य उपनिषद् 4/4/2।

सत्यकाम ने ऋषि गौतम के पास माता की कही हुई बातें ज्यों-की-त्यों बता दीं। गौतम बहुत खुश हुए और उन्होंने कहा—"अ-ब्राह्मण इस तरह सत्य नहीं बोल सकता।" अर्थात जो सत्य बोलता है वह ब्राह्मण है। बेटा, तू ब्राह्मण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पचास ऐसे ऋषियों के नाम हैं जिनके पिता का पता नहीं है, केवल माता का पता है।[1] 'व्यास, कर्ण, शिवि, अष्टक, प्रतर्दन और वसुमान अपनी माताओं से कुंआरी अवस्था में पैदा हुए।'[2] पाणिनि ने कहा है कि पिता का पता न होने से पुत्र का गोत्र माता के नाम से होता है।[3] धीवरीतनय व्यास, भंगिनी-पुत्र पराशर, वेश्यापुत्र वसिष्ठ, दासीपुत्र नारद, शूद्रपुत्र सूत अपने ज्ञान के नाते ही महान थे। महावीर, सिद्धार्थ, भर्तृहरि, गोपीचंद जाति-वर्ण के पक्ष को छोड़कर जन-जन के कल्याण के लिए निकल पड़े थे। राजरानी मीरा देवी ने चमार कहे जाने वाले कुल में पैदा हुए संत रैदास की शिष्यता स्वीकारी थी।

सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में कहा है 'कुल-वर्ण' के अभिमान को छोड़ देने से सब प्रकार से उद्धार होता है और उनका अहंकार रखने से सब प्रकार से अपना पतन होता है। 'राम' तो नि-कुल है। यह आत्मा, यह चेतन जीव किसी कुल का नहीं है। अतएव जिसने राम को पाया, अर्थात अपने आत्मतत्त्व का बोध ग्रहण किया, उसके सारे कुल-वर्ण के अहंकार नष्ट हो गये।[4]

महाभारत-वर्णित युधिष्ठिर के यज्ञ में पंडितों के भोजन करने से घंटा नहीं बजा, श्वपच भक्त के खाने से घंटा बजा—यह उपाख्यान यही दर्शाने के लिए लिखा गया है कि विद्याभिमान एवं वर्णाभिमान से कल्याण नहीं हो सकता। उसके लिए चाहिए विनम्रता एवं शुद्ध हृदय।

पुराकाल के ऋषि-मुनि यदि वर्णाभिमानी होते तो सत्यकाम, व्यास, वसिष्ठ, पराशर, भरद्वाज, नारद, सूत, अगस्त्य, वाल्मीकि आदि को महिमावान एवं पूज्य न मानते, क्योंकि ये सब तथाकथित अ-ब्राह्मण कुल के ही नहीं, किन्तु इनमें कुछ अंत्यज कुल के भी थे। परम वैष्णव शठकोपाचार्य, तिरुभंगै आदि अंत्यज कुल के कहे जाने वाले लोग थे जो परम पूज्य थे। अतएव कबीर साहेब ठीक ही कहते हैं कि पहले के महापुरुषों ने कुल की मर्यादा खोकर ही निर्वाणपद की खोज की थी और उसके अंकुर-बीज को भी नष्ट कर दिये थे। यह तो बीच के पुरोहित-वर्ग ने ऊंच-नीच की भावना के विष-बीज बोये हैं।

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय 6, ब्राह्मण 5।
2. गणपति शंकर, मंथन, भाग 1, पृ. 238।
3. पाणिनि 4/1/14।
4. कुल छोड़े कुल ऊबरे, कुल राखे कुल जाय।
   राम निकुल कुल भेटिया, सब कुल गया बिलाय॥ साखीग्रन्थ॥

जीव ही राम तथा श्रेष्ठ है

रमैनी-36

ज्ञानी चतुर बिचक्षण लोई। एक सयान सयान न होई॥ 1॥
दूसर सयान को मर्म न जाना। उत्पति परलय रैनि बिहाना॥ 2॥
बनिज एक सबन मिलि ठाना। नेम धर्म संयम भगवाना॥ 3॥
हरि अस ठाकुर तजियो न जाई। बालहि बिहिस्त गावहिं दुलहाई॥ 4॥
साखी—ते नर कहाँ गये, जिन दीन्हा गुरु घोंटि।
राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि॥ 36॥

शब्दार्थ—चतुर=बुद्धिमान। बिचक्षण=सूक्ष्मदर्शी। एक=अद्वैत ब्रह्म। सयान=श्रेष्ठ, सत्य। दूसर=ईश्वर। हरि=ईश्वर। ठाकुर=स्वामी। बालहि=बालकतुल्य, अबोधी। बिहिस्त=स्वर्ग। दुलहाई=दूल्हा (ईश्वर) से मिलने का गीत। घोंटि=सिर मूड़ देना, घोल कर पिला देना, गला घोंट देना, हत्या कर देना।

भावार्थ—हे ज्ञानियो, बुद्धिमानो तथा सूक्ष्मदर्शियो! यह कहना कि सत्ता केवल एक ही तत्त्व की है, सच्चाई नहीं है॥ 1॥ जड़-चेतन से पृथक जो दूसरे ईश्वर की कल्पना कर ली गयी है कि उसी के द्वारा उत्पत्ति-प्रलय और रात-दिन होते हैं, यह ईश्वर के रहस्य को न समझना है॥ 2॥ जीव से अलग एक ईश्वर मानकर सभी मत वालों ने उससे मिलने के लिए अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार नाना प्रकार के नियम, धर्म और संयम का व्यापार बना रखा है॥ 3॥ ईश्वर ऐसा स्वामी बन बैठा कि उसे अब त्यागा जाना कठिन हो गया। भक्त लोग अबोधी बालक बनकर और ईश्वर को एक दूल्हा के रूप में स्वर्ग में मानकर उससे मिलने के लिए गीत गाते हैं॥ 4॥

उन मनुष्यों की स्थिति कहां हुई जिन्हें नाना मत के गुरुओं ने निज स्वरूप से भिन्न किसी कल्पित ईश्वर की चासनी घोंट कर पिलायी थी। अतएव हे कल्याणार्थियो! राम ऐसा नाम तुम्हारी अपनी आत्मा का ही है ऐसा जानकर खोटी वस्तु—भिन्न ईश्वरादि की कल्पना छोड़ दो॥ 36॥

व्याख्या—इस रमैनी में सद्गुरु मुख्य दो सिद्धान्तों की आलोचना करते हैं—अद्वैत ब्रह्मवाद की और ईश्वरवाद की। इसको समझने के लिए वे ज्ञानियों, बुद्धिमानों तथा सूक्ष्मदर्शियों को निमंत्रित करते हैं। ऐसे लोग ही धैर्यपूर्वक ऐसे तत्त्वचिन्तन के विषय को समझ सकते हैं। जो भक्ति-भावना में विह्वल भावुक हैं, उन्हें इस विषय को समझना कठिन है।

सद्गुरु पहली बात उठाते हैं "एक सयान सयान न होई" अर्थात एक तत्त्व सत्य नहीं हो सकता। कुछ लोगों की धारणा है कि संसार में केवल एक ही

तत्त्व की सत्ता है जो अखंड, अजर, अमर और सर्वत्र व्याप्त है। उसको ब्रह्म नाम दिया गया है। दूसरा नाम भी रखा जा सकता है। नाम चाहे जो रखा जाये, परन्तु यह बात सत्य नहीं हो सकती है। क्योंकि एक अखंड व्याप्त सत्ता में क्रिया, संचालन, स्फूर्ण, परिवर्तन, विकार, गति, निर्माण कुछ नहीं हो सकता है। देखा जाता है कि प्रत्यक्ष संसार इन्हीं सबका समुच्चय है। गति एवं क्रिया ही संसार का स्वरूप है। क्रिया न होती तो संसार न होता।

प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है कि जड़ और चेतन पृथक-पृथक हैं। जड़ में अनेक तत्त्व हैं और चेतन भी एक दूसरे से भिन्न और असंख्य हैं। देहधारी चेतन वासना-वश गतिशील हैं तथा अनेक जड़ तत्त्वों के सूक्ष्म कण निरन्तर गतिशील हैं। इनके बीच में अबाध गति से सृष्टि चल रही है। इन सारी बातों से आंखें मीचकर यह कहना कि सत्ता केवल एक तत्त्व की है, अपने आप में हास्यास्पद है।

सर्वत्र एक ही अखंड तत्त्व के व्याप्त होने पर दूसरे की सत्ता ही नहीं हो सकती; और प्रत्यक्ष है कि सत्ता अनेक की है। गति, सृष्टि, जन्म-मरण, कहना-सुनना, बंध-मोक्ष एक ही तत्त्व में संभव नहीं है। हैकल जैसे भौतिकवादी जब कह देते हैं कि विश्व में सर्वगत एक ही तत्त्व की सत्ता है, तब ब्रह्मवादी बहुत खुश हो जाते हैं कि अब भौतिकवाद भी अद्वैत ब्रह्मवाद की तरफ आ रहा है। परन्तु यह ब्रह्मवादियों की भूल है। भौतिकवादियों का परिभाषित जो एक तत्त्व है, वह गतिशील अणुरूप एवं निरा जड़ है। भौतिकवादी कहते हैं कि सारे जड़ तत्त्व अन्त में सूक्ष्म अणुरूप एवं ऊर्जा रूप हैं। भौतिकवादी चेतन की स्वतन्त्र सत्ता के विषय में कुछ निर्णय ही नहीं कर पाते हैं। अतएव भौतिकवादियों के तथाकथित एक तत्त्व के समर्थन में पड़ना अद्वैत ब्रह्मवादियों के लिए घाटे का सौदा होगा।

साधक जब संकल्पों को छोड़कर समाधि में पहुंच जाता है, तब वह अकेला रह जाता है। यह जीव का अकेलापन कैवल्य है, असंगत्व है और इसी को अद्वैत स्थिति कह सकते हैं। यह विवेकसम्मत है। सारे जड़-चेतन को एक अखंड तत्त्व बताना अद्वैतवाद की भावुकता है, अतएव असत्य है।

दूसरी बात है जो अनेक जड़ तत्त्व तथा असंख्य चेतन जीव अनुभूत सत्य हैं, उनके ऊपर कोई दूसरा कर्ता-धर्ता मानना। सद्गुरु कहते हैं कि यह भी सत्य नहीं है। जड़ और चेतन दोनों अपने-अपने में मूल तत्त्व हैं; और "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्"[1] अर्थात मूल का मूल न होने से मूल अ-मूल होता है। जड़ और चेतन दोनों मूल होने से उनका कोई रचयिता नहीं है। इस प्रकार

1. सांख्य दर्शन 1/67।

जड़-चेतन मूल तथा अनादि हैं। उन्हें कोई रचता नहीं है और उनके गुण-धर्मों से सृष्टि चल रही है, फिर तीसरे ईश्वर की कल्पना क्यों की जाये कि उसी से उत्पत्ति-प्रलय तथा रात-दिन हो रहे हैं।

जहां तक आत्मकल्याण के लिए ईश्वर की कल्पना का प्रश्न है, वह हममें दुर्बलता ही उत्पन्न करेगी। हम ईश्वर की कल्पना खड़ी कर लेते हैं और हर भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ के लिए उसके सामने रोने-गिड़गिड़ाने की आदत बना लेते हैं और पुरुषार्थ में आलसी हो जाते हैं। वही सिद्धान्त मनुष्यों के लिए कल्याणकर है, जो उन्हें उनके अपने कदमों पर खड़ा करे, उन्हें स्वावलंबी बनाये। ईश्वरवाद हमें परावलंबी एवं परमुखापेक्षी बनाकर दुर्बल करता है।

नाना मत के गुरुओं ने अपना-अपना एक भगवान खड़ा कर तथा उसको खुशकर नाना लाभ पाने के लिए नियम, धर्म, संयम के नाम पर व्यापार चला रखा है। "बनिज एक सबन मिलि ठाना। नेम धर्म संयम भगवाना॥" इस पंक्ति में 'बनिज' शब्द ध्यान देने योग्य है। ईश्वर एक धार्मिक व्यापार का माध्यम बन गया है। ईश्वर के नाम पर चढ़ावा चढ़ता है। ईश्वर के नाम पर भोग लगता है। ईश्वर के नाम पर रास-रंग होता है तथा मन्दिरों में वेश्याएं नाचती हैं। ईश्वर के नाम पर मुसलमान ऊंट, गाय, बकरे, मुरगे काटते हैं। ईश्वर के नाम पर हिन्दू भैंसे, बकरे, मुरगे, सूअर आदि काटते हैं। ईश्वर के नाम पर एक मजहब वाले दूसरे मजहब वालों का गला काटते हैं। ईश्वर के नाम पर बड़े-बड़े चंदे कर सांप्रदायिक भावना भड़काने का साधन जुटाते हैं। ईश्वर के नाम पर बड़ी-बड़ी जागीरें खड़ी कर मुकदमें चलाते हैं। ईश्वर का नाम लेकर चोर सेंध मारते हैं तथा डाकू डाका डालते हैं। ईश्वर का नाम लेकर साहुकार बिस्तर पर जाता है कि ईश्वर उसे चोरों से बचाये। बड़े-बड़े पाप करके ईश्वर के नाम से उनसे छूटने के लिए प्रार्थना की जाती है। सारा दुराचार करके कह दिया जाता है कि हम तो कठपुतली हैं, ईश्वर सूत्रधार है। वह हमें जैसे नचाता है, हम वैसे नाचते हैं। अतः हमारे द्वारा जो कुछ हो रहा है ईश्वर ही करता है। ईश्वर का नाम लेकर तांत्रिक, फलित ज्योतिषी, सोखा-ओझा, पंडे-पुजारी आदि समाज का वंचन करते हैं। अन्य व्यापार फेल हो सकते हैं, किन्तु ईश्वर के नाम पर चलाया गया व्यापार कभी फेल नहीं होता; क्योंकि वह भावना से जुड़ा है। मनुष्य की भावनाओं को दुर्बलता की तरफ मोड़कर उसका निरन्तर शोषण हो रहा है।

"हरि अस ठाकुर तजियो न जाई।" अर्थात हरि ऐसा ठाकुर हो गया एवं ईश्वर ऐसा स्वामी बन बैठा कि मनुष्य द्वारा उसका त्यागा जाना कठिन हो गया। एक काल्पनिक बात को मन में प्रश्रय देते-देते सत्य-सी प्रतीत होने लगी।

उसके विरोध में बातें करने वाला नास्तिक कहा जाने लगा। मनुष्य को दुर्बल बनाने वाली धारणा आस्तिक बन बैठी तथा उसे स्वावलंबी तथा सबल बनाने वाला तथ्यपूर्ण सिद्धान्त नास्तिक कहा जाने लगा।

"बालहि बिहिस्त गावहिं दुलहाई" सद्गुरु कहते हैं कि लोग भक्ति के नाम पर बालक के समान भोला-भाला बन गये और कल्पना करने लगे कि ऊपर सातवें आकाश या तपक पर स्वर्ग, बैकुण्ठ एवं बिहिश्त हैं। वहां भगवान एवं ईश्वर रहता है। वही हमारा दूल्हा है। हम उसकी दुलहिन हैं। ईश्वरभक्त लोग दुलहिन बनकर उस काल्पनिक स्वर्गस्थ दूल्हा से मिलने के लिए गीत गाने लगे, प्रार्थना-वन्दना करने लगे। सबल चेतन पुरुष होते हुए अविद्यावश दुर्बल-दुलहिन बन गये। स्वरूपबोध एवं आत्मबोध के मार्ग में यह भावना महाविघ्नकारक एवं कुसंस्कार बन गयी।

सद्गुरु ऐसे लोगों पर करारा व्यंग्य करते हुए कहते हैं—"ते नर कहाँ गये, जिन दीन्हा गुरु घोंटि।" अर्थात उन मनुष्यों की स्थिति कहां हुई, जिन्हें नाना मत के गुरुओं ने अपने स्वरूप से भिन्न किसी कल्पित वस्तु की चासनी घोलकर पिलायी थी। अपने चेतन-स्वरूप से अलग ईश्वर मानकर उसकी वन्दना-प्रार्थना एक सात्त्विक भावना को जन्म देती है, एक क्षणिक आनन्द एवं सात्त्विक मनोरंजन हो जाता है, परन्तु पूर्ण सन्तोष, पूर्ण तृप्ति एवं जीव की स्वरूपस्थिति उसमें होना असंभव है। क्योंकि आत्म-भिन्न ईश्वर केवल कल्पना है, केवल मन की अवधारणा है।

इसलिए सद्गुरु अन्त में कहते हैं—"राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि॥" अर्थात राम, भगवान, ईश्वर, ब्रह्म जितने चेतनपरक नाम लिये जाते हैं, उनकी चरितार्थता तुम्हारे में ही हो सकती है। सद्गुरु कहते हैं हे जीव ! "राम नाम निजु जानि के" तू राम ऐसा नाम अपना ही समझ ! तू ही राम है, तू ही ईश्वर और ब्रह्म है। तुमसे श्रेष्ठ कौन हो सकता है ! तूने ही तो ईश्वर-ब्रह्म जैसे नाम रखे हैं। तू ही सारे ज्ञान-विज्ञान का निधान है। तू अपनी भूल से गीदड़ बना है, अन्यथा तू सिंह है। तू किसी की दुलहिन नहीं है, किन्तु तू ही सबका दूल्हा है। यदि राम, ईश्वर, ब्रह्म तुझसे अलग है तो वह सब तेरी कल्पना होने से उसका तू ही दूल्हा है। क्योंकि तूने ही उसकी कल्पना की है। वस्तुतः तू ही राम है, भगवान है, ब्रह्म है। तू अपने श्रेष्ठत्व को समझ और अपने आप में तृप्त हो।

रमैनी-37

एक सयान सयान न होई। दूसर सयान न जाने कोई॥ 1॥
तीसर सयान सयानहिं खाई। चौथे सयान तहाँ ले जाई॥ 2॥

पँचयें सयान जो जानेउ कोई। छठयें माँ सब गयल बिगोई॥ 3॥
सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक वेद मों देउँ देखाई॥ 4॥

साखी—बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीवको, बूझै बिरला कोय॥ 37॥

शब्दार्थ—एक सयान=अद्वैत ब्रह्म। दूसर सयान=ईश्वर। तीसर सयान=त्रिगुण। चौथे सयान=चतुष्टय अंतःकरण या मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार। पँचयें सयान=पांच ज्ञानेंद्रिय, पांच विषय। छठयें=मन। सतयाँ=जीव। बीजक=सांकेतिक शब्दों में गुप्त धन का परिचय कराने वाला ताम्रपत्र आदि अभिलेख, खरीदार को दी जाने वाली माल की सूची; बीज का तत्त्व; यह ग्रन्थ।

भावार्थ—एक ही तत्त्व की सत्ता मानना सत्य नहीं है। इस प्रत्यक्ष अनुभूत जड़-चेतनात्मक जगत के ऊपर दूसरा कर्ता मानने की बात एक अनुमान है न कि उसे कोई जानता है॥ 1॥ तीसरा सयान सत, रज तथा तम तीन गुण हैं या त्रिगुणात्मक माया-प्रपंच है। इनकी श्रेष्ठता मानकर इनमें आसक्त होने से मनुष्य का अपना सयानापन, अपनी समझदारी नष्ट हो जाती है। चौथा सयान चतुष्टय अंतःकरण है या मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार है। इस अहंकार की श्रेष्ठता जीव को भ्रम में ही ले जाती है॥ 2॥ जो लोग पांच विषयों तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियों के भोगों को ही श्रेष्ठ समझते हैं, वे और अधिक भोले हैं। छठें मन के चक्कर में पड़कर तो सब अपने आप को खो चुके हैं॥ 3॥ हे भाई, यदि तुम लोग सातवें जीव को श्रेष्ठ जानते-मानते हो, तो मैं उसे लोक तथा वेद दोनों से प्रमाणित कर दिखा दूंगा, अर्थात बोध करा दूंगा॥ 4॥

बीजक उस धन को बताता है जो कहीं जमीन आदि में गाड़कर गुप्त रूप से रखा हो। इसी प्रकार इस बीजक ग्रन्थ के शब्द जीवरूपी धन को बताते हैं जो शरीर में गुप्तरूप विद्यमान है परन्तु इसे कोई बिरला ही समझता है॥ 37॥

व्याख्या—36वीं रमैनी में आप पढ़ आये हैं कि एक ही तत्त्व संसार में नहीं है और जड़-चेतन के ऊपर दूसरा कर्ता मानना भी उपयुक्त नहीं है। इसे समझने के लिए पूरी 36वीं रमैनी बड़ी मार्मिक है। इस प्रकार 36वीं रमैनी के एक सयान तथा दूसरा सयान के निराकरण को इस 37वीं रमैनी में भी लेते हुए सद्गुरु ने पहले से छठां सयान तक निषेध में कहा है। आप एक से छठां तक का कुछ भी अर्थ लगायें, परन्तु इतना साफ है कि वे सब रहेंगे निषेध में ही।

वाणी तो ऐसी मोम की नाक होती है कि उसे चाहे जिस तरफ घुमा दो, वह घूम जाती है और जहां सांकेतिक वर्णन हो, वहां शब्दों के अर्थ घुमाने में काफी सरलता रहती है। परन्तु किसी शब्द का अर्थ करने में उसके कर्ता का लक्ष्य

तथा वर्तमान प्रकरण देखना चाहिए। कबीर साहेब इस रमैनी में एक से छह तक के सांकेतिक विषय को सयान, श्रेष्ठ एवं सत्य नहीं मानते हैं; किन्तु सातवें को वे सत्य मानते हैं, जिसकी प्रामाणिकता के लिए वे लोक तथा वेद दोनों के प्रमाण देने के लिए प्रस्तुत हैं और इसी को वे खुलकर साखी में बताते हैं, वह है 'जीव'।

पहले और दूसरे के विषय में 36वीं रमैनी में बहुत-कुछ कहा गया है। हम तीसरे सयान से लेते हैं।

"तीसर सयान सयानहि खाई" सद्गुरु कहते हैं कि तीसरे सयान ने सयान को खा लिया है। सयान का अर्थ होता है समझदार, वृद्ध, श्रेष्ठ आदि। यहां सयान का अर्थ 'सत्य' भी है। यहां तीसर सयान का अर्थ उन सारी तीन बातों में से किसी भी त्रिपुटी के लिए होगा जिसको जीवन का परम सत्य मान लेना अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है। जैसे सत, रज, तम या काम, क्रोध, लोभादि। क्योंकि मूल पद में है कि जो तीसर को सयान एवं सत्य मानता है उसका सयानपन एवं उसकी समझदारी समाप्त हो जाती है। अतएव तीसर का यहां सत, रज, तम—त्रिगुण अर्थ करना ज्यादा उपयुक्त है। अर्थात जो त्रिगुणात्मक माया-प्रपंच को ही परम सत्य मान लेते हैं, उनकी बुद्धि मारी जाती है।

"चौथे सयान तहाँ ले जाई।" अर्थात चौथे में अपना सयानपन दिखाने से, वह भी हमें उसी भ्रम में ले जाता है। यहां चौथे से मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार का चतुष्टय लिया जा सकता है। जो लोग विषयों के मनन, चिंतन, निश्चय एवं करतूति में ही सदैव लगे रहते हैं और बुद्धि-विलास में डूबे रहते हैं, वे भ्रम में हैं। चौथे से केवल अहंकार भी लिया जा सकता है। ज्ञान चौंतीसा में आया है "चौथे वो ना महँ जाई। राम का गद्धा होय खर खाई॥" मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार है। जब किसी विषय का मनन, चिंतन एवं निश्चय परिपक्व होता है, तभी उसमें अहंकार होता है। मन से मनन, चित्त से चिंतन एवं अनुसंधान तथा बुद्धि से निश्चय होता है, तब जाकर उस विषय में अहंकार होता है। जो लोग बुद्धि-विलास तथा संस्कारों में अहंकार कर लेते हैं वे उसी प्रकार भ्रम में जाते हैं जैसे इसके पहले वाले भ्रम में रहे हैं। इस प्रकार संस्कारों में अपना तादात्म्य करने वालों को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।

"पंचयें सयान जो जानेउ कोई" जो लोग पांचवें या पांच को सत्य समझते हैं या उन्हीं में अपना सयानपन दिखाते हैं, वे भी समझदारी की बात नहीं करते। पांच के अर्थ में यहां पांच विषय एवं पांच ज्ञानेंद्रियों के भोग लिए जा सकते हैं, जो अत्यन्त प्रासंगिक हैं। जो कान, त्वचा, आंख, जीभ तथा नाक—इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध में आसक्त हैं और इन

भोगों को ही परम सत्य मानकर इनके भोगने में अपनी सयानी-समझदारी दिखा रहे हैं; उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। विषयलम्पट को स्वरूपज्ञान कहां !

"छठयें माँ सब गयल बिगोई।" यहां छठां मन है। बीजक में जहां कहीं भी लाक्षणिक रूप में छ या छठां कहा गया है, प्रायः मन का अर्थ है। पांच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठां मन है। पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पांचों विषयों का ग्रहण होता है और विषयों के ग्रहण के बाद उनके संस्कार जहां रह जाते हैं, वही मन है। इसीलिए बौद्धों ने पांच ज्ञानेन्द्रिय के साथ छठें मन को लेकर 'षडायतन' कहा है। ऊपर कहा गया कि बीजक में लाक्षणिक अर्थ में छठां का अर्थ मन होता है। इसके लिए कुछ उदाहरण लें—

"छठयें माँह दरश सो पावै"[1] अर्थात वह मन में दर्शन पायेगा। "छठीं तुम्हारी हौं जगा"[2] छठें-मन में तुम्हें अहंकार जगा। "छप्पर बाँचे घर जरे"[3] पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा छठे मन के ऊपर जो जीव है, वह बच गया, उसका कल्याण हो गया और अहंकार का घर जल गया। इस रमैनी में है "छठये माँ सब गयल बिगोई" अर्थात मन के चक्कर में पड़कर सब नष्ट हो गये।

मनुष्य का मन अधिक विकासशील है। उसका संयम हो तो मनुष्य महान हो जाये और उसका दुरुपयोग हो तो मनुष्य का पतन हो जाये। संसार में ज्यादा यही देखा जाता है कि लोग अपने मन में उलझते हैं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि "छठयें माँ सब गयल बिगोई" मन के भंवर में पड़कर सबने अपने को खो दिया है। मन के कुहासे में जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचान रहा है।

"सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक वेद मों देउँ देखाई॥" पांच ज्ञानेन्द्रिय, छठां मन और इनके ऊपर सातवां जीव है। सद्गुरु सातवें को अपना विधि-वाक्य एवं प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। उसे वे लोक तथा वेद के प्रमाणों से दिखा देने की प्रतिज्ञा करते हैं। अगली साखी में उनका प्रतिपाद्य विषय जीव है और उसी जीव की तरफ सतयां कहकर पहले संकेत है।

जीव की प्रामाणिकता के विषय में लोक और वेद दोनों प्रमाण हैं। लोक में देखा जाता है कि जब जीव शरीर छोड़ देता है, तब अनाड़ी-से-अनाड़ी लोग भी मृत देह को जलाकर, गाड़कर या पानी में फेंककर उसका त्याग कर देते हैं। यहां तक कि जीव की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति का बोध पशु-पक्षी को भी हो जाता है।

---

1. बीजक, रमैनी 52।
2. बीजक, साखी 1।
3. बीजक, साखी 68।

यहां वेद का अर्थ शास्त्र-प्रमाण से है। शास्त्रों में यह बातें जगह-जगह भरी ही हैं कि जीव देह से पृथक एवं नित्य है।

"बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥" यह साखी इस ग्रन्थ का प्राण तत्त्व है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सद्गुरु ने इस ग्रन्थ का नाम स्वयं बीजक रखा था और नाम की परिभाषा भी इस साखी में स्वयं कर दी थी।

बीजक के प्रसिद्ध इंगलिश अनुवादक श्री अहमदशाह ने बीजक की अपनी भूमिका में लिखा है—

This collection of hymns in various metres contains the most authoritative record of Kabir's teaching. The word itself has three distinct meanings : (1) an invoice, (2) essence or seed, (3) a document by which a hidden treasure can be located. The title given to this collection seems to be derived from the third of these uses of the word. In early days near the Benares State there lived a race called Baroh : The district they inhabited is still called Badohi, a corruption of the original Barohi, an aboriginal race of India, when conquered by the Rajputs and forced to do menial work, they buried their treasures out of sight, carefully marking the place of concealment by secret signs on a carefully preserved chart. This chart they called a Bijak or key. When in need of money, they recovered their treasure by means of this Bijak, taking care never to disclose its secret signs to any but their heirs. Kabir himself spoke the dialect of the Mirzapur and Gorakhpur district, and no doubt was familiar with this use of the word, to which he directly described in the Sakhi of the 37th Ramaini."[1]

अर्थात—यह पदों का संग्रह कई प्रकार के छंदों में है और कबीर की शिक्षाओं का सबसे अधिक प्रामाणिक दस्तावेज है। इस (बीजक) शब्द के भी तीन स्पष्ट अलग-अलग अर्थ हैं। 1. बीजक, 2. सार या बीज, 3. एक दस्तावेज जिससे गुप्त धन के स्थान का पता लगाया जा सके। इस संग्रह का शीर्षक इस शब्द के तीसरे व्यावहारिक अर्थ से लिया गया मालूम होता है। पूर्वकाल में बनारस की रियासत के पास एक जाति रहती थी, जिसको बरोह कहते थे। जिस जगह में वे बसे हुए थे अब भी भदोही कहलाता है जो कि आरम्भिक शब्द बरोही का अपभ्रंश है। भारत की एक आदिम जाति को जब राजपूतों ने जीत लिया और उनको निम्न श्रेणी का कार्य करने के लिए बाध्य

1. The Bijak of Kabir, p. 29, Asian publication services. A 28, East of Kailash, New Delhi-110024, India.

किया तो उन्होंने अपनी मूल्यवान वस्तुओं को नजर से दूर जमीन में गाड़ दिया और छिपाने की जगहों पर सावधानी से गुप्त चिह्न बना दिये और उसका मानचित्र सावधानी से सुरक्षित रख दिया। इस मानचित्र को उन्होंने बीजक अथवा कुंजी नाम दिया। जब रुपये की आवश्यकता पड़ती तब वे मानचित्र की सहायता से अपना धन निकाल लेते थे और यह सावधानी रखते थे कि उसके गुप्त चिह्न उनके उत्तराधिकारियों को छोड़कर और किसी को पता न लगे। कबीर स्वयं मिर्जापुर तथा गोरखपुर जिलों की बोली बोलते थे और इसमें कोई शंका नहीं है कि वे इस शब्द के व्यवहार से परिचित थे जिसका उन्होंने 37वीं रमैनी की साखी में सीधा वर्णन किया है।

एक सेठ ने करोड़ों रुपये एक स्थल पर गाड़कर अपने बीजक में सांकेतिक शब्दों में लिख दिया "चैत्र शुक्ल पूर्णिमा के मध्याह्नीय, साठ फीट ऊंचे शिवालय के अन्तिम शिखर पर धन रखा है।"

सेठ के मर जाने पर उसके लड़के ने बहुत दिनों के पश्चात उस बीजक में उपर्युक्त वाक्य पढ़ा और बिना विचार किये रुपये के लिए शिवालय का शिखर तोड़वा दिया। परन्तु धन न पाया। कुछ दिनों में एक महात्मा आये, उस बीजक के वाक्य को देखकर थोड़ा विचार करते ही वे समझ गये। उन्होंने सोचा यदि शिवालय के शिखर में सेठ रुपये रखता तो इतना ही लिखता "शिवालय के शिखर में रुपये रखे हैं।" महीना, पक्ष, तिथि, समय और शिवालय की ऊंचाई लिखने की कुछ आवश्यकता ही नहीं थी। अतएव विचार से यही सिद्ध हुआ कि 'चैत्र महीने शुक्ल पक्ष पूर्णमासी के दोपहर को साठ फीट ऊंचे शिवालय के शिखर की परिछाई जहां जावे वहीं धन होगा।' अतएव शिवालय पुनः साठ फीट ऊंचा बनवा दिया गया और उक्त महीने, पक्ष, तिथि के आने पर दोपहर को शिवालय की जहां परिछाईं पड़ी उस जमीन को खोदवाया गया और धन मिल गया।

जैसे बाहरी बीजक गड़े हुए गुप्त धन को बताता है, वैसे सद्गुरु कबीर का यह बीजक ग्रन्थ शरीर के भीतर छिपे हुए जीव का परिचय कराता है। "ऐसे शब्द बतावै जीव को।" जीव ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान एवं सिद्धान्तों का मूल है। इस साखी में बीजक का नामकरण करते समय सद्गुरु कबीर अपने मूल सिद्धान्त का भी परिचय देते हैं। उनका मूल सिद्धान्त जीव है। जीव मूल है। इसे आत्मा तथा राम भी कहा गया है। बीजक-पाठ-फल में कहा गया है "बीजक उसे कहते हैं जो धन का साक्षी दे, धन का संदेश बताये। आत्मा रूपी धन जिस जगह है कबीर-बीजक के वचनों का संकेत उसी ओर है। आत्मा राम की नित्य सत्ता है और मन-माया कृत जो कुछ है वह नाशवान है। बीजक की

वाणियों को गुरुमुख से पढ़कर इसकी परख करें।"[1] साखी प्रकरण की 82वीं साखी में सद्गुरु ने स्वयं कहा है "पारखी से संग करु, गुरुमुख शब्द विचार।" पंचग्रंथी, जो बीजक की भावात्मक टीका मानी जाती है, श्री रामरहस साहेब ने उसमें कहा है—

वचन बसावहु पारखी, बीजक है सो नाम।
अक्षर अक्षर गुरु से लखहु, संशय मेटहु तमाम॥

कोई भी विचारक, दार्शनिक एवं सिद्धांती अपने सिद्धांत का एक वचन में भी खंडन नहीं करता। यदि कबीर साहेब के विचार में जीव एवं अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानने की बात होती, तो वे रमैनी 36 एवं शब्द 10, 22, 32, 36, 37, 115 आदि के भाव न व्यक्त करते। अतएव वे स्वस्वरूप चेतन देव को ही परम तत्त्व मानते हैं।

इस रमैनी में तीसरे, चौथे, पांचवें तथा छठें सयान में क्रमशः त्रिगुण, चतुष्टय अन्तःकरण, पंचविषय या पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा मन माना गया है और यह बताया गया है कि ये श्रेष्ठ नहीं हैं। वस्तुतः इनके ऊपर श्रेष्ठ है जीव, जो सातवां है। पहले और दूसरे सयान में आत्मभिन्न ब्रह्म और ईश्वर लिया गया है कि वे श्रेष्ठ नहीं हैं, जो 36वीं रमैनी के अनुसार प्रकरण-संगत है। परन्तु उन्हें हटाकर उनकी जगह पर क्रमशः देह और माया लेकर इस रमैनी को इस तरह भी समझा जा सकता है। जैसे—

1. देह, 2. माया, 3. त्रिगुण, 4. चतुष्टय अंतःकरण, 5. पांच विषय या पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा छठां मन से श्रेष्ठ जीव है। इसमें पहले के छह तक सयाने या श्रेष्ठ नहीं हैं, किन्तु सातवां जीव ही श्रेष्ठ है। क्योंकि पहले के छह जड़ हैं और सातवां जीव चेतन है।

आत्मसंतोष जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है

रमैनी-38

यहि बिधि कहौं कहा नहिं माना। मारग माहिं पसारिनि ताना॥ 1॥
राति दिवस मिलि जोरिन तागा। ओटत कातत भरम न भागा॥ 2॥
भरमहि सब जग रहा समाई। भरम छोड़ि कतहूँ नहिं जाई॥ 3॥

---

1. बीजक कहिये साख धन, धन का कहै सन्देश।
आतम धन जेहि ठौर है, वचन कबीर उपदेश॥
अस्ति आत्माराम है, मन माया कृत नास्ति।
याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥ (बीजक पाठफल)

परै न पूरि दिनहु दिन छीना। तहाँ जाय जहाँ अंग बिहूना॥ 4॥
जो मत आदि अन्त चलि आई। सो मत सब उन्ह प्रगट सुनाई॥ 5॥

साखी—यह संदेशा फुरकै मानेहु, लीन्हेउ शीस चढ़ाय।
सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय॥ 38॥

शब्दार्थ—मारग=कल्याण मार्ग। ताना=सूत, वाणी-जाल। ओटत-कातत=रुई से बिनौले निकालते तथा सूत कातते; तात्पर्य में बातों को बारंबार दोहराते, वाद-विवाद करते। भरम न भागा=अज्ञान नहीं गया। परै न पूरि=संतुष्ट एवं आप्तकाम नहीं होते। अंग बिहूना=शून्य, उपाय-रहित। आदि अन्त=पहले से आज तक। फुरकै=सत्य करके।

भावार्थ—37वीं रमैनी का संदर्भ रखते हुए सद्गुरु कहते हैं कि मैं इस प्रकार कहता हूं, परन्तु लोग कहा नहीं मानते और अपने कल्याण-मार्ग में वाणी-जाल का ताना फैलाकर उसी में उलझ जाते हैं॥ 1॥ वे रात-दिन वाणी के तागे जोड़ते हैं; परन्तु बारम्बार उन्हीं बातों को दोहराते तथा वाद-विवाद करते हुए भी इनके मन का अज्ञान नहीं दूर होता॥ 2॥ संसार के सारे लोग भ्रम में डूबे हैं। ये भ्रांति को छोड़कर वास्तविकता में नहीं जाते॥ 3॥ इसलिए इनके मन में संतोष नहीं आता। ये दिन प्रतिदिन क्षीण एवं ज्ञानहीन होते जाते हैं और अन्त में वहां पहुंचते हैं जहां शून्य है। अर्थात अंततः उपायरहित दशा को पहुंच जाते हैं॥ 4॥ जो भ्रांतिपूर्ण विचार पहले से आज तक फैलते हुए चले आये हैं, उन्हीं बातों को भ्रांत गुरु लोग विवरणपूर्वक लोगों को सुनाते हैं॥ 5॥

संसार के लोग उन्हीं भ्रांत विचारों को सत्य करके मान लेते हैं और उन्हें सिर पर चढ़ा लेते हैं। परन्तु हे सन्तो! स्वरूप-सन्तोष एवं आत्म-सन्तोष में शाश्वत सुख है। यदि स्वरूप में सन्तुष्ट हो रहो, तो हृदय शीतल हो जायेगा॥ 38॥

व्याख्या—सद्गुरु वाणी-जाल की उलझनों को समझाने के लिए जुलाहे के ताने-बाने आदि का रूपक देते हैं। वे कहते हैं कि जुलाहे रुई को ओटकर उससे बिनौले निकालते हैं, फिर सूत कातते हैं और किसी मार्ग के लंबान या खुले स्थान में सूत के ताने फैलाते हैं। इसी प्रकार मतवादी लोग भी रात-दिन वाणी को ओटते-काटते हैं, बारम्बार उन्हीं वाणियों को दोहराते हैं, वाद-विवाद करते हैं, अपने कल्याण-मार्ग में उसके ताने फैला लेते हैं और उन्हीं में उलझ जाते हैं।

सद्गुरु ने 36वीं और 37वीं रमैनी में बताया है कि मनुष्य का अपना मूल स्वरूप चेतन है जिसको हम सरल ढंग से जीव कहते हैं और उसी को राम भी कहते हैं "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि बस्तु खोटि॥" बस यही अपनी परम

सत्ता है। यह जीव, यह अपनी चेतना, यह अपना रामरूप आत्मा, यही अपना परम निधान, परम प्राप्तव्य, परमस्थिति की भूमिका है। इसके अलावा पंच भौतिक शरीर तथा भोग-विषय तुच्छ हैं एवं परोक्ष में भटकना भी गलत है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार मैं अनुमान-कल्पना एवं कर्मकांड के सारे जालों को काटकर जीव के अपने स्वरूप की ओर सबको प्रेरित करता हूं; परंतु लोग तो विषय-भोगों में एवं नाना देवी-देवताओं में उलझे हैं। वे अपने निधान को अपने जीव एवं अपनी आत्मा से पृथक खोजते हैं। जीव के अपने स्वरूप से कहीं दूर एवं पृथक परमात्मा, मोक्ष एवं कल्याण है—इस भावना में संसार के प्रायः अधिकतम लोग डूबे हैं। इस प्रकार की ही नाना वाणियां बनी हैं, लोग उन्हें ही ओट-कात रहे हैं, वाद-विवाद कर रहे हैं। लोग अपने कल्याण-मार्ग में भ्रामक वाणियों का ताना-बाना फैला रखे हैं। मकड़ी के जाल के समान वाणी-जाल बनाकर लोग उसी में उलझ रहे हैं।

"ओटत कातत भरम न भागा" बड़ा हृदयस्पर्शी वचन है। लोग नाना कथा-वार्ता सुनते हैं, स्वयं बड़ी-बड़ी पोथियों को बांचते हैं, आत्मा-परमात्मा पर वाद-विवाद करते हैं, परन्तु उनकी भ्रांति नहीं जाती। बहुत कुछ जान-समझ लेने के बाद भी परमात्मा एवं मोक्ष को अपने से अलग ही खोजते हैं।

"भरमहि सब जग रहा समाई" सारा संसार भ्रम में डूबा है। पलटू साहेब भी कहते हैं, 'भूला एक न दोय, सकल संसार है।' लोग पेड़, पत्थर, पानी में सिर पटकते तथा उनमें देवता खोजते हैं, फिर आकाश में लोक-लोकांतरों की कल्पना कर उनमें भगवान का पता लगाना चाहते हैं। यह भोला मानव बाहर सब जगह भगवान खोजता है, परन्तु अपने हृदय में नहीं खोजता। इनसान पेड़, पत्थर, पानी तथा मन की कल्पनाओं का महत्त्व मानता है, किन्तु अपने आप का महत्त्व नहीं जानता। वह जगह-जगह घुटने टेकता है, परन्तु यह नहीं सोचता 'मैं कौन हूं'। अपनी सत्ता और महत्ता का बोध हुए बिना वह दर-दर भटकता है।

इसीलिए "परै न पूरि दिनहु दिन छीना" मनुष्य को पूर्णता नहीं मिलती। वह संतुष्ट नहीं होता। वह आप्तकाम, अकाम, निष्काम, पूर्णकाम नहीं हो पाता। भला, अपने जीवतत्त्व को, अपने चेतन-स्वरूप एवं आत्माराम को छोड़कर कहां पूर्ण शांति, पूर्ण आनन्द, परमतृप्ति एवं निरन्तर संतोष मिलेगा! जो अपने आप को नहीं पाया, अपने आप में सन्तुष्ट नहीं हुआ, वह कहां तृप्ति पायेगा! आत्म-अस्तित्व के बोध एवं तृप्ति के बिना आदमी बाहर भोगों एवं कल्पनाओं में भटकते-भटकते दिन-प्रतिदिन विवेकहीन होता जाता है। कल्पनाओं में दौड़ने वाला अन्त में वहां पहुंचता है जहां 'अंगबिहूना' दशा है। जहां गुरुओं

द्वारा निर्गुण-निराकार, अदेख-अलेख कहकर शून्य में धकेल दिया जाता है। इसी भ्रांति में जीवन का अन्त आ जाता है और आदमी उपायरहित हो जाता है। जिसने अपने स्वरूप को नहीं पहचाना, उसको भटकने के सिवा कुछ नहीं है।

"जो मत आदि अन्त चलि आई। सो मत सब उन्ह प्रगट सुनाई॥" पहले से आज तक सर्वत्र यही मत तो फैला है कि भगवान या मोक्ष कहीं अलग मिलता है। गुरु लोग अबोधी बनकर स्वयं भटक रहे हैं और दूसरों को भटका रहे हैं। इन भ्रामक उपदेशों को लोग सत्य मानकर उन्हें सिर पर चढ़ा रहे हैं, फिर मनुष्य का कैसे कल्याण होगा!

"सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय॥" सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! सन्तोष में सुख है। यदि तुम सन्तुष्ट हो जाओ तो तुम्हारा हृदय शीतल हो जायेगा। तुम मन को बाहर भटकाने वाली बातों को मत मानो, न भोगों में भटको और न मन की नाना कल्पनाओं में। सारी कल्पनाएं छोड़कर अपने स्वरूप में सन्तुष्ट होओ। तुम्हारे आत्माराम से पृथक न कहीं भगवान है और न कहीं मोक्ष। तुम अपने स्वरूप में संतुष्ट होओ, फिर सदैव कृतार्थरूप हो जाओगे। सद्गुरु साखी प्रकरण में कहते हैं—"यदि तुम मुझे चाहते हो, मेरी बातों को मानते हो, तो सारी आशाओं को छोड़कर मेरे समान निष्काम हो जाओ। बस, सब सुख तुम्हारे पास उपस्थित हो जायेगा।"[1] महाराज श्री कृष्ण कहते हैं—"जो व्यक्ति आत्मा में ही प्रेम करता है, आत्मा में ही तृप्त होता है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है, उसको कुछ करना बाकी नहीं रहता।"[2] महात्मा बुद्ध कहते हैं—"आत्मा ही आत्मा का स्वामी है तथा आत्मा ही आत्मा की गति है। इसलिए अपनी आत्मा को संयमी बनावे, अपनी आत्मा में तृप्त हो; जैसे सुन्दर घोड़े को बनिया अपने वश में करता है।"[3] यह जीवन का सर्वोच्च सूत्र याद रखो—"सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय॥"

सत्य संप्रदाय तथा जाति-पांति से ऊपर है

रमैनी-39

जिन्ह कलमा कलि माहिं पढ़ाया। कुदरत खोज तिनहुँ नहिं पाया॥ 1॥
कर्मत कर्म करे करतूता। वेद कितेब भये सब रीता॥ 2॥

---

1. जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
   मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ (साखी 298)
2. यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
   आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (गीता 3/17)
3. अत्ता ही अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
   तस्मा सञ्ञमयत्तानं अस्सं भद्रंव वाणिजो॥ (धम्मपद 25/21)

कर्मत सो जग भौ अवतरिया। कर्मत सो निमाज को धरिया॥ 3॥
कर्मत सुन्नति और जनेऊ। हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ॥ 4॥
साखी—पानी पवन संजोय के, रचिया यह उतपात।
शून्यहि सुरति समोय के, कासों कहिये जात॥ 39॥

शब्दार्थ—कलमा=मुसलमानों के विश्वास का मूलमंत्र 'ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह'—अल्लाह के अलावा कोई पूज्य नहीं, और मुहम्मद अल्लाह का संदेशवाहक है। कुदरत=प्रकृति। कर्मत=कर्म के मत से, कर्म से। रीता=खाली, व्यर्थ। भौ=हुआ। अवतरिया=जन्म। भेऊ=भेद। पानी पवन=रज-वीर्य और प्राण, या लक्षणा अर्थ से समग्र जड़ तत्त्व। संजोय=एकत्र। उतपात=झंझट। सुरति=लक्ष्य, मन। शून्यहि सुरति समोय के=मूर्ख बनकर। जात=जाय या जात-पांत।

भावार्थ—जिन्होंने कलिकाल में कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाया, वे भी प्रकृति की शक्ति की खोज नहीं कर सके॥ 1॥ हिन्दू और मुसलमान कर्मकांड के मत खड़ा कर एक के बाद दूसरे कर्म करते चले जाते हैं। इनके लिए वेद और कुरान ज्ञान से खाली ही रह गये॥ 2॥ नाना सकाम कर्मों में उलझकर ही जीव बारम्बार संसार में जन्म धारण करता है। पांच वक्त नमाज पढ़ना कर्मकांड का ही रूप है॥ 3॥ यह कर्मकांड का ही बखेड़ा है जो मुसलमान पेशाब-इंद्रिय की खलड़ी कटाते हैं और हिन्दू द्विज लोग जनेऊ पहनकर गायत्री जपते हैं। ये दोनों ही धर्म के सच्चे रहस्य को नहीं जानते॥ 4॥

कर्माध्यास-वश ही जीव रज-वीर्य और प्राण अथवा जड़तत्त्वों के संयोग से शरीर धारण करता है, जो जीव के लिए एक झंझटरूप खड़ा होता है। यह किससे कहा जाये कि मनुष्य अपने मन को शून्य में खो रहा है।

अथवा पानी-पवन के संयोग से यह झंझट रूपी शरीर खड़ा होता है। मूर्ख बनकर इसे किस जाति का कहा जाये!॥ 39॥

व्याख्या—मुसलमानों को यह गर्व है कि कुरान खुदाई किताब है, इसलाम खुदाई मत है तथा मुहम्मद खुदाई दूत हैं। इन तीनों की शरण में ही संसार की सच्चाई जानी जा सकती है और इनसान को स्वर्ग मिल सकता है। केवल अल्लाह ही पूज्य है तथा उसका रास्ता बताने वाला मात्र मुहम्मद है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि कलिकाल में हजरत मुहम्मद तथा उनके पीछे के मुल्लाओं ने लोगों को कलमा पढ़ा-पढ़ाकर उन्हें मुसलमान तो अवश्य बनाया; परन्तु वे स्वयं कुदरत एवं विश्व-सत्ता का रहस्य नहीं जान सके।

विश्व अनन्त देश-काल-व्यापी है। अर्थात देश भी अनन्त है और काल भी अनन्त है। हम एक यान में चलें, जो एक सेकेंड में अरबों किलोमीटर चलता हो और वह अरबों वर्ष चलता रहे, तो भी देश की—शून्याकाश की सीमा नहीं आयेगी। प्रकाश की गति एक सेकेंड में तीन लाख किलोमीटर है, और ऐसे भी तारे हैं जहां से हमारी पृथ्वी पर प्रकाश आने में अरबों वर्ष लग जायें। परन्तु वह तारा भी मानो एक-दो फर्लांग की दूरी पर ही है; क्योंकि देश (शून्याकाश) अनन्त है। इसी प्रकार खरबों वर्ष भी महाकाल के बीच में एक सेकेंड के तुल्य हैं। देश और काल अनन्त हैं और अनन्त देश-काल-व्यापी विश्व भी अनन्त है। इस अनन्त विश्व के सामने हमारी पृथ्वी एक कण के तुल्य है। इस पृथ्वी पर का कोई मत यह कहे कि इस अनन्त विश्व को चलाने वाली शक्ति उसी के मजहब की धरोहर है, अथवा उस शक्ति ने उसी के मजहब के आदि पुरुष को संसार भर को तारने के लिए भेजा है तो यह सब कुदरत एवं विश्व सत्ता को न समझने का परिणाम है। जितने मत तथाकथित ईश्वर के एकाधिकारी ठेकेदार बनते हैं, यदि वे किसी दूसरे लोक में चले जायें, जहां मनुष्य रहते हों तो वे देखेंगे कि उनके मत का, उनके ग्रन्थ का तथा उनके परिभाषित धर्म का वहां चिह्न एवं पता भी नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई मत यह कहे कि हमारे मजहब, पुरुष एवं ग्रन्थ ही मनुष्य के कल्याणकारी हैं, शेष नास्तिकता के मार्ग पर हैं तो यह कुदरत एवं विश्वसत्ता को कहां समझा गया।

दाढ़ी, चोटी, खतना, जनेऊ, रोजा, नमाज, पूजा, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा, छापा, तिलक, राम, रहीम, गॉड आदि शब्द, ये सारे कर्मकांड के विस्तार मनुष्यों ने किये हैं। इनके द्वारा जीवन में एक संयम-सदाचार का बीजारोपण हो सकता है; परन्तु इन्हीं को परम सत्य मानकर और मूलधारा जो मानवीय विवेक एवं मानवीय गुण है उनसे हटकर मनुष्य का कल्याण कैसे हो सकता है! कर्मकांडों को ही परम सत्य मान लेने से वे मनुष्य को विभाजित करते हैं। खतना और जनेऊ को मुसलमान तथा हिन्दुओं ने लोह की कितनी पक्की लकीर मान ली है! विश्व की सत्ता वही है, मनुष्य वही हैं, परन्तु अपने-अपने कुछ काल्पनिक परिभाषित शब्द एवं कर्मकांडों को लेकर एक मत वाला दूसरे मत वाले से कितना दूर अपने को मानकर अलग खड़ा है। यह सब देखकर सत्यद्रष्टा कबीर कह बैठते हैं "हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ" हिन्दू-तुरुक कबीर साहेब के सामने प्रासंगिक थे। परन्तु यह कहकर वे मानो सारे मतवादियों को कह देते हैं। कबीर साहेब का यह कथन उन सबके लिए समझना चाहिए जो स्थूल नाम-रूपों एवं कर्मकांडों को लेकर सत्य को खण्डित करने लगते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों के लिए वेद, कुरान, बाइबिल

आदि सब सत्य-ज्ञान से खाली हैं। जो सार्वभौमिक सत्य को नहीं समझ सकता, उसके लिए वेद-कितेब रीते ही हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जीव नाना कर्माध्यासों एवं मान्यताओं में फंसकर इस संसार में भटक रहा है। उसे और मान्यताओं एवं कर्मकांडों के बन्धनों में मत डालो।

"पानी पवन संजोय के, रचिया यह उतपात। शून्यहि सुरति समोय के, कासों कहिये जात॥" यहां पानी से अर्थ रज-वीर्य तथा पवन से प्राण है, जिनके संयोग से इस उपद्रव रूप शरीर की रचना होती है। लक्षणा दृष्टि से पानी-पवन से सारे जड़ तत्त्व का अर्थ माना जा सकता है। अर्थात जड़ तत्त्वों से शरीर की रचना होती है। हिन्दू हो या मुसलमान या अन्य नामधारी, मानव मात्र के शरीर की रचना का प्रकार एक ही है। सबके शरीर में वही जड़ तत्त्व लगे हैं और सबके अन्दर वही एक-सा चेतन है। इन वास्तविकताओं को न समझना अपनी सुरति को शून्य में समोना है। अर्थात अपने मन को नकारात्मक स्थिति में ले जाना है। उसे मूढ़ बनाना है। परन्तु यह सब किससे कहा जाये! समझने वाले से ही कहा जा सकता है, जो नहीं समझता उसके आगे सिर मारने से क्या होगा!

"शून्यहि सुरति समोय के, कासों कहिये जात॥" का दूसरा अर्थ थोड़ा भिन्न किया गया है। 'शून्यहि सुरति समोय के' का अभिप्राय है मूढ़ होना। अपने मन को शून्य, जड़ एवं मूढ़ बना देना है यदि मानव में विभिन्न जाति-पांति की कल्पना की जाती है तो। अर्थात मूर्ख बनकर मनुष्य को किस जाति का कहा जाये! सार यह है कि एक मानव जाति में भिन्न-भिन्न जातियों की कल्पना करना मूढ़ता है। मानव की केवल एक जाति है।

इस रमैनी के आरम्भ में "जिन्ह कलमा कलि माहिं पढ़ाया" हजरत मुहम्मद का संकेत है। उन्होंने ही कलिकाल में कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाना शुरू किया था। अतएव उनके विषय में यहां संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें।

हजरत मुहम्मद

अरब के प्रधान नगर मक्का में 'अब्दुल्लाह' की पत्नी 'आमना' से 560 ई. में हजरत मुहम्मद का जन्म हुआ। जब वे गर्भ में थे, तभी उनके पिता का देहावसान हो गया था। हजरत मुहम्मद के बाल्यकाल में उनकी माता (आमना) का भी देहावसान हो गया। आठ वर्ष की अवस्था से ही अपने चाचा 'अबूतालिब' पर वे अवलंबित हो गये।

हजरत मुहम्मद एक गरीब घर के बच्चे थे, परन्तु प्रतिभावान पुरुष थे। व्यक्ति के धन, जाति, विद्या आदि का महत्त्व नहीं होता, महत्त्व होता है उसके ज्ञान, आचरण, प्रतिभा एवं मानवता का।

कुरैश वंश की एक धनवान विधवा 'खदीजा' नाम की स्त्री के यहां उन्होंने पचीस वर्ष की अवस्था में नौकरी कर ली। पीछे से 'खदीजा' ने उन्हें पति रूप में वरण कर लिया। इस प्रकार यह उनका पहला विवाह हुआ।

चालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने कुरान बनाना आरम्भ किया, और दुराचरण तथा मूर्ति-पूजा का विरोध कर सदाचार तथा ईश्वर की पूजा का प्रतिपादन करना आरम्भ किया। इसीलिए विरोधी मत वाले उनके शत्रु बन गये, परन्तु जब तक उनके चाचा 'अबूतालिब' जीवित रहे तब तक उनको कोई खुलकर सता न सका। हजरत मुहम्मद की तिरपन वर्ष की अवस्था हुई, तब उनके चाचा का देहावसान हो गया; अतः विरोधी लोग हजरत को बहुत सताने लगे। इस स्थिति को देखकर वे मदीना चले गये। मदीना जाने के तीन वर्ष पूर्व ही उनकी पहली पत्नी 'खदीजा' की मृत्यु हो चुकी थी। हजरत मुहम्मद की कुल पत्नियां बारह बताई जाती हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. खुदैजा-तुल-कुबरा (खुबैलिद की पुत्री)
2. आयशा (अबूबक्र की पुत्री)
3. सूदा (ज़मअः की पुत्री)
4. हफ़्सा (उमर की पुत्री)
5. जैनब (ख़जीयः की पुत्री)
6. जवेरिया (हारस की पुत्री)
7. उम्मेहबीबया (अबू सुफ़यान की पुत्री)
8. सफ़ीया (सरदार हुय्यी बिन अख्तब की पुत्री)
9. मारया कबतीया (मिश्र के बादशाह द्वारा नजराने में प्राप्त)
10. मैनूना (हारस की पुत्री)
11. उम्मेसलमा (अबी उम्मयः की पुत्री)
12. रेहाना (यजीद की पुत्री)[1]

उपर्युक्त स्त्रियों में से 'जैनब' हजरत मुहम्मद के पोष्य पुत्र 'जैद' की पत्नी थी, परन्तु दोनों में न पटती देखकर परिस्थितिवश हजरत मुहम्मद ने उससे

---

1. मध्यकालीन हिंदी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय—डॉ. अब्दुल बिसमिल्लाह। (प्रकाशक—हिंदुस्तान एकैडमी, इलाहाबाद)

अपना विवाह कर लिया। वे पहले यह करने में सकुचाते थे कि लोग कहेंगे कि मुहम्मद ने पतोह से विवाह कर लिया। उनके सन्देहशमन के लिए कुरान में खुदा की आयत (मन्त्र) उतरी, वह इस प्रकार है—

"भगवान से डर, तू मनुष्यों से डरता है, किन्तु परमेश्वर से डरना ही सर्वोत्तम है। जब 'जैद' की उससे इच्छा पूर्ण हो गयी तो हम (ईश्वर) ने उसे (जैनब को) तुझे ब्याह दिया। यह इसलिए कि मुसलमानों पर अपने मौखिक (पुत्रों) की स्त्रियों से ब्याह करने में हरज न हो।"[1]

इस प्रकार अरब देश में इसलाम का पर्याप्त प्रचार कर तिरसठ (63) वर्ष की अवस्था में हजरत मुहम्मद ने अपनी जीवनलीला समाप्त की।

हजरत मुहम्मद के जमाने में अरब में चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि अत्याचार व्याप्त थे। अतः उन्होंने नरक का भय तथा स्वर्ग और ईश्वर-प्राप्ति का लालच देकर लोगों को बुरे मार्ग से छुड़ाकर बहुत-कुछ अच्छे मार्ग पर लाया। उस जमाने के लिए उनका ज्ञान काफी था, परन्तु वर्तमान में प्रिय मुसलमान भाइयों को सत-असत का स्वतन्त्र विवेक करना चाहिए। पुरानी या नयी किताबों के हरफों में अपनी अक्ल को श्रद्धा की जंजीर से बांध नहीं रखना चाहिए। श्रद्धा की दीवार में जब तक विवेक के झरोखे नहीं खोले जायेंगे, तब तक न सत्य के दर्शन होंगे और न मानवता आयेगी।

रमैनी-40

आदम आदि सुधि नहिं पाई। मामा हवा कहाँ ते आई॥ 1॥
तब नहिं होते तुरुक औ हिन्दू। माय के रुधिर पिता के बिन्दू॥ 2॥
तब नहिं होते गाय कसाई। तब बिसमिल्ला किन फुरमाई॥ 3॥
तब नहिं होते कुल और जाती। दोजख बिहिस्त कौन उतपाती॥ 4॥
मन मसले की सुधि नहिं जाना। मति भुलान दुइ दीन बखाना॥ 5॥
साखी—संजोगे का गुण रवै, बिजोगे का गुण जाय।
जिभ्या स्वारथ कारणे, नर कीन्हें बहुत उपाय॥ 40॥

शब्दार्थ—आदम=यहूदियों, इसाइयों तथा मुसलमानों द्वारा माना हुआ (हिन्दुओं के ब्रह्मा के समान) आदि सृष्टि का प्रथम मानव। आदि=सृष्टि का आरम्भ। सुधि=पता। मामा=माता, अरबी में 'मामा' का अर्थ माता या सेविका होता है। हवा=हव्वा (जगज्जननी), आदम की पत्नी। फुरमाई= आज्ञा देना। मन मसले=मनःकल्पित कहावत, कहानी। रवै=प्रकट या विकास होना। जाय=नष्ट।

---

1. (33 : 5 : 3) इसलाम धर्म की रूपरेखा।

भावार्थ—आदम स्वयं अपने जन्म का पता नहीं जानते थे। वे तो इतना भी नहीं जानते थे कि उनकी पत्नी हव्वा कहां से आ गयीं॥ 1॥ सृष्टि के आदि में मुसलमान और हिन्दू नहीं थे और न नारी का रज था एवं न पुरुष का वीर्य था॥ 2॥ उस समय न गाय थी और न कसाई था। तब बिस्मिल्ला कहकर जीव-वध करने की आज्ञा किसने दी?॥ 3॥ उस समय न कुल-परम्परा थी और न कोई जाति एवं मजहब थे, तब नरक[1] और स्वर्ग का निर्धारण किसने किया कि अमुक मजहब वाला स्वर्ग में जायेगा तथा बाकी नरक में जायेंगे॥ 4॥ वस्तुतः लोग अपने मन की कल्पित कहानियों का रहस्य नहीं समझ सके, इसलिए बुद्धि भ्रमित हो गयी और एक मानव में दो दीनों की व्याख्या कर डाली॥ 5॥

अपनी उपयुक्त योग्यता एवं संयोग पाकर किसी कार्य का संपादन होता है और उसके अपने गुणों का प्रकटीकरण तथा विकास होता है। और जब योग्यताओं का बिखराव हो जाता है तब वह कार्य एवं उसके गुण विलीन हो जाते हैं। लोगों ने अपने जीभ-स्वाद के लिए बलि-कुर्बानी आदि नाना उपाय कर रखे हैं॥ 40॥

---

1. मुसलमानों के स्वर्ग-नरक हिन्दुओं के समान ही वर्णन किये गये हैं। स्वर्ग में उत्तम बाग होंगे। मधु आदि मधुर पेय पदार्थों की नहरें होंगी। उत्तम-उत्तम भवन तथा बिस्तर होंगे। सुन्दर-सुन्दर तरुणियां और तरुण भी सेवा में लगे होंगे, इत्यादि।
   नरक तो बड़ा भयंकर होगा, वहां सदैव दहकती हुई आग होगी, पापी जीव उसमें जलाये जायेंगे। एक विद्वान ने मुसलमानों के नरक का थोड़ा नमूना इस प्रकार दिया है—
   "इसलाम में नरक और स्वर्ग बड़े महत्त्व की वस्तु माने गये हैं। मुसलिम-नरक का वर्णन बड़ा भयानक है। इसके सरदार को मलिक कहते हैं। उसकी सहायता के लिए उन्नीस फरिश्ते हैं। इन फरिश्तों के हर एक के दाहिनी तरफ सत्तर हजार और बायीं तरफ सत्तर हजार हाथ हैं। हर हाथ में सत्तर हजार हथेलियां हैं और हर हथेली पर सत्तर हजार उंगलियाँ हैं। हर उंगली पर एक-एक अजगर हैं। हर अजगर के सिर पर एक-एक सांप है। हर सांप की लम्बाई सत्तर हजार वर्ष की राह है। हर सांप के सिर पर एक बिच्छू है। यदि यह बिच्छू नरकवासियों को एक बार काट खाये, तो सत्तर हजार वर्ष तक दर्द रहे। बायें हाथ की उंगली पर एक-एक आग का खंभा भी है। नरक के सात द्वार हैं। एक द्वार से दूसरे द्वार तक सत्तर हजार वर्ष की राह है। नरक की आग के बारे में यह बताया गया है कि एक हजार वर्ष तक वह दहकायी गयी, तो लाल हुई, फिर एक हजार वर्ष धौंकी गयी तो सफेद हो गयी, फिर एक हजार वर्ष सुलगायी गयी तो काली हो गयी और कयामत तक ऐसी ही रहेगी।" (सरिता, 11/1955)
   वास्तव में जैसे दृश्य-जड़ पदार्थ नित्य हैं वैसे द्रष्टा चेतन पदार्थ भी नित्य हैं। कर्मवासना-वश जीव नाना शरीरों को धारण करते रहते हैं। पूर्वजन्मों के कर्मानुसार वे उत्तर-उत्तर के जन्मों को तथा उनमें सुख-दुखों को पाते रहते हैं। यह सुख ही स्वर्ग है और दुख ही नरक है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग-नरक का वर्णन केवल कल्पित है।

व्याख्या—यहूदी, ईसाई, इसलामी आदि यह मानते हैं कि हमारे महापुरुष पैगंबर हैं, ईश्वर के संदेशवाहक हैं, हमारी किताबें ईश्वरीय हैं तथा हमारे मजहब ईश्वरीय एवं राहेजन्नत हैं, स्वर्ग-पथ हैं। हमारे बाद सारे मजहब वाले नरक के राही हैं। इस संकुचितता से ब्राह्मण-परम्परा भी नहीं बची है। इस संकुचितता के मूल में है विश्व-सत्ता की समग्रता को न समझना।

उक्त मताभिमान के मर्दन के लिए सत्यद्रष्टा कबीर साहेब सभी मतावलंबियों को उनकी मान्यताओं के मूल तथा विश्व-सत्ता के मूल एवं सहजदशा की ओर ध्यान दिलाते हैं। पीछे 39वीं रमैनी में आप कह आये हैं कि कलिकाल में कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाने वाले हजरत मुहम्मद भी विश्व-सत्ता के रहस्य को नहीं जान सके। अन्यथा उनका मजहब यह नहीं कहता कि इसलाम ही स्वर्ग का पथ है, बाकी मतावलंबी काफिर एवं नकरगामी हैं और प्रलय तक मुहम्मद की ही पैगंबरी रहेगी। ये सारी संकुचित विचारधाराएं विश्व-सत्ता एवं ज्ञान की विशालता को न समझने का फल है। इसके बाद कबीर साहेब ने मानव-समाज में विभाजक रेखा पारने वाले कर्मकांडों की भी कसौटी की। उन्होंने खतना तथा जनेऊ को भी मानव-कल्पित बताया।

अब इस रमैनी में वे और पूर्व की परम्परा को लेते हैं जिसमें इसलामियों के साथ-साथ यहूदी तथा ईसाई भी आ जाते हैं। यहूदी, ईसाई तथा इसलामियों का सबसे पहला पैगंबर आदम माना जाता है जैसे हिन्दुओं में ब्रह्मा। बाइबिल में लिखा है कि यहोवा परमेश्वर ने छह दिनों में दुनिया बनायी तथा सातवें दिन विश्राम किया और उस दिन को पवित्र ठहराया। उसके बाद उसने मिट्टी लेकर आदम को बनाया और उसकी नाक में प्राण फूंक दिये। आदम जीवित हो गया। उसके बाद उसने पशु-पक्षी आदि बहुत प्राणी बनाये, किन्तु उनमें कोई आदम के साथ रहने योग्य नहीं था। तब उसने आदम को गहरी नींद में डालकर उसकी बायीं पसली से एक नारी बनायी और उसे आदम को दिया। उसका नाम हव्वा रखा।[1]

कबीर साहेब बाइबिल के अनुसार ही उन्हें बताना चाहते हैं कि जो तुम लोगों का प्रथम पैगंबर है, वह अपनी उत्पत्ति तो जानता ही नहीं था, अपनी पत्नी की उत्पत्ति भी नहीं जानता था। यह कहकर सद्गुरु यह बताना चाहते हैं कि संसार का कोई भी महापुरुष हो ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, आदम, मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि सब मानव के बच्चे हैं। सब अबोध होकर पैदा होते हैं। इस संसार में आकर वे सीखते-समझते हैं तथा अपनी-अपनी मति के

1. बाइबिल, उत्पत्ति प्रकरण, पृ. 1/4।

अनुसार अपने विचार रखते हैं। उनमें से कोई भी आकाश से आया हुआ पुरुष नहीं है। कोई भी अतिमानवीय नहीं है।[1] अतिमानवीय की कल्पना ही मानव के साथ छल करना है, जिसमें सारी सांप्रदायिक विषमताएं फैलती हैं, और ज्ञान की जगह पर अज्ञान फैलता है।

यहूदी, ईसाई, मुसलमान तथा हिन्दू अपने-अपने ढंग से सृष्टि का आरम्भ मानते हैं और बताते हैं कि कोई ऐसा समय था, जब सृष्टि नहीं थी। एक समय सृष्टि शुरू हुई। ईश्वर ने संसार तथा मनुष्यादि को बना दिया। सद्गुरु कहते हैं कि क्या ईश्वर भी सबका अलग-अलग था। यदि ईश्वर एक ही था, तो उसने एक ही प्रकार मनुष्य बनाया होगा। उसने हिन्दू-मुसलमान, यहूदी-ईसाई बनाकर उन्हें आपस में लड़ने के लिए तो नहीं तैयार किया होगा। कोई भी समझदार पिता यह नहीं चाहता है कि उसके बच्चे आपस में लड़ें और वे एक दूसरे को नरकगामी बतावें। फिर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं सर्वत्र व्याप्त कहा जाने वाला ईश्वर कब ऐसा चाहा होगा कि मानव-समाज में नाना संप्रदाय बन जायें और हर संप्रदाय को मैं अलग-अलग किताबें दे दूं और उनके यहां अलग-अलग पैगंबर एवं अवतार भेज दूं, उनके विचार एक दूसरे से न मिलें तथा वे एक दूसरे का विरोध भी करें और एक दूसरे को नास्तिक, काफिर तथा नापाक भी कहें, और इतना ही नहीं, वे एक दूसरे का गला भी काटने के लिए तैयार रहें।

सृष्टि के शुरू में तुरुक और हिन्दू नहीं थे, कुल और जाति नहीं थे, संप्रदाय और मजहब नहीं थे, तब स्वर्ग-नरक की व्याख्या किसने की, कि मेरे मजहब वाले स्वर्ग में जायेंगे तथा बाकी लोग नरक में ! उस समय गाय और कसाई भी नहीं थे, तब बिस्मिल्ला कहकर कुर्बानी के नाम पर जीवहत्या करने की आज्ञा किसने दी? यदि परस्पर विद्वेषात्मक संप्रदायवाद तथा बलि एवं कुर्बानी के नाम पर मूक पशुओं की हत्या का विधान ईश्वर ने ही कर दिया था, तब यह रोग असाध्य है। सुधार की कोई गुंजाइश ही नहीं है। यदि यह सब मानवकृत है, तो उसे चाहिए कि वह अपनी इन गलतियों को स्वीकारे और इनका सुधार करे।

सद्गुरु कहते हैं कि मानव की जातीय एकता, उसकी धार्मिक एकता तथा उसकी आध्यात्मिक एकता परम सत्य है। इस सत्य को विखण्डित करने वाली सांप्रदायिक विभिन्नता, विरोध एवं संकुचितता और धर्म के नाम पर जीव-हत्यादि मनुष्य के अज्ञान का फल है। सद्गुरु कहते हैं "मन मसले की सुधि

---

1. कबीर साहेब स्वयं को भी दूसरों के समान मानव ही बताते हैं। यथा—
तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥ (रमैनी 1)

नहिं जाना। मति भुलान दुइ दीन बखाना॥" मनुष्यों ने अपने मन-मसले की खबर नहीं पायी। इसलिए उसने अपने मन के भुलावे में पड़कर एक मानव में दो दीनों की व्याख्या कर डाली। कबीर साहेब के सामने हिंदू और मुसलमान—इन दो दीनों के द्वंद्व थे। इसलिए वे दो दीन कहते हैं। परन्तु उनके व्यापक अर्थ में यहां दो दीन का शाब्दिक अर्थ न कर उसका लाक्षणिक अर्थ करना चाहिए। दो दीन से अर्थ है अनेक मजहब। वैसे अनेक संप्रदाय होना बुरा नहीं है; किन्तु जब वे यह समझें कि संप्रदाय की उपयोगिता इतनी ही है कि एक संप्रदाय में बहुत-से लोग एक साथ मिलकर सत्य की खोज करें एवं साधना करें। यह नहीं कि वे अपने संप्रदाय को सत्य का एकाधिकारी ठेकेदार मान लें, और शेष को नरकगामी।

पूरे मानव की एक जाति है मानव, पूरे मानव का एक धर्म है मानवता तथा पूरे मानव में एक ही प्रकार की आत्मा है चेतन। अतः संप्रदायों, मजहबों एवं मतों की भिन्नता नकली है। सत्यज्ञान एवं सदाचार ही मानव के लिए कल्याणदायी हैं।

संसार के जितने मूल द्रव्य हैं, वे नित्य हैं। न उनकी उत्पत्ति होती है और न उनका विनाश होता है। वे अनादि हैं तथा अनन्त हैं। अर्थात वे पीछे सदा से रहे हैं और आगे सदा रहेंगे। सद्गुरु कहते हैं "संजोगे का गुण रवै, बिजोगे का गुण जाय।" अर्थात किसी क्षेत्र में उन मूल द्रव्यों का उचित संयोग होना सृष्टि है और उनका वियोग होना प्रलय है। न तो नये सिरे से सृष्टि होती है और न सब कुछ का प्रलय होता है। मूल जड़ तत्त्व एवं द्रव्य नित्य हैं। उनमें क्रिया एवं गुण-धर्म नित्य हैं। इसलिए उनके द्वारा सृष्टि भी नित्य है। मूल जड़ तत्त्वों का उचित संयोग हुआ तो वर्षा हो गयी, उनकी योग्यताओं का अभाव हो गया, वर्षा नहीं हुई। उपयुक्त योग्यता पाकर वनस्पत्तियां उग आयीं, योग्यताओं का वियोग हो गया, वनस्पतियां सूख गयीं। बस, सृष्टि का यही काम है कि संयोग से गुणों का विकास होता है तथा वियोग से उनका बिखराव होता है। परन्तु योग्यता-अयोग्यता, गुणों एवं कार्यों के उद्भव-विनाशादि सब मूल द्रव्यों में ही तो होंगे। उनके रहे बिना यह सब कहां होगा! समुद्र है तो उसमें ज्वार तथा भाटे आते हैं। यदि समुद्र ही न हो तो ज्वार-भाटे कहां आयेंगे। इसी प्रकार मूल द्रव्य जड़ और चेतन न हों तो सृष्टि की घटना कहां घटेगी! जीव अपने कर्म-वश देह धरते हैं तथा प्रकृति अपने स्वभाववश संयोग-वियोग करती है और इसी में सृष्टि फलती है।

"जिभ्या स्वारथ कारणे, नर कीन्हें बहुत उपाय॥" परन्तु लोग अपने जीभ-स्वाद-वश अपनी-अपनी कल्पना पेश करते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि कर दी है।

उसने मनुष्यों के खाने के लिए अन्य जानवरों को बना दिया है कि वे उनकी बलि या कुर्बानी के नाम पर हत्या करें और देव तथा ईश्वर को अर्पित कर उन्हें खा जायें। यह सब जीभ-स्वाद का चक्कर एवं जंगलीपन है।

दुखमय संसार-समुद्र और सुखस्वरूप राम

रमैनी-41

अम्बु कि राशि समुद्र की खाई। रवि-शशि कोटि तैंतीसों भाई॥ 1॥
भँवर जाल में आसन माँड़ा। चाहत सुख, दुख संग न छाड़ा॥ 2॥
दुख को मर्म न काहू पाया। बहुत भाँति के जग भरमाया॥ 3॥
आपुहि बाउर आपु सयाना। हृदया बसै तेहि राम न जाना॥ 4॥
साखी—तेही हरी तेहि ठाकुर, तेही हरी के दास।
ना यम भया न जामिनि, भामिनि चली निरास॥ 41॥

शब्दार्थ—अम्बु कि राशि=पानी की ढेरी, जड़ द्रव्यों का समूह। भँवर=पानी का चक्कर, माया का चक्कर। माँड़ा=जमाया, सजाया। बाउर=पागल। यम=संयम। जामिनि=जामिन, जमानत करने वाला, जिम्मा लेने वाला। भामिनि=भामिनी, अपने आप को ईश्वर की पत्नी मानने वाला।

भावार्थ—जैसे समुद्र की गहराई में पानी का अथाह सागर भरा होता है, वैसे अनंत विश्व-ब्रह्मांड जड़ प्रकृति-कणों से भरा है। अर्थात यह संसार एक विशाल सागर है। हे भाई! इसमें सूर्य, चंद्रमा और तैंतीस करोड़ देवता भी चक्कर काट रहे हैं॥ 1॥ सभी जीवों ने संसार-सागर के भंवर-जाल में आसन जमा रखा है। वे चाहते तो हैं सुख, परन्तु दुख उनका साथ नहीं छोड़ता॥ 2॥ कोई यह नहीं समझ पा रहा है कि दुख का रहस्य क्या है, एवं दुख क्यों हो रहा है। जगत के जीव अनेक प्रकार से उलझे हुए भटक रहे हैं॥ 3॥ मनुष्य अपने स्वरूप को न समझकर स्वयं पागल बना हुआ है और जब अपने स्वरूप को समझ लेता है, तब वह स्वयं ज्ञानी हो जाता है। लोग यह नहीं समझते कि जो हृदय में चेतन निवास करता है, वही राम है॥ 4॥

वही हरि है, वही स्वामी है और वही भूलवश अपने से अलग हरि मानकर उसका सेवक बनता है। परन्तु व्यक्ति की अपनी आत्मा से भिन्न कोई ऐसा हरि नहीं, जो मिलता हो। इसलिए ऐसे लोगों की लक्ष्यप्राप्ति में न उनका संयम काम देता है और न इस विषय में जमानत करने वाले एवं जिम्मा लेने वाले गुरु काम देते हैं। फलतः अपने आप को ईश्वर का दास एवं उसकी बहुरिया मानने वाले भावुक जीव संसार से निराश होकर चल देते हैं॥ 41॥

व्याख्या—आप जानते हैं कि समुद्र अम्बु की राशि है, जल का महान समूह है। इसी प्रकार यह संसार जड़प्रकृति का महासागर है। प्रमेय से प्रमाण सदैव बड़ा होता है। जैसे किसी जल से भरे हुए बड़े तालाब को देखकर लोगों के मुख से निकल पड़ता है कि यह तो सागर की तरह लहरा रहा है। परन्तु यहां प्रमेय से प्रमाण छोटा है। प्रमेय संसार है तथा प्रमाण समुद्र है। संसार अनंत है, समुद्र बहुत बड़ा होने पर भी सीमित है। आखिर समुद्र भी तो संसार का एक क्षुद्र अंश ही है। परन्तु संसार के लिए समुद्र को छोड़कर दूसरा उदाहरण है ही नहीं। इसीलिए सदा से विचारक 'संसार-समुद्र' कहते आये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इस संसार-सागर में चांद, सूर्य तथा तैंतीस कोटि देवता भी चक्कर काट रहे हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, देवलोक, चंद्रमा और नक्षत्र गण—ये आठ वसु हैं। दस इंद्रियां (या दस प्राण) तथा मन—ये ग्यारह रुद्र हैं। बारहों महीने आदित्य हैं। गरजने वाला बादल इंद्र है, यज्ञ प्रजापति है। ये तैंतीस देवता हैं। कोटि का अर्थ श्रेणी भी होता है। अर्थात तैंतीस श्रेणी के देवता। उपर्युक्त जो तैंतीसों देवता माने गये हैं, निरे जड़ हैं।

पुराकाल में लोग चांद, सूर्य एवं तारों को देवता मानते थे। इसके अलावा मनुष्यों की एक जाति थी जिसको देवता कहते थे। ये शायद भारत के उत्तरी छोर हिमालय की तराइयों में बसते थे और बहुत विलासी होते थे। सद्गुरु कबीर का कथन दोनों के लिए ही उपयुक्त है। चांद, सूर्य, तारे आदि भी संसार-सागर के भंवर में घूम रहे हैं और देवता नाम से विदित मानव भी संसार-सागर में भटकने वाले ही थे।

सद्गुरु ने साखी प्रकरण में "भँवरजाल बगुजाल है, बूड़े बहुत अचेत। कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक॥"[1] कहकर 'भँवरजाल' तथा 'बगुजाल' दो जालों का वर्णन किया है। 'भँवरजाल' का अर्थ है स्थूल प्राणी-पदार्थों का मोहजाल तथा 'बगुजाल' का अर्थ है वाणीजाल एवं शास्त्र-जाल। जीव भंवरजाल में पड़कर विषयी होता है तथा बगुजाल में पड़कर नाना कल्पनाओं में भ्रांत होता है। भंवरजाल खानीजाल तथा बगुजाल वाणीजाल है। यहां सद्गुरु कहते हैं "भँवरजाल में आसन माँड़ा" अर्थात विषय-वासनाओं के जाल में जीव ने आसन जमा रखा है। यहां का 'भंवरजाल' व्यापक अर्थ लिए हुए है। गहरे पानी में जगह-जगह भंवर होते हैं। वहां का पानी गोलाई में चक्कर काटता रहता है। इस संसार-सागर में जड़ परमाणुओं की क्रिया रूपी भंवर में नाना पदार्थों का निरंतर निर्माण एवं विनाश होता रहता है। जैसे समुद्र

---

1. बीजक, साखी 92।

में निरंतर लहर एवं ज्वार-भाटे उठते रहते हैं, वैसे संसार में निरंतर क्रिया, परिवर्तन एवं निर्माण-विनाश की लीला चलती रहती है। यदि हम शरीर तथा संसार के सारे पदार्थों को रासायनिक दृष्टि से देख पाते तो हमें दिखाई देता कि वे एक भंवर के समान नाच रहे हैं जिनसे अरबों कण निरंतर निकलते और मिलते हैं। जिन अपने या अपने प्रियजनों के शरीर को हम बड़ा सत्य मानते हैं, वे जड़-कणों के एक भंवर हैं। प्राणियों के सारे शरीर, मकान, मशीन एवं सारे दृश्यमान पदार्थ असंख्य सूक्ष्म जड़कणों के भंवर हैं। अतएव हमारे जितने सांसारिक सुख के साधन हैं, सब तो भंवर की तरह बदलने वाले हैं और इन्हीं में हमने अपना आसन जमा रखा है। इसलिए "चाहत सुख, दुख संग न छाड़ा" हम चाहते तो हैं सुख, लेकिन दुख हमारा पिंड नहीं छोड़ता।

कल्पना करें कि 'हहा हहा' करते हुए अथाह समुद्र की निरंतर लहरों के झकझोर में हम पड़ जायें तो हमारी क्या दशा होगी? परन्तु इससे कहीं अधिक जीव संसार की लहरों में पड़ा नाच रहा है। अविद्या-वश उसको कहीं ओर-छोर नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में सुख कहां है? जहां सब कुछ क्षणभंगुर है, वहां पर जमकर जो बैठना चाहेगा और उन समुद्र के फेन सदृश भोगों से स्थायी सुख चाहेगा, उसको केवल दुख मिलने हैं।

"दुख को मर्म न काहू पाया। बहुत भाँति के जग भरमाया॥" सद्गुरु कहते हैं कि कोई यह भेद नहीं जान पाता कि मैं सुख चाहते हुए भी दुख क्यों पा रहा हूं। हर नवयुवक को यह आशा रहती है कि धन, मकान, पत्नी, बच्चे आदि इकट्ठे हो जाने पर मैं पूर्ण सुखी हो जाऊंगा। इस आशा से आदमी आधी जिन्दगी इनको पाने की तैयारी में लगाता है। वह पढ़ता-लिखता है। इसके बाद इन चीजों का संग्रह करता है। संग्रह हो जाने के बाद वह देखता है कि सुख की अपेक्षा दुख बहुत अधिक बढ़ गया है। सामान्य की बात ही छोड़िए, कितने धनी लोग कहते हैं। 'हम बहुत दुखी हैं।' उनसे पूछा जाता है 'किस बात का दुख है?' वे इसका उत्तर नहीं दे पाते। वे कहते हैं 'यह समझ में नहीं आता कि दुख क्यों है। मन अशांत है इसलिए दुख है।' 'मन क्यों अशांत है?' इसका उत्तर भी उन्हें नहीं सूझता।

वस्तुतः मन की अशांति सबसे बड़ा दुख है और मन इसलिए अशांत होता है, क्योंकि हमें हर समय हर प्राणी-पदार्थ के विनाश का भय है। प्रिय लोग विमुख न हो जायें, वे मर न जायें, शरीर में रोग न लग जाये, व्यापार रुक न जाये, नौकरी छूट न जाये, खेती डूब न जाये, धन का नाश न हो जाये, कोई एक्सीडेंट न हो जाये, सारे अनुकूल पदार्थ बढ़ते क्यों नहीं हैं, इत्यादि सदैव सब कुछ की विनश्वरता का भय लगा रहता है। भोगों को भोगते हैं। उनमें मन तृप्त नहीं होता। भोगों की आदतें बनकर मन विषयों की ओर अधिक विवश करता

है। इच्छाओं की ज्वाला धधकती रहती है। भोग पदार्थों को भोगने से इच्छाएं बनती तथा पुष्ट होती हैं और इच्छाओं के वशीभूत होकर जीव पुनः भोगों की क्रियाओं की धारा में बहता है। यह मृगतृष्णा जीव को निरंतर भटकाती है। इसलिए उसका मन सदैव अशांत रहता है। अतएव विषय-भोगों की इच्छा तथा अपने माने गये प्राणी-पदार्थों की विनश्वरता के भय से जीव अशांत रहता है और अशांति ही दुख है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस दुख का रहस्य कोई अबोधी जीव नहीं जान सकता। केवल प्राणी-पदार्थों का संग्रह सुख का साधन नहीं है। अच्छी समझदारी और यथार्थ बोध से ही मनुष्य दुख से छूट सकता है अथवा सच्चे अर्थ में सुखी हो सकता है। परन्तु इसके अभाव में वह संसार में केवल भटकता है। "बहुत भाँति के जग भरमाया" जीव अनेक उलझनों में उलझकर भटकता है। जिसका मन उलझा हो, वह हर जगह उलझता रहता है। अन्दर, बाहर, परिवार में, समाज में हर जगह उसके लिए भटकाव है।

प्रश्न होता है कि क्या इस जीव को कोई शैतान भटका दिया है और क्या कोई भगवान इसे ज्ञानी बना देगा? सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी बातें नहीं हैं। "आपुहि बाउर आपु सयाना" यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं विषयों के लिए पागल बना भटकता है और सत्संग-विवेक से जग जाये तो स्वयं ज्ञानी हो जायेगा। जीव अपने स्वरूप के अबोधवश स्वयं जाल रचकर उसमें फंसा है, और यदि उसकी अपनी दृष्टि अपनी ओर घूम जाये, तो स्वयं बोधवान होकर कृतार्थ हो जाये। अबोध तो अनादिकाल से है। बारम्बार जीव भूल-वश उसकी पुष्टि करता रहता है। बोध होने के कारण दो होते हैं। एक कारण है कि विवेकवान सन्त-सद्गुरु मिल जायें और जीव के अपने शुद्ध संस्कार से उसकी दृष्टि गुरुजनों के उपदेश में लग जाये और दूसरा कारण है कि कोई अनेक जन्मों का बड़ा शुद्ध संस्कारी हो और उसे अनेक घटनाओं के झकझोर में स्वयं की दृष्टि स्वतः अपनी ओर घूम जाये और 'मैं कौन हूं' इस तत्त्व को जानकर स्थिर हो जाये। यह घटना हजारों वर्षों के दरमियान में किसी पर घट सकती है। सरल पथ है गुरुजनों की शरण में बोध प्राप्त करना।

क्या राम कहीं बाहर है जो मिलता है? सद्गुरु कहते हैं "हृदया बसै तेहि राम न जाना" अर्थात जो हृदय में बसता है, लोग नहीं जानते कि यही राम है। हृदय में कौन बसता है? यह बताने की आवश्यकता नहीं कि सबके हृदय में चेतन निवास करता है, जो ज्ञानस्वरूप है। वही रात-दिन कहता रहता है कि मैं यह काम करूंगा तथा यह काम नहीं करूंगा। 'मैं हूं' यह अस्तित्व-बोध जिसको होता है, वही है चेतन। उसके नाम जीव, आत्मा, रूह, सोल आदि हैं। सद्गुरु कहते हैं उसी को मैं राम भी कहता हूं। अब प्रकारांतर से उसी को कोई

ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा आदि भी कह सकता है। जो लोग कहते हैं कि इस हृदय में एक 'जीव' है और उसके अलावा दूसरा 'राम' है, तो ऐसे लोगों से पूछना चाहिए कि एक ही हृदय में जीव तथा राम अलग-अलग हैं, तो कितना प्रतिशत जीव है और कितना प्रतिशत राम है? वस्तुतः विवेक से समझने पर यह साफ हो जाता है कि सबके अपने-अपने हृदय में एक ही चेतन तत्त्व का बोध होता है। 'मैं हूं' यह सबका अपना बोध है। यह हृदय-निवासी मैं तत्त्व ही राम है। सद्गुरु कहते हैं कि यही हरि है, यही स्वामी है, यही सारे ज्ञान-विज्ञान का अधिपति है।

"तेहि हरी तेहि ठाकुर, तेही हरी के दास।" अर्थात यह हृदय-निवासी जीव ही राम है, हरि तथा ठाकुर है। परन्तु यही अपने भूलवश अलग हरि मानकर उसका दास बनता है। मैं चेतन हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, यह तो स्वयं प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष अनुभव का विषय है। परन्तु मुझसे अलग कोई मेरा निधान है यह एक मिथ्या धारणा है। अलग चाहे कोई कितनी ही सुन्दर वस्तु हो, वह मेरा निधान नहीं बन सकती। किसी वस्तु का निधान उसका अपना स्वरूप ही हो सकता है। अतएव अपने लक्ष्य एवं निधान को अलग मानने वाले भावुकों को अंततः यहां से निराश होकर ही जाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में न उनका संयम काम देता है और न साधना तथा न वे गुरु लोग काम देते हैं जो ईश्वर दर्शन कराने या ईश्वर से मिलाने के लिए जमानतदार बने थे।

लोग अपने से अलग ईश्वर मानकर अपने आप को उसकी पत्नी होने की कल्पना करते हैं। सद्गुरु उन पर व्यंग्य करते हुए उन्हें 'भामिनी' कहते हैं और बताते हैं कि उनको अंततः निराश होकर संसार से जाना पड़ता है—"भामिनि चली निरास।"

कुछ विद्वान इस साखी का यह अर्थ करते हैं—"वही हृदय निवासी राम हरि है, वही स्वामी है, वही स्वामी का सेवक है। इस ज्ञान के होने पर न यमवासना रहती है और न जामिनि-अज्ञान की रात रहती है। फलतः भामिनि माया निराश होकर चली जाती है।" अर्थ मनोरम है। परन्तु 'भया' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'न यम भया' भया शब्द साथ देने वाले के लिए प्रयोग किया जाता है, दूर हट जाने वाले के लिए नहीं। दूर हट जाने वाले के लिए 'रहा' शब्द अधिक उपयुक्त होता है। जैसे 'न यम रहा'। परन्तु 'भया' शब्द होने से—'न यम भया' का उचित अर्थ 'नहीं साथ दिया' अधिक ठीक जंचता है। दूसरी बात मूल पद 'जामिनि' है 'यामिनि' नहीं। 'जामिन' जमानत करने वाले, जिम्मा लेने वाले को कहते हैं। रात के लिए 'यामिनी' शब्द का प्रयोग होता है।

इस रमैनी में मुख्य दो बातें हैं जीव दुखी क्यों है और उससे छुटकारा कैसे होता है? सद्गुरु ने बताया कि जीव इसलिए दुखी है, क्योंकि वह संसार-समुद्र

के भंवरजाल में पड़ा है। उसने क्षणभंगुरता के भंवर में आसन जमा रखा है। वह नश्वर भोगों में अनुरक्त है।

सद्गुरु ने दुखों से छूटकर चिरंतन सुख-शांति का रास्ता बताया कि तुम्हारे अपने हृदय में निवास करने वाला तुम्हारा अपना चेतन-स्वरूप ही राम है। वह अविनाशी है। वही परमात्मा है। वही अपने आप का स्वामी है, अतः तुम क्षणभंगुर विषयों का राग छोड़कर अपने अविनाशी राम एवं स्वस्वरूप चेतन में रमो।

अद्वैत-मीमांसा

रमैनी-42

जब हम रहल रहल नहिं कोई। हमरे माहिं रहल सब कोई॥ 1॥
कहहु राम कौन तेरि सेवा। सो समुझाय कहो मोहि देवा॥ 2॥
फुर फुर कहेउ मारु सब कोई। झूठेहि झूठा संगति होई॥ 3॥
आँधर कहैं सबै हम देखा। तहँ दिठियार बैठि मुख पेखा॥ 4॥
यहि विधि कहेउँ मानु जो कोई। जस मुख तस जो हृदया होई॥ 5॥
कहहिं कबीर हंस मुसकाई। हमरे कहल दुष्ट बहु भाई॥ 6॥

शब्दार्थ—जब=सृष्टि के प्रथम। हम=ब्रह्म। नहिं कोई=जगत। राम=ब्रह्म। फुर-फुर=सत्य। दिठियार=आंखवाला, विवेकी। हंस=विवेकी। मुसकाई =हंस कर। दुष्ट=दोषयुक्त, रुष्ट।

भावार्थ—(अद्वैत ब्रह्मवादी कहते हैं)—सृष्टि के प्रथम जब मैं शुद्ध रूप में स्थित था, तब अन्य जगत आदि कुछ भी नहीं था। हां, यह कहा जा सकता है कि सारा विश्वप्रपंच वट-बीज न्याय मेरे में निहित था॥ 1॥ (सद्गुरु कहते हैं—) हे ब्रह्म! हे देव! यह मुझे समझाकर बताओ कि उस समय किसने तुम्हारी सेवा कर तुमको विकसित किया और ब्रह्म से जगत के रूप में लाया?॥ 2॥ यदि सही-सही बात कहता हूं, तो सब कोई मारने दौड़ते हैं। झूठे लोग दूसरे झूठे लोगों के साथ बैठकर झूठी बातें करते हैं और कहते हैं कि हम सत्संग कर रहे हैं॥ 3॥ बिना आंख वाले कहते हैं कि हमने सब कुछ देख लिया है। वहां आंख वाले बैठकर उनके मुख देखते हैं और आश्चर्य करते हैं॥ 4॥ मैं तो इस प्रकार कहता हूं कि जैसे मुख से कथन हो वैसे हृदय में भाव हो और इस प्रकार कथनी और करनी की एकता को कोई माने॥ 5॥ कबीर साहेब विवेकियों से मुसकराकर कहते हैं कि मेरे सत्य कहने पर बहुत-से लोग रुष्ट हो जाते हैं॥ 6॥

व्याख्या—अद्वैत ब्रह्मवाद के ख्याल से यह माना जाता है कि एक समय ऐसा था जब सृष्टि नहीं थी या विश्व-प्रपंच नहीं था। उस समय केवल एक

ब्रह्म था और यह वर्तमान में दिखता हुआ विश्व-प्रपंच उस ब्रह्म में उसी प्रकार निहित था जैसे वट के दाने में वट-वृक्ष सूक्ष्म रूप में रहता है। वट-बीज समय से जल-मिट्टी का संयोग पाकर अंकुरित हो जाता है और एक दिन वही अंकुर एक विशाल वृक्ष के रूप में खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में पहले सारा विश्व सूक्ष्म रूप में लीन था, पीछे से यह सारा संसार प्रकट हो गया।

सद्गुरु इस पर प्रश्न करते हैं कि वट का दाना अनेक परमाणुओं का समूह और विकारी है। जब वह मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु सब तत्त्वों का संयोग पाता है, तब विशाल वृक्ष बनता है। परन्तु ब्रह्मवाद के ख्याल से ब्रह्म के अलावा तो कुछ नहीं था, तब उसकी किसने सेवा की, जिससे उसमें से संसार-वृक्ष निकल पड़ा? ब्रह्म निरवयव है; सजाति, विजाति तथा स्वगत भेद से रहित एक, अखंड, ठोस और निर्विकार है, फिर उसमें विकारी जड़ संसार कैसे रहा? एक अखंड ब्रह्म कैसे फूटकर जगत हो गया? जिसमें परमाणु होते हैं, वह दूसरे तत्त्वों का संयोग पाकर क्रियाशील होता है। एक अखंड अद्वैत में विकार, स्फूर्ति और संचालन होना असंभव है। फिर अद्वैत ब्रह्म जगत कैसे बन गया? जब वह सर्वसमर्थ, शुद्ध, शांत एवं मुक्त था, तब उसे दुखमय जगत के रूप में फूटने में क्यों प्रसन्नता हुई? सद्-चिद्-आनन्द ब्रह्म असद्-जड़-दुख रूप संसार कैसे बन गया?

गति, क्रिया, स्फूर्ति तथा संचालन के बिना किसी प्रकार का निर्माण नहीं होता और क्रिया तभी होती है जब असंख्य क्रियाशील द्रव्य हों। इतना ही नहीं, एक दूसरे के विरोधी तत्त्व हों। एक अखण्ड ब्रह्म में यह सब असंभव है। केवल वट का दाना जो स्वयं भी विकारी तथा असंख्य परमाणुओं का योग है, तब तक पेड़ नहीं बन सकता, जब तक उससे पृथक जड़ प्रकृति में असंख्य परमाणुओं के ढेरीस्वरूप अनेक तत्त्व न हों और उनका उपयुक्त संयोग उस दाने को न मिले। बीज से वृक्ष होने में मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु आदि रूप प्रकृति ने बीज की सेवा की, तब बीज वृक्ष बना। सद्गुरु अद्वैत ब्रह्म से पूछ रहे हैं कि हे देव ! तुम्हारे अलावा तो कोई था नहीं, तो तुम्हारी किसने सेवा की जिससे ब्रह्म से जगत बन गये, निरवयव से सावयव बन गये?

सद्गुरु कहते हैं "फुर फुर कहेउ मारु सब कोई। झूठेहि झूठा संगति होई॥" यदि जैसे जगत है, अनेक जड़ तत्त्व तथा जड़ तत्त्वों से सर्वथा भिन्न अनेक जीव, वैसे ही कहा जाये, तो ये लोग असंतुष्ट होते हैं। जब आदमी कोई धारणा बना लेता है, तब उसके विपरीत बातें सुनकर उसे असन्तोष होता है। हम संसार को देखते हैं कि इसमें अनेक जड़ तत्त्व हैं और सारे तत्त्व असंख्य परमाणुओं के समूह हैं। उनमें अंतर्निहित क्रिया तथा गुण हैं। हर मौलिक तत्त्व

नित्य होता है। अतएव संसार का एक कण भी मिटाया नहीं जा सकता और एक भी नया कण बनाया नहीं जा सकता। अनेक जड़ तत्त्व अपने अंतर्निहित गुण-क्रियाओं से निरन्तर गतिशील हैं। इसलिए संसार में निरन्तर उत्पाद और विनाश लगा रहता है। न नये सिरे से अनन्त विश्व-ब्रह्मांड की उत्पत्ति होते दिखती है और न सबका सर्वथा प्रलय होते दिखता है। बस, जड़ तत्त्वों में निरन्तर क्रिया है और उन क्रियाओं में उत्पाद-विनाश अपने आप फलते रहते हैं।

जड़ तत्त्वों से भिन्न असंख्य चेतन जीव हैं। जड़ तत्त्वों में चेतना के किंचित भी लक्षण न होने से, चेतन जीव उनसे निर्मित नहीं माने जा सकते। अतएव चेतन जीव अपने मूल रूप में जड़ से सर्वथा भिन्न तथा अविनाशी हैं। जैसे जड़ तत्त्वों की न उत्पत्ति है न विनाश, वैसे जीवों की न उत्पत्ति है और न विनाश। जीव वासना-वश शरीर धरते-छोड़ते हैं और कर्म करते तथा उनके फल भोगते हैं। जो जीव ज्ञान द्वारा कर्मों की आसक्ति छोड़ देता है, वह इसी जीवन में कृतार्थ हो जाता है। यह सब प्रत्यक्ष जगत की वास्तविकता है। इस प्रकार मान लेने में क्या अड़चन है! परन्तु लोग बैठकर आपस में झूठी बातें करते हैं और कहते हैं कि हम सत्संग कर रहे हैं, जैसे जड़-चेतन मूलतः एक ही हैं। जगत तीनों काल में नहीं है। केवल एक ठोस ब्रह्म है आदि।

अद्वैतवाद पर तीखा प्रहार करते हुए सद्गुरु कहते हैं—"आँधर कहैं सबै हम देखा। तहँ दिठियार बैठि मुख पेखा॥" बिना आंख वाले कहते हैं कि हमने सब कुछ देखा है। वहां आंख वाले उनके मुंह देखकर और उनकी बातें सुनकर आश्चर्य प्रकट करते हैं। आंखें बन्द कर लेने पर केवल एक काला दिखता है और आंखें खोलने पर विभिन्नता भरा संसार अपनी वास्तविकता में दिखता है। अर्थात आंखें खोलने पर सारा जड़-चेतन अलग-अलग दिखता है। विवेकियों को यह देख-सुनकर हैरानी होती है कि जो जड़-चेतन को एक मानता है, भोग-योग को एक मानता है, उसे लोग ज्ञानी कहते हैं। यह कैसे कहा जाये कि जिसने आंखें बन्द कर ली हैं, जिसको केवल एक काला-काला दिखता है, वह सत्य का ज्ञाता है। सत्य का ज्ञाता तो वह होता है जो आंखें खोलकर देखता है। उसे ही सब कुछ की वास्तविकता दिख सकेगी। विवेकज्ञान से ही जड़-चेतन के भेद को समझकर तथा जड़ की आसक्ति छोड़कर अपने चेतन-स्वरूप में स्थित हुआ जा सकता है। जहां जड़-चेतन मूलतः एक ही हैं, वहां भोग-योग भी एक ही हैं। वहां बन्ध-मोक्ष के भेद का प्रश्न ही नहीं, विधि-निषेध भी कुछ नहीं। फिर सदाचार का भी अवलम्ब नहीं। इन सबको ज्ञान कहना घोर आश्चर्यजनक है।

सघन बादलों से ढकी हुई भादौं की घोर रात में अपने हाथ भी नहीं दिखते। वहां केवल एक कालापन दिखता है। सुबह का प्रकाश होते ही अनेकतापूर्ण संसार ज्यों-का-त्यों दिखता है। कौन समझदार कहेगा कि एक दिखाने वाला घोर अंधकार ज्ञान है और अनेक तथा तथ्यपूर्ण दिखाने वाला प्रकाश अज्ञान है। अतएव जड़-चेतन की एकता मानना ज्ञान नहीं है। यही तो योग दर्शन की भाषा में अविद्या है। वस्तुतः जड़-चेतन का भिन्न विवेक ही ज्ञान है। यह ज्ञान होने पर ही जड़ का मोह छोड़कर अपने चेतन-स्वरूप में स्थिति होती है।

"यहि विधि कहेउँ मानु जो कोई। जस मुख तस जो हृदया होई॥" सद्गुरु कहते हैं कि मैं इस प्रकार जड़-चेतन की भिन्नता बताता हूं। यदि कोई इसे समझ सके तो माने। सच्चा ज्ञान वही है जो दिल और जुबान पर एक हो। हम हृदय से जैसे संसार को जान रहे हैं वैसे उसे वाणी से हमें व्यक्त करना चाहिए। जड़ संसार अपने आप में स्वतः अनादि-अनन्त एवं परिवर्तित होते हुए भी तीनों काल में विद्यमान है। हम इस तरह उसे नित्य देखते हैं, अतएव हमें मुख से भी ऐसे ही कहना चाहिए। परन्तु यदि हम इसे कहें कि यह तीनों काल में मिथ्या है, जड़ संसार है ही नहीं, तो यह अनुभव कुछ है तथा कथन कुछ और ही है। बड़े-बड़े साधु-संन्यासी के बड़े-बड़े मठ-मन्दिर बनते हैं। शंकराचार्यों में गद्दी के लिए मुकदमें तक होते हैं, फिर यह कहना कि जगत है ही नहीं, कितनी गलत बात है।

इन पंक्तियों का लेखक काशी में निवास कर रहा था। अद्वैत विचार के एक सेवामुक्त डिप्टी कलेक्टर मिलने आये, उन्होंने अभिवादन के बाद छूटते हुए कहा—"क्या स्वामी जी, आप जगत को सत मानते हैं? मैंने आपकी जगन्मीमांसा नाम की पुस्तक पढ़ी है। उससे मुझे आभास हुआ कि आप संसार को सत मानते हैं।" मैंने उनसे तुरन्त कहा—"आप ईमानदारी से बताइए, ये पृथ्वी, चांद, सूर्य, सितारे सच दिखते हैं कि नहीं?" वे हंसने लगे।

मैंने कहा देखिए डिप्टी साहब! हर पदार्थ अपने आप में सत तथा दूसरे पदार्थ में असत होता है। घड़ा अपने में सत है, परन्तु कपड़े में असत है। इसी प्रकार जड़ जगत परिवर्तनशील रहते हुए अपने आप में सत है, परन्तु चेतन के स्थान पर वह असत है। तात्पर्य यह है कि जगत, जगत में सत है, परन्तु वह हमारे चेतन-स्वरूप में सर्वथा असत है।

आदि शंकराचार्य ने भी जगत की सत्यता के प्रश्न को उठाया है। उन्होंने कहा है—"यदि जगत को उसके अपने क्षेत्र में सत्य मान लिया जाये, तो उससे हमारे आत्मतत्त्व की अनन्तता की हानि होती है, जगत को मिथ्या कहने वाले वेद अ-प्रमाणित हो जाते हैं, और वेद रचयिता ईश्वर मिथ्यावादी सिद्ध होता है।

इसलिए वेद को अ-प्रमाणित, ईश्वर को मिथ्यावादी तथा जगत को सत्य कहना—ये तीनों बातें किसी महात्मा को पसन्द नहीं है।"[1]

आश्चर्य होता है स्वामी शंकर के इस कथन पर कि वेद जगत को मिथ्या कहते हैं। वेदों में तो कहीं पता नहीं चलता कि उनमें जगत को मिथ्या कहा गया है। वेदों की तो ऋचा-ऋचा में जगत की सत्यता के ही दर्शन होते हैं। सच है जिस व्यक्ति की जो मान्यता सिद्धांत का रूप ले लेती है, उसे उसी के अनुसार सब कुछ दिखता है। स्वामी शंकराचार्य को वेदों में जगत का मिथ्यात्वकथन दिखता है[2] तथा गोस्वामी तुलसीदास को वेदों में श्रीराम का अवतारकथन मिलता है; परन्तु इन दोनों धारणाओं का वेदों में चिह्न भी नहीं है।

सद्गुरु कहते हैं कि हमें ईमानदार होना चाहिए। हृदय से जो सत्य लगे, वैसा मुख से कहना चाहिए। इसमें शास्त्र-प्रमाण, गुरु-परम्परा एवं लोक-वेद कुछ भी आड़े आये, तो भी परवाह नहीं करनी चाहिए। मनुष्य का विवेक सर्वोपरि है। मनुष्य ही गुरु है, मनुष्य की रचना ही शास्त्र है, अतएव मनुष्य-विवेक सर्वोपरि है।

"कहहिं कबीर हंस मुसकाई। हमरे कहल दुष्ट बहु भाई।" सद्गुरु कबीर हंसों से मुसकरा कर कहते हैं कि भाई, हमारी विवेकपूर्ण बातों से बहुत-से लोग रुष्ट हो जाते हैं। यहां हंस शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया हुआ लगता है। हंस नीर-क्षीर-विवेक का प्रतीक माना जाता है। कहावत है कि यदि पानी और दूध एक में मिला हो, तो हंस पानी छोड़कर उसमें से केवल दूध ले लेता है। उसमें पानी और दूध को अलग करने की शक्ति होती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति विवेकशील होता है, वह मिले हुए-से लगते जड़-चेतन का विवेक कर, उनमें से अपने चेतन स्वरूप को अपना समझकर उसकी स्थिति करता है और जड़ को छोड़ देता है।

चावल-कंकड़, दुष्ट-सज्जन, पाप-पुण्य, विधि-निषेध, कर्तव्य-अकर्तव्य, खाद्य-अखाद्य, बंध-मोक्ष का विवेक कर जैसे विवेकवान चावल, सज्जन, पुण्य, विधि, कर्तव्य, खाद्य, मोक्ष लेकर दूसरों को छोड़ देता है; वैसे ही विवेकवान जड़ को छोड़कर अपने चेतन स्वरूप को अपना स्वत्व समझकर उसमें स्थित होता है। यही हंसत्व है। ऐसे हंसों, विवेकियों की ओर देखकर सद्गुरु मुसकरा कर कहते हैं कि भाई, विवेक की बातें सुनकर कोई रुष्ट होता है तो उसको खुश करने का क्या उपाय है! रुष्ट होना तो अपनी कमजोरी का

---

1. सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनोऽनन्तत्वहानिर्निगमाप्रमाणता।
   असत्यवादित्वमपीशितुः स्यान्नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम्॥ (विवेक चूड़ामणि, 234)
2. हम स्पष्ट देख सकते हैं कि ऋग्वेद के सूक्तों में जगत के मिथ्या होने के विचार का कोई आधार नहीं है। (सर राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, भाग 1, पृष्ठ 94)

प्रदर्शन है। युक्ति, प्रमाण एवं विवेक से बात कट जाने पर रुष्ट होना अपने आग्रह को प्रकट करना है।

"हमरे कहल दुष्ट बहु भाई।" में 'दुष्ट' का अर्थ 'रुष्ट' है। हो सकता है मूल पाठ 'रुष्ट' ही रहा हो, लिखते-पढ़ते 'दुष्ट' हो गया हो। किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

कहीं-कहीं छपे बीजक में पाठभेद है। 'हमरे कहल दुष्ट बहु भाई' की जगह पर 'हमरे कहल छूटि हौ भाई' है। इसका अर्थ होगा कि हे भाई, हमारे उपदेश को मानकर ही छूटोगे। छूटना दूसरे से होता है। एक ही तत्त्व में न बंधना होता है और न छूटना। छूटना तो जड़ बंधन से है और वह विवेकपथ पर चलकर ही सम्भव है।

प्रश्न होता है कि क्या 'अद्वैत' तथा 'जगत-मिथ्यात्व' ये दोनों सिद्धांत सर्वथा असत्य हैं? उत्तर है कि न सर्वथा सत्य हैं और न सर्वथा असत्य। किन्तु सापेक्ष सत्य तथा सापेक्ष असत्य हैं। जड़-चेतनमय विश्व एक ही परिनिष्ठित अखण्ड सत्ता नहीं है। किन्तु जड़ अलग है और चेतन अलग है। जड़ में भी कई तत्त्व हैं और एक-एक तत्त्व में असंख्य परमाणु हैं। और चेतन भी असंख्य हैं। वस्तुतः साधक जब सारी वासनाओं एवं संकल्पों को छोड़कर समाधि में असंग हो जाता है, तब वह अकेला हो जाता है जैसे कि उसकी वास्तविकता है। बस यही 'अद्वैत' है। इसका यह अर्थ नहीं कि यदि मैंने सबको भुला दिया तो जगत ही मिट गया, बल्कि मैं अपने आप में अद्वैत हो गया।

इसी प्रकार जगत के मिथ्यात्व को समझने का प्रयत्न करें। जैसा पहले भी कह आये हैं जगत अपने क्षेत्र में नित्य एवं सत्य है। किन्तु वह हमारे चेतन स्वरूप में सर्वथा असत्य है। जड़ में चेतन नहीं तथा चेतन में जड़ नहीं। दोनों अपने-अपने स्वरूप में हैं। अतः चेतन में जगत तीनों काल में असत्य है। बस, इतना ही जगत-मिथ्यात्व का अर्थ हो सकता है।

स्वेच्छाचारिता का फल पतन

रमैनी-43

जिन्ह जिव कीन्ह आपु विश्वासा। नरक गये तेहि नरकहि बासा॥ 1॥
आवत जात न लागे बारा। काल अहेरी साँझ सकारा॥ 2॥
चौदह विद्या पढ़ि समुझावा। अपने मरण की खबरि न पावा॥ 3॥
जाने जीव को परा अँदेसा। झूठहि आय के कहा सँदेसा॥ 4॥
संगत छाड़ि करे असरारा। उबहै मोट नरक कर भारा॥ 5॥

साखी—गुरु द्रोही मन्मुखी, नारी पुरुष विचार।
ते नर चौरासी भरमिहैं, ज्यौं लौं चन्द्र दिवाकार॥ 43॥

शब्दार्थ—आवत-जात=जन्मते-मरते। बारा=देर। अहेरी=शिकारी। मरण=मृत्यु, पतन। जाने जीव=चतुर लोग। सँदेसा=उपदेश। असरारा= असरार, भेद; लगातार; दुष्ट व्यवहार। उबहै=उलीचता है। मोट=चाम का मोट (कुएं से पानी निकालने का थैला)। मन्मुखी=स्वेच्छाचारी। दिवाकार= दिवाकर, सूर्य।

भावार्थ—गुरु, सत्संग तथा विवेक की अवहेलना कर जिन्होंने अपनी स्वेच्छाचारिता पर ही विश्वास कर लिया है, समझ लो कि वे नरक में गये और उनका आगे नरक में ही निवास होगा॥ 1॥ ऐसे लोगों को जन्मने-मरने में देरी नहीं लगती। अर्थात ऐसे लोग क्षणजीवी कृमि-कीटादि योनियों में भटकते हैं। काल शिकारी बनकर उनके पीछे रात-दिन लगा रहता है॥ 2॥ ऐसे मन्मुखी लोग स्वयं चौदहों विद्याएं[1] पढ़कर दूसरों को भले विधिवत समझाते रहें, परन्तु उन्हें अपने पतन का पता नहीं रहता॥ 3॥ धोखेबाज गुरु लोग संसार में झूठी बातों का प्रचार करते हैं और ऐसी बातें सुनकर चतुर लोग भी संशयग्रसित हो जाते हैं॥ 4॥ लोग अच्छी संगत छोड़कर दुष्ट व्यवहार करते हैं और इतने दुष्कर्मों में लीन रहते हैं कि मानो वे मोट से नरक उलीचते हैं॥ 5॥

चाहे स्त्री हो या पुरुष, जो गुरु-द्रोही और स्वेच्छाचारी है, विचारकर देखो, वे जब तक चांद और सूरज हैं, तब तक चौरासी चक्कर में भटकते रहेंगे॥ 43॥

व्याख्या—पहले इस बात को समझ लेना चाहिए कि यहां सद्गुरु 'आत्मविश्वास' का खंडन नहीं कर रहे हैं। कबीर साहेब आत्मविश्वास में अटल थे। उन्होंने हमें पदे-पदे आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया है।

"जिन्ह जिव कीन्ह आपु विश्वासा।" का अर्थ है अपने मनमानी पर विश्वास। जो मन के उन्माद में, स्वेच्छाचारिता में एवं उच्छृंखलता में विश्वास करता है, वह नरक में ही गिरता है। नरक है पतन। पतन है अपने विवेक, विचार, पवित्र आचार, अच्छी संगत एवं अच्छे रास्ते से अलग होकर कुसंग-कुकर्म में चले जाना।

परिवार में जो लोग पारिवारिक नियम तथा बड़े-बूढ़ों की राय न मानकर तथा उन्मादी होकर मनमाना काम करते हैं, उनका शीघ्र ही पतन हो जाता है। इसी प्रकार साधु-समाज में जो साधक सद्गुरु, सन्त तथा सन्त-समाज के नियमों का उल्लंघन करने लगता है और मनमानी बरताव करने लगता है, यदि उसका यह रवैया बदला नहीं, तो वह धीरे-धीरे पतन की तरफ चला जाता है। एक-दो की नहीं, उन्मादी स्वभाव वाले सभी लोगों की यही दशा है।

---

1. पहली रमैनी की व्याख्या एवं टिप्पणी में देखें।

अनुशासित जीवन में ही व्यवस्थित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। स्वतन्त्रता, स्वच्छंदता बहुत प्यारे शब्द हैं, परन्तु गुरु या समाज के अनुशासन का पालन किये बिना कोई अपने जीवन का समुचित विकास नहीं कर सकता है। यह ठीक है कि धोखेबाज गुरु तथा गंदे समाज से हटना चाहिए, परन्तु सच्चे गुरु तथा सही संतसमाज के अनुशासनों का पालनकर अपने जीवन को बनाना चाहिए।

जन्मने-मरने में देरी नहीं लगती। काल शिकारी बनकर तो रात-दिन पीछे पड़ा ही है। कीड़े-मकोड़े भी जन्मते-मरते रहते हैं। अतः जीवन की सफलता है शांति की प्राप्ति में। जो व्यक्ति उन्मादी होकर उच्छृंखल व्यवहार करेगा, वह संसार में भटकने की ही तैयारी करेगा।

"चौदह विद्या पढ़ि समुझावा। अपने मरण की खबरि न पावा॥" बड़े-बड़े विद्वान होते हैं। चौदह विद्याओं के ज्ञाता, कई भाषाओं के मर्मज्ञ, बहुत-से शास्त्रों में पारगत शास्त्री, आचार्य, वेदाचार्य, सर्वदर्शनाचार्य, महामहोपाध्याय, पी-एच.डी. तथा और न जाने किन-किन उपाधियों से भूषित, बैठते-चलते-फिरते उनके मुख से सरस्वती फूटी पड़ती है। अहंकार इतना है कि वे दूसरे को कौड़ी भर भी नहीं समझते। परन्तु वे केवल बांस के पोंगा हैं। न उनकी बुद्धि में वस्तु-बोधजनित स्थिरता है और न मन में शांति। फिर क्या हुआ ज्यादा पढ़ने-लिखने से !

इसका यह अर्थ नहीं है कि जो ज्यादा पढ़े-लिखे होते हैं, वे सब-के-सब ऐसे ही चंचल होते हैं। यहां कहने का अर्थ है कि यदि ज्यादा पढ़-लिखकर जीवन में अस्थिरता, अबोध, संशय, अशांति आदि ही का उपार्जन किया गया, तो क्या पाया गया !

विद्वान लोग दूसरों को चौदह विद्याएं पढ़कर समझाते हैं, परन्तु अपनी मृत्यु की खबर नहीं पाते। 'अपने मरण की खबरि न पावा।' का अभिप्राय क्या हो सकता है? जो बता दे कि मैं कब मरूंगा, और अपने बताये हुए समय पर ही शरीर छोड़े, वह ज्ञानी है—यहां का यह अर्थ मान लेना छिछिलापन है। प्रायः ज्ञानी हो या अज्ञानी, कोई नहीं जानता कि मेरी मृत्यु कब होगी। किसी के अपने विषय में कहे गये मृत्युकथन के समय का तुक बैठ गया हो, यह अलग बात है। इसमें कोई विशेषता भी नहीं है।

वस्तुतः अपनी मृत्यु की खबर उसी को मिली है, जो मृत्यु के डर से छूट गया है। व्यक्ति का पतन ही मृत्यु है। जिसका पतन होना बन्द हो गया, वह मृत्यु से छूट गया। हम क्षण-क्षण काम में, क्रोध में, लोभ में, मोह में, ईर्ष्या-द्वेष में पतित होते रहते हैं। यही व्यक्ति की मौत है। आदमी कितना ही विद्वान

हो जाये, जब तक वह विवेक एवं साधना का अवलम्ब नहीं लेता, उसे अपने इस पतन की खबर नहीं रहती कि मैं पतित हो रहा हूं। जो क्षण-क्षण अपने पतन को देखता है, वही अपने आप को पतन से बचा लेता है। जिसका किसी क्षण पतन नहीं होता, उसको मृत्यु-भय कहां ! वह समझता है कि मैं रोज सोता हूं, और सोने में बड़ा आनन्द मानता हूं। एक दिन ऐसा सोऊंगा कि पुनः उठना नहीं होगा। जब छोटी नींद आनन्दप्रद है, तब बड़ी नींद आनन्दप्रद क्यों नहीं ! वस्तुतः मौत होती है शरीर की, आत्मा की नहीं। जीव तो अमर है। फिर मृत्यु-भय क्यों !

गुरुपद अत्यन्त श्रेष्ठ है। आध्यात्मिक कल्याण के लिए गुरु चाहिए ही, व्यावहारिक बातों के बोध के लिए भी गुरु की आवश्यकता है। गुरु की यह महिमा देखकर संसार में नकली गुरुओं की भरमार हो गयी है। असली सोना से नकली सोना जैसे ज्यादा चमकता है, वैसे असली गुरु से नकली गुरु ज्यादा चमकते हैं। धोखेबाज गुरुओं ने सदैव अपनी धर्म की दूकानों की उन्नति की है। तन्त्र तथा चमत्कार उनके व्यापार के प्राणतत्त्व होते हैं। चमत्कार, जो एक छलावा है, झूठे गुरुओं का सर्वस्व होता है। ऐसे लोग सनसनीखेज तथा चमत्कार की बातें फैलाते हैं। इनके जाल में बड़े-बड़े चतुर कहलाने वाले फंस जाते हैं। शिक्षित तथा अशिक्षित में कोई खास फरक नहीं होता है। दोनों में वज्र मूढ़ होते हैं तथा दोनों में विवेकी होते हैं। प्रसिद्ध गुरुघंटालों के जाल में तो शिक्षित-मूढ़ ही फंसते हैं। डॉक्टर, वकील, जज, इंजीनियर, प्रोफेसर, राजनेता, सेठ गुरुघंटालों द्वारा अधिक मूढ़ बनाये जाते हैं। अतएव "जाने जीव को पड़ा अँदेसा। झूठहि आय के कहा सँदेसा॥" यह पंक्ति चरितार्थ होती है। भ्रामक गुरुओं का ऐसा प्रचार होता है कि समझदार कहलाने वाले भी संदेह में पड़ जाते हैं, और धीरे-धीरे उनके जाल में फंस जाते हैं।

"संगत छाड़ि करे असरारा। उबहै मोट नरक कर भारा।" जहां से सच्चा बोध मिले, सदाचार की प्रेरणा मिले, ऐसे नम्र संतों की संगत में ऐसे लोग नहीं जाते, बल्कि वे उससे दूर भागते हैं और रात-दिन दुराचरणों में लीन रहते हैं। जैसे लोग चाम के मोट से पानी उलीचते हैं, वैसे वे लोग जीवन में नरक उलीचते हैं। मलिन चिंतन, मलिन वचन तथा मलिन आचरण—यही नरक उलीचना है। साधु-संगत, सत्साहित्य-अध्ययन एवं सद्विचार छोड़कर कुसंग में बहने से जीवन में मलिनता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है !

"गुरु द्रोही मन्मुखी, नारी पुरुष विचार। ते नर चौरासी भरमिहैं, ज्यौं लौं चंद्र दिवाकार॥" कबीर साहेब कहते हैं कि भ्रामक गुरुओं से सावधान रहना, परन्तु यथार्थ सद्गुरु का अनादर न करना। यथार्थ सद्गुरु के अनादर का अर्थ होता है विवेक तथा सदाचार की बातों को न मानना। जो विवेक तथा सदाचार

का त्याग करता है, वही गुरुद्रोही है, वही मन्मुखी है, वही स्वेच्छाचारी है। ऐसे लोग चाहे स्त्री हों या पुरुष, उन्हें संसार-नगर में भटकना ही है। उन्हें कब तक भटकना है? यदि वे सत्पथ पर नहीं आते, तो जब तक चांद-सूरज रहेंगे, अर्थात जब तक संसार का अस्तित्व रहेगा, तब तक भटकना है। संसार तो अनंत है। वह सदा ही रहेगा और उनका भटकना भी सदैव रहेगा। हां, यदि वे जग जाते हैं, गुरु-मार्ग पकड़ लेते हैं, तो भटकाव से बच सकते हैं।

अतएव हम भ्रामक गुरुओं से सावधान रहें, परन्तु विवेकी गुरु की विनम्रतापूर्वक शरण पकड़ें। स्वेच्छाचारिता छोड़कर अनुशासित जीवन बितायें। इसी में हमारा कल्याण है।

कुसंग तथा मन की मलिनता रूपी नरक से बचो

रमैनी-44

कबहुँ न भयउ संग औ साथा। ऐसेहि जन्म गमायउ आछा॥ 1॥
बहुरि न पैहो ऐसो थाना। साधु संगति तुम नहिं पहिचाना॥ 2॥
अब तोर होइहैं नरक महँ बासा। निसिदिन बसेउ लबार के पासा॥ 3॥
साखी—जात सबन कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार।
चेतवा होय तो चेति ले, नहिं तो दिवस परतु हैं धार॥ 44॥

शब्दार्थ—ऐसेहि=व्यर्थ में। आछा=अच्छा, उत्तम। थाना=स्थान, मानव-जीवन। लबार=झूठा; गप्प मारने वाले लंपट। जात=पतित होते, नरक में जाते। धार=डाका।

भावार्थ—हे मानव! तूने विवेकी सद्गुरु एवं सन्तों का संग-साथ नहीं किया। इस उत्तम मानव-जीवन को व्यर्थ में खो दिया॥ 1॥ चूक जाने पर ऐसा उत्तम जन्म शीघ्र नहीं मिलेगा। यह तुम्हारी गहरी भूल है कि तुमने सन्तों की संगत में जाकर अपने आप की परख नहीं की॥ 2॥ अब तुम्हारा नरक में निवास होगा; क्योंकि तुम रात-दिन झूठे और लंपटों के पास रहते हो॥ 3॥

कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि मैं देखता हूं कि सभी लोग अपने जीवन को धोखे में खोकर नरक में जा रहे हैं। यदि सावधान होना हो तो सावधान हो जाओ, अन्यथा दिन ही में डाका पड़ रहा है। नर-जन्म के उजाले में ही तुम लुटे जा रहे हो॥ 44॥

व्याख्या—प्राणिमात्र में मानव प्राणी सर्वश्रेष्ठ है। यह मानव-शरीर विवेकसंपन्न होने से यहां कल्याण का कार्य संपादित हो सकता है। मानव-जीवन के एक-एक क्षण का जो मूल्य है उसको हीरे-मोती से आंका नहीं जा

सकता। मानव सुपथ पर चलकर इसी जीवन में परम शांति का लाभ ले सकता है। परन्तु खेद है कि मानव केवल कमाने, खाने, भोगों को भोगने एवं व्यर्थ बातचीत में अपने अनमोल जीवन को खो देता है। यह कभी भी विवेकी संतों एवं गुरुजनों की संगत में नहीं बैठता। बिना सत्संग के किसी का जीवन नहीं सुधरता। कितने लोग ऐसे अभागे हैं कि पास में भी सत्संग पाकर वहां नहीं बैठते।

'बार बार न पाइये, मानुष जनम की मौज' यह उत्तम नर-जन्म शीघ्र-शीघ्र मिलना सहज नहीं है। हमारे जीवन का समय सबसे कीमती है। हम अपने जीवन के समय में धन, विद्या, परिवार, कीर्ति आदि पैदा कर सकते हैं, परन्तु इन सबके बल से अपने जीवन के समय को एक क्षण भी बढ़ा नहीं सकते। अतः हमारा पहला काम है कि हम अपने मन, वाणी और शरीर को पवित्र करें। वह व्यक्ति पर-सेवा क्या कर सकता है जिसने अपने आप को पवित्र नहीं किया है।

हे मानव! यदि तूने साधु-संगत में जाकर अपने आप की परख नहीं की कि मैं कौन हूं, मेरा कर्तव्य क्या है, मेरे जीवन में शांति कैसे आ सकती है इत्यादि, तो तूने क्या किया? बड़े-बड़े वैज्ञानिक, दार्शनिक, विद्वान, धनवान अपने जीवन के समय को खो देने के बाद पश्चाताप करते हैं, परन्तु पीछे पछताने से तो कुछ नहीं होता। यह मानव जीवन केवल पेट तथा भोग के लिए नहीं है। पेट तो शाम तक शूकर-कूकर भी भर लेते हैं और वे भोग भी मनमानी भोग लेते हैं। यह विवेक संपन्न जीवन तो अपने आप की पहचान के लिए है, अपने आप को सारी बुराइयों, विकारों, मलिनताओं तथा दुखों से बचाकर परम शांति-सागर में निरन्तर निमज्जन करने के लिए है। मनुष्य की यह गहरी भूल है कि ऐसा सुनहला अवसर पाकर वह इसे पशु-सदृश खाने-भोगने में बिता रहा है।

आदमी झूठों-लंपटों, गप्पबाजों एवं विवेकहीनों के पास बैठता है। जहां बैठने से बुद्धि खराब हो, वहां तो वह बैठता है, परन्तु वहां नहीं बैठता जहां बैठने से उसको अच्छे संस्कार मिलें। गंदे विचार वालों के पास बैठकर आदमी गंदे संस्कार ग्रहण करता है। गंदे संस्कार ही नरक हैं। अतएव ऐसे लोग नरक में ही निवास करते हैं। जिसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, छल, दंभ, चिन्ता, शोक, विकलता एवं अशांति हैं, उसके मन में नरक है। इन बुराइयों में लिपटे रहना नरक में निवास करना है। कुसंग में जाना नरक में प्रवेश करना है तथा कुसंस्कार एवं कुकर्म में लीन होना नरक में डूब जाना है।

"जात सबन कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार। चेतवा होय तो चेति ले, नहिं तो दिवस परतु हैं धार॥" सद्गुरु कहते हैं कि मैं चिल्लाकर कह रहा हूं

कि सब लोग नरक में जा रहे हैं। आप चौंकिए मत! अपने भीतर झांककर देखिए। आपके मन में कब काम-वासना की मलिनता आती है? जरा मन में देखिए, कब दूसरे के लिए ईर्ष्या की आग लग जाती है? कब क्रोध आकर आपके हृदय-मन्दिर की रोशनी बुझा देता है? जरा देखिए मन को, कब लोभ की मलिनता आपके हृदय को दूषित कर देती है? अपने मन में झांकिए और देखिए कि कब-कब चित्त चिन्ता, शोक, मोह एवं विकलता में डूबा है? जरा मन की घटनाओं के प्रतिक्षण का एक कागज पर लेखा-जोखा कीजिए, तो देखिएगा कि आप अपने जाग्रत-अवस्था के सोलह-अठारह घण्टे में कितने प्रतिशत नरक में रहते हैं और कितने उससे हटकर।

इस प्रकार बारीकी से अपने मन का निरीक्षण करना तथा नरक में फिसलकर गिरने की दुर्घटनाओं से अपने आप को बचाते जाना जीवन की सबसे बड़ी साधना है। मनुष्य जीवन में और सब कुछ करता है, परन्तु केवल यही काम नहीं करता। इसलिए वह बाहर का सब कुछ पाकर भी भीतर की मलिनता के कारण निरन्तर दुखी रहता है। आदमी ताल ठोंककर दूसरों को बुरा कहता है; क्योंकि वह अपने मन की बुराइयों को देख नहीं पाता।

सद्गुरु कहते हैं कि जागना हो तो जाग जाओ, दिन में ही डाका पड़ रहा है। यह मानव-जीवन दिन है। यहां तुम्हें विवेक का प्रकाश मिला है, सत्संग का प्रकाश मिला है। यदि इनसे तुमने स्वयं अपनी आंखें मीच ली हैं, तो उन्हें खोलने के लिए दूसरे का कोई अधिकार नहीं है।

जागो, तुम्हारे ऊपर बाहर-भीतर दोनों तरफ से हमले हो रहे हैं। बाहर के संसारी-बुद्धि के शूरवीर लोग तुम्हें कुसंग, कुकर्म एवं विषय-वासनाओं में डालकर नरक में गिराना चाहते हैं और भीतर मन की मलिनताएं तुम्हें नरक में गिराने के लिए प्रतिक्षण तत्पर हैं। तुम इन सबसे सावधान हो जाओ।

संसार की नश्वरता तथा माया-मोह के खतरे के दर्शन

रमैनी-45

हरणाकुश रावण गौ कंसा। कृष्ण गये सुर नर मुनि बंसा॥ 1॥
ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना। बड़ सब गये जे रहल सयाना॥ 2॥
समुझि न परलि राम की कहानी। निर्बक दूध कि सर्बक पानी॥ 3॥
रहिगौ पन्थ थकित भौ पवना। दशों दिशा उजारि भौ गवना॥ 4॥
मीन जाल भौ ई संसारा। लोह की नाव पषाण को भारा॥ 5॥
खेवैं सबै मर्म हम जानी। तैयों कहैं रहे उतरानी॥ 6॥
साखी—मछरी मुख जस केंचुआ, मुसवन महँ गिरदान।
सर्पन माहिं गहेजुआ, ऐसी जात देखि सबन की जान॥ 45॥

शब्दार्थ—निर्बक=शुद्ध। सर्बक=पूरा। पन्थ=मार्ग। पवना=प्राणवायु। दशोंदिशा=दसों इंद्रियां। उजारि=सुनसान। केंचुआ=बरसाती लम्बे कीड़े जो जमीन में रहते हैं। गिरदान=गिरगिट। गहेजुआ=छछूंदर।

भावार्थ—हिरण्यकश्यपु, रावण और कंस चले गये। श्री कृष्ण जैसे प्रभुताशाली पुरुष चले गये, तथा देवता, मनुष्य और मुनियों के वंशज भी संसार से उठ गये॥ 1॥ जीवन का रहस्य जाने बिना ब्रह्मा चले गये। वे सब चले गये जो बड़े चतुर या समझदार कहलाते थे॥ 2॥ राम की कहानी समझ में नहीं आयी कि वह शुद्ध दूध है या केवल पानी है॥ 3॥ सबके चले हुए रास्ते एवं अच्छे-बुरे आचरणों की केवल चर्चा रह गयी, परन्तु उनके प्राण थककर उड़ गये और दसों इंद्रियों के संयुक्त इस शरीर को सुनसान कर जीव चला गया॥ 4॥ जैसे मछलियों को फंसाने के लिए जाल होता है, वैसे मनुष्यों को फंसाने के लिए यह संसार जाल हो गया। मनुष्य अज्ञानवश लोह की नाव में पत्थर लादकर पार जाना चाहता है। अर्थात अज्ञान की नाव में अहंता-ममता तथा सकाम कर्मों का बोझा लादकर पार जाना चाहता है॥ 5॥ वे सब अपनी अज्ञानरूपी लोह की नावकाएं खेय रहे हैं और कहते हैं कि हम इसका रहस्य जानते हैं। वे भवसागर में डूब रहे हैं, परन्तु उन्हें अहंकार है कि हमारी नावकाएं तैर रही हैं॥ 6॥

बंसी में लगे हुए केंचुए को मुख में लेकर जैसे मछली अपना गला फंसा लेती है, जैसे चूहा अपने मुख में गिरगिट लेकर और सांप अपने मुख में छछूंदर लेकर अपने को संकट में डाल लेते हैं, मैं देखता हूं कि वैसे मनुष्य संसार के आकर्षक दिखने वाले भोगों में उलझकर अपने जीवन को संकट में डाल लेता है॥ 45॥

व्याख्या—सद्गुरु संसार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि यहां से बड़े-बड़े नामी-ग्रामी चले गये, फिर हमें इस संसार के पदार्थों और शरीर का क्या अहंकार करना चाहिए। पुराणों के अनुसार हिरण्यकश्यपु बहुत प्रतापवान था, परन्तु वह भी इस संसार में न रह गया। रावण की महिमा आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण में प्रसिद्ध है जिसके सामने सारा संसार नतमस्तक होता था। उसको भी अपने परिवार तथा समाज के साथ संसार से जाना पड़ा। कंस भी बली और प्रतापी राजा थे। वे भी न रहे। महाभारत के अनुसार श्री कृष्ण महान प्रतापवान शासक और राजनेता थे; परन्तु उनका पूरा परिवार गृहयुद्ध करके उनके सामने समाप्त हो गया और वे स्वयं भी संसार से चले गये। सुर, नर, मुनि भी अपने-अपने वंशजों के साथ चले गये।

"ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना" इस पंक्ति को पढ़कर चौंकने की आवश्यकता नहीं है कि क्या ब्रह्मा भी जीवन या सत्य का मर्म नहीं जान सके? इसके

समाधान के लिए तो पुराण ही काफी हैं। पुराणों ने ब्रह्मा को जगह-जगह काम, मोह तथा क्रोधग्रस्त बताया है। ब्रह्मा को कर्मकांडों का ही प्रतिष्ठाता माना गया है जिससे ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं।

"समुझि न परलि राम की कहानी। निर्बक दूध कि सर्बक पानी॥" इस रमैनी में पौराणिक तथा ऐतिहासिक महापुरुषों के नाम होने से यहां 'राम की कहानी' का अर्थ दशरथसुवन श्री रामचंद्र जी महाराज की कथा से ही लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि यह बात लोगों की समझ में नहीं आयी कि श्री राम-कथा शुद्ध दूध है या केवल पानी। अर्थात श्री राम ऐतिहासिक पुरुष हैं या केवल वाल्मीकीय महाकाव्य के काल्पनिक नायक !

श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता तो निर्विवाद है; क्योंकि उनके विषय में ऋग्वेद[1] तथा छांदोग्य उपनिषद्[2] जैसे प्रामाणिक ग्रंथों में पूर्ण लक्षण मिलते हैं। परन्तु श्री राम के विषय में वेदों तथा उपनिषदों में ऐसा कुछ नहीं मिलता। ऋग्वेद (10/93/14) में राजा दुःशीम, पृथु तथा वेन के साथ एक नाम 'असुर राम'[3] का आता है जिसका अर्थ 'बलवान राम' होता है। परन्तु इस राम के साथ दाशरथी राम के कोई अन्य लक्षण जैसे दशरथ-पुत्र, सीता-पति, अयोध्याधीश, रावण-अरि आदि नहीं आते हैं। ऋग्वेद (10/60/4) में राजा इक्ष्वाकु का नाम आता है और ऋग्वेद (1/126/4) में ही 'दशरथ' शब्द आता है, परन्तु वह दस संख्या में 'रथ' का अर्थ प्रकट करता है। जनक ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा प्रामाणिक उपनिषदों में व्याप्त हैं, परन्तु सीता या राम के नाम का वहां कोई उल्लेख नहीं मिलता है।[4]

वेद—ऋक्, यजु, साम, अथर्व तथा वैदिक साहित्य—ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्रग्रन्थ (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र), प्रामाणिक उपनिषदें जिन पर शंकराचार्य आदि आचार्यों ने भाष्य किये हैं, तथा वैदिक छह दर्शनशास्त्र सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, ब्रह्मसूत्र आदि में कहीं भी राम-कथा का उल्लेख नहीं है। इसलिए कितने ही विद्वान मानते हैं कि राम-कथा केवल

---

1. ऋग्वेद 8/85/13-16। ऋग्वेद के जिस संस्करण में 11 सूक्त खिल्य (परिशिष्ट) रूप रहते हैं, उसमें यह सूक्त आठवें मण्डल में 96 वां सूक्त पड़ता है।
2. छांदोग्य उपनिषद् 3/17/6।
3. 'असु' कहते हैं 'प्राण' को तथा 'असुर' कहते हैं 'प्राणवान' को। प्राणवान का अर्थ बलवान है।
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/10/9), शतपथ ब्राह्मण (11/3/1/2-4); (11/4/3/20); (11/6/2/1-10); (11/6/3/1); जैमिनि ब्राह्मण (1/19); (2/76-77); बृहदारण्यक उपनिषद् (3/1/1-2); (4/1/1) से (4/4/7); (5/14/8); (2/1/1); कौषीतक उपनिषद् (4/1); शांखायन आरण्यक (6/1) आदि में 'जनक' की विशद चर्चा है। (फादर कामिल बुल्के; रामकथा, पृ. 4-5 से उद्धृत)।

वाल्मीकीय महाकाव्य का विषय मात्र है। यह कोई ऐतिहासिक नहीं हैं।[1] परन्तु इसके विपरीत बहुत-से लोग रामकथा को प्रामाणिक ऐतिहासिक मानते हैं।

हो सकता है कि श्रीराम ऐतिहासिक पुरुष हों, परन्तु वे अपने जीवन-काल में लोगों द्वारा बहुत श्रेय न पाये हों और वेद तथा वैदिक साहित्य के लेखकों ने उनका ज्यादा महत्त्व न समझा हो। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में राम-कथा का संकेत नहीं किया। परन्तु राम-कथा लोकगीत के रूप में जनमानस में चली आयी हो, और ईसा पूर्व करीब तीसरी शताब्दी में वाल्मीकि मुनि ने अपने सुन्दर काव्य के माध्यम से उसे जनता की प्रिय वस्तु बना दी। फिर तो बाल्मीकीय रामायण जैसे सुन्दर महाकाव्य से, जिसमें श्री राम का उदात्त चरित वर्णन है, प्रेरणा पाकर अनगिनत कवियों ने विभिन्न भाषाओं में उनका गुणगान किया। इसलिए भारत तथा भारतेतर देशों में भी राम-कथा प्रेरणाप्रद एवं प्रिय कथा सिद्ध हुई।

सारतः तो कोई कैसा ही महापुरुष हो, इस संसार से सबको जाना पड़ता है। सबके पीछे उनकी सुकीर्ति तथा कुकीर्ति ही रह जाती हैं, जो जनमानस में अच्छी तथा बुरी प्रेरणा का स्रोत बनती है।

इस संसार में आकर अपने आप को बन्धनों में न बांधना एवं स्वतंत्र रखना बहुत बड़ी बात है। ऐसा होना यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि लोग माया के आकर्षण से अपने आप को बचा नहीं पाते और फंस जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं—"मीन जाल भौ ई संसारा।" यह संसार तो मनुष्यों के फंसने के लिए 'मीनजाल' हो जाता है। जैसे भोली मछलियां जाल में फंस जाती हैं, वैसे भोले मानव माया के जाल में फंस जाते हैं। उठती जवानी ही कुछ करने योग्य समय है। इसी अवस्था में भक्ति, सेवा, स्वाध्याय, साधना, वैराग्य फलित हो सकते हैं, और इसी समय में मनुष्य के ऊपर माया का आक्रमण होता है। माया का अर्थ है मन का विषयों के प्रति आकर्षण, जो एक भ्रांति है। जवानी-रत्न को विषयों में खो देने के बाद फिर व्यक्ति के अपने पास बचता ही क्या है? मुकदमा से हारे आदमी के समान उसकी दयनीय स्थिति होती है। अपनी

---

1. वाल्मीकीय रामायण के अनुसार ब्रह्मा की चौथी पीढ़ी में रावण, चौबीसवीं पीढ़ी में सीता तथा चालीसवीं पीढ़ी में श्री राम पड़ते हैं। एक पीढ़ी पचीस वर्ष की मानी जाये तो रावण के पांच सौ वर्ष बाद सीता तथा सीता के चार सौ वर्ष बाद श्री राम होते हैं। परन्तु विद्वान लोग रामायण की अपेक्षा पुराणों की वंशावली ज्यादा प्रामाणिक मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्मा की चौथी पीढ़ी में रावण, साठवीं पीढ़ी में राम तथा चौबीसवीं पीढ़ी में सीता ठहरती हैं। इसके अनुसार रावण के पांच सौ वर्ष बाद सीता तथा सीता के नौ सौ वर्ष बाद श्री राम होते हैं। इन तीनों की एक काल में विद्यमानता कैसे हुई? यह एक समस्या है। देखिए 'रामायण रहस्य' के पहले अध्याय में राम, सीता तथा रावण की वंशावली से कालवैषम्य। तथा रजनीकांत शास्त्री कृत मानसमीमांसा, पृ. 63।

जवानी की उष्मा को खोना और पत्नी बच्चों में फंसकर संसार में जीवनभर के लिए उलझ जाना—यही तो विषयों एवं माया के आकर्षण का फल है।

"लोह की नाव पषाण को भारा।" मानव लोह की नाव पर पत्थर लादकर पार जाना चाहता है। वह रात-दिन ऐसे ही कर्म करता जाता है जिससे संसार-सागर में निरंतर नीचे ही डूबता जाये, परन्तु आशा करता है कि हम उबर जायेंगे। यही तो व्यामोह है। लोह की नाव में पत्थर भरकर सब उसे खेय रहे हैं। मोह की नाव में सकाम कर्मों की लादी लादकर पार जाना चाहते हैं। विमोहित मानव संसार-सागर में डूब रहा है; परन्तु उसे गर्व है कि हम तर रहे हैं।

रमैनी के अन्त की साखी में सद्गुरु मछली, चूहा तथा सांप के मार्मिक उदाहरण देते हैं। मछली चारा के लोभ में बंसी (कटिया) में फंसती है और मारी जाती है। गिरगिट अनेक रंग बदलने वाला जंतु होता है। कहा जाता है जब चूहा उसे फल आदि खाने की वस्तु समझकर खाने चलता है, तो गिरगिट चूहे के मुंह पर फूंक मार देता है और चूहा अन्धा हो जाता है। तीसरा उदाहरण सांप का है। सांप चूहे खाता है। परन्तु यदि कभी चूहे के आकार में दिखते हुए छछूंदर को चूहा समझकर मुख में पकड़ता है, तो सांप के ऊपर संकट आ जाता है। कहा जाता है कि यदि सांप छछूंदर को खा ले तो वह उसके जहर से मर जाता है और यदि मुख में पकड़े हुए छछूंदर को छोड़ दे, तो अधा हो जाता है।[1] इसीलिए कहा गया है—"भई गति सांप छछूंदर केरी। लीलत उगिलत पीर घनेरी॥ "[2]

जैसे खाने के लोभ में पड़कर मछली, चूहा तथा सर्प अपनी जान को जोखिम में डालते हैं, वैसे विषयों के लोभ में पड़कर मनुष्य अपने आप को बन्धनों के संकट में डालता है।

मीन-जाल, लोह की नाव तथा पत्थर का भार, मछली-केंचुआ, चूहा-गिरगिट तथा सांप-छछूंदर के कैसे-कैसे मार्मिक उदाहरण देकर सद्गुरु हमें जगा रहे हैं। इस पर भी नींद न खुले, तो हमारी अकर्मण्यता है। सद्गुरु इस रमैनी में नाना उदाहरण और युक्ति देकर हमें सांसारिक माया-मोह से वैराग्य कराना चाहते हैं। वे इस रमैनी के शुरू में ही कहते हैं कि हिरण्यकश्यपु, रावण, कंस, कृष्ण, सुर, नर, मुनि आदि अपने-अपने परिवार-कुटुम्ब सहित इस संसार से चले गये। हम यहां कब तक रहेंगे! हम यहां जिस माया-मोह में

---

1. कहा जाता है कि यदि सांप मुख में पकड़े हुए छछूंदर को पानी में डूबकर छोड़े तो वह अंधा होने से बच जाता है।
2. रामचरित मानस।

भूलते हैं, वह तो 'मीन-जाल' है। हम जिस अहंता-ममता की नाव पर बैठे हैं, वह लोह या पत्थर की है और हमें डुबाने वाली है। हम जिन भोगों में विमोहित हैं, वे हमारी शांति, स्वतन्त्रता एवं कल्याण का वध करने वाले हैं। इतने मार्मिक, इतने हृदयस्पर्शी वक्तव्य से हमारे हृदय की मोह-रस्सी नहीं टूटेगी, तो हमारा कब छुटकारा होगा !

रमैनी-46

बिनसे नाग गरुड़ गलि जाई। बिनसे कपटी औ शत भाई॥ 1॥
बिनसे पाप पुण्य जिन्ह कीन्हा। बिनसे गुण निर्गुण जिन्ह चीन्हा॥ 2॥
बिनसे अग्नि पवन औ पानी। बिनसे सृष्टि कहाँ लों गनी॥ 3॥
विष्णु लोक बिनसै छिन माहीं। हौं देखा परलय की छाँहीं॥ 4॥
साखी—मच्छ रूप माया भई, जबरहिं खेले अहेर।
हरिहर ब्रह्मा न ऊबरे, सुर नर मुनि केहि केर॥ 46॥

शब्दार्थ—गनी=गणना करना। अहेर=शिकार।

भावार्थ—नागों का विनाश हो गया और नागों को खाने वाले गरुड़ भी गलकर मिट्टी में मिल गये। छल-छद्म करने में निपुण शकुनि तथा सौ भाई दुर्योधन भी विनष्ट हो गये॥ 1॥ इस संसार में पाप करने वाले मरते हैं और पुण्य करने वाले भी मरते हैं। सगुण की उपासना करने वाले इस संसार से चले जाते हैं, तो जिन्होंने निर्गुणतत्त्व को पहचाना है उन्हें भी यहां से जाना होता है॥ 2॥ अग्नि, पवन, पानी आदि भौतिक तत्त्वों से बनी सारी चीजें नष्ट होती हैं। एक-एक चीज कहां तक गिनायी जाये, सृष्टि की सारी निर्मित चीजें नष्ट होती हैं॥ 3॥ विष्णु-लोक भी क्षण में नष्ट हो जाता है। मैं सारे दृश्य को प्रलय की छाया में देखता हूं॥ 4॥

मनुष्य मछली को सरलता से मार लेता है, परन्तु मछली ही मनुष्य पर आक्रमण कर उसे मार दे, आश्चर्य है। इसी प्रकार माया केवल मन का मोह है, उसे साधक विवेकज्ञान से नष्ट कर सकता है; परन्तु मनुष्य के पास विवेक न होने से माया ही बलात मनुष्य का शिकार कर जाती है। माया के आक्रमण से विष्णु, महादेव और ब्रह्मा भी नहीं बचे, फिर देवता, मनुष्य और मुनि किस खेत की मूली हैं॥ 46॥

व्याख्या—शरीर और संसार की चीजों के प्रति हमारे मन में अत्यन्त मोह, आसक्ति तथा अहंकार हैं और ये ही दुखों के कारण हैं। इसलिए इन्हें ध्वंस करने के लिए सद्गुरु बारम्बार संसार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हैं। पूर्व रमैनी में इस पर विस्तार से कह आये हैं। इस रमैनी में विशेषतः यह दिखाते हैं कि जिसे तुम देव-योनि या विष्णु-धाम कहते हो उनका भी विनाश निश्चित है।

"बिनसे नाग गरुड़ गलि जाई।" यहां नाग और गरुड़ की नश्वरता की चर्चा है। नाग और गरुड़ कौन थे? इस पर विचार लें।

नाग—अनन्त, वासुकि, कवल, कर्कोटक्र, पद्म, महापद्म, शंक, कुलिक तथा अपराजित—ये सब नाग कहलाते हैं। इनके पिता का नाम कश्यप तथा माता का नाम कद्रु था। अनन्त, वासुकि आदि नागों के वंशजों की बहुत वृद्धि हुई और ये बहुत क्रूरकर्मी हुए, प्रजा ने जाकर ब्रह्मा से इनके दोष कथन किये। ब्रह्मा ने नागों को बुलाकर समझाया, जब वे नहीं माने तब उन्होंने कहा—जैसे तुम मेरी प्रजा का नाश करते हो, वैसे अपनी माता के शाप से तुम सब स्वयं नष्ट हो जाओगे।

एक बार कद्रु तथा विनता में विवाद हुआ कि सूर्य के घोड़े की पूंछ काली है कि उजली? विनता कहती उजली है और कद्रु कहती काली है। अन्त में शर्त यह हुई कि जिसकी बात झूठी हो वह दूसरी की दासी बनकर रहे। कद्रु से नागों ने कहा कि पूंछ तो उजली है। कद्रु ने कहा—अब क्या होगा? नागों ने कहा—उपाय करेंगे। फलतः प्रातःकाल होते ही सूर्य के रथ के घोड़े उच्चैश्रवा की पूंछ में नाग जाकर लिपट गये। जिससे दूर से पूंछ काली दिखती थी। यह रहस्य विनता जान गयी और उसने नागों को छल के परिणाम में शाप दिया कि तुम सब नष्ट हो जाओ। फिर जनमेजय के यज्ञ में सर्प मारे गये।

जनमेजय के पिता राजा परीक्षित को जब तक्षक अर्थात सर्प ने काट खाया था, तब जनमेजय ने क्रोधित होकर और ब्राह्मणों से सम्मति लेकर एक सर्प-यज्ञ किया। ऋत्विकों (यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों) ने मन्त्र पढ़कर सब सर्पों को हवनकुण्ड में भस्म कर दिया था। आस्तीकि ऋषि ने जनमेजय को समझाया, तब उन्होंने केवल एक सर्प को छोड़ा था।

मनुष्य रूप कश्यप तथा कद्रु से सर्पों का जन्म लेना, मनुष्य-जैसी बात करना, सूर्य के रथ और घोड़े होना, जनमेजय के यज्ञ में मन्त्र पढ़ देने मात्र से सर्पों का अग्निकुण्ड में आ गिरना—यह सब कपोल कल्पित है। वस्तुतः भारत में नाग नाम की मनुष्य की एक जाति थी, जो सुसभ्य और उन्नत थी, आर्यों से उनकी मुठभेड़ होती थी। आर्यों ने उनका सामूहिक दाह किया था। इसी को पीछे सर्पयज्ञ कहा गया।

गरुड—कश्यप की दूसरी पत्नी विनता के पुत्र गरुड थे। ये सब पक्षियों के राजा माने जाते हैं। ये विष्णु के वाहन भी माने जाते हैं। परन्तु मनुष्य से पक्षी का होना यह भी असम्भव कल्पना है।

कहा जाता है कि किसी काल में अमेरिकावासी मनुष्य नाग नाम से पुकारे जाते थे। ये बड़े बलवान थे। ये अत्याचार करने से नष्ट हुए होंगे। ये ही

संभवतः कश्यप के वंशज रहे होंगे। इसी प्रकार यदि विनता से पैदा हुए तो गरुड भी मनुष्य ही रहे होंगे।

पुराणों के अनुसार कश्यप की तेरह पत्नियां थीं। उनमें दिति से दैत्य, अदिति से देवता, दनु से दानव, कद्रु से नाग, विनता से गरुड, इसी प्रकार किसी से कोई तथा किसी से कोई जाति के लोग पैदा हुए। जब कश्यप मनुष्य थे तो उनकी पत्नियां भी मनुष्य ही रही होंगी, तभी उनसे बच्चे पैदा हुए होंगे। अतएव देवता, दैत्य, दानव, नाग, गरुड आदि सब मानव थे।

पुराणों के अनुसार नाग लोग पाताल में रहते थे। इसलिए कुछ लोग कल्पना करते हैं कि अमेरिकावासी नाग कहलाते थे। नग कहते हैं पर्वत को। जो न गमन करे वह न-ग=नग और पर्वतों पर रहने वाले लोग नाग। इसीलिए भारत के पूर्वी छोर पर नाग लोग बसते हैं और वहां नागालैंड प्रदेश ही बन गया है। बंगाल में कुछ जाति के लोग हैं जो अपने को नाग कहते हैं। आसाम क्षेत्र के पर्वतों में अभी भी नाग लोग बसते हैं। विदर्भ में बसा हुआ नागपुर नगर को नागवंशियों का बताया जाता है। भारत के अन्य क्षेत्रों से नाग लोग हिन्दू समाज के चारों वर्णों में मिल गये।

डॉ. रांगेय राघव ने लिखा है—"विष्णु आर्यों का बड़ा देवता है। नाग जाति में प्रसिद्ध शेषनाग उनका प्रसिद्ध राजा था जो विष्णु का मित्र था। शेष के बाद वासुकि राजा था, वह देवों का मित्र था। नाग जाति के लोग सर्प, पत्थर एवं पेड़ पूजते थे।"[1]

"जो नागवंशीय भारतीय समाज में अंतर्भुक्त हो गये, वे सुसभ्य थे। भोगवती (इलाहाबाद) उनकी बड़ी राजधानी थी। वह वासुकि नाग के अधीन थी।...कायस्थों में अस्थाना हैं जिनका संबन्ध संभवतः अहिस्थान से ही है; क्योंकि अस्थाना अपनी परम्पराओं में नाग को मामा मानते हैं। वे मानते हैं कि नाग उन्हें नहीं काटते।"[2]

"नागों ने ही शायद तक्षशिला विश्वविद्यालय स्थापित किया था। महाभारत में तक्षशिला विश्वविद्यालय का नाम नहीं है। बुद्ध और चाणक्य के समय में तक्षशिला विश्वविद्यालय था। तक्षशिला में नागों को मारने जनमेजय गया था। यदि यह माना जाये कि भारत में आर्य ईसा से केवल पंद्रह सौ वर्ष पूर्व आये थे, तब विचारकों के मत को देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि वैदिक साहित्य में कहीं भी तक्षशिला विश्वविद्यालय का उल्लेख नहीं है। पांच सौ ईसा पूर्व के लगभग या उससे कुछ पहले छांदोग्य उपनिषद् माना जाता है। उसमें

---

1. रांगेय राघव; महायात्रा गाथा (1/2/61)।
2. वही, (1/3/117)।

बुद्धकालीन तक्षशिला विश्वविद्यालय का कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता। यह कैसे हो सकता है कि दुनिया भर की ब्रह्मचर्चा करने वाले उस स्थान का वर्णन तक न करते जहां चाणक्य जैसे विद्वान पढ़कर तैयार हुए थे।"[1]

भारत की प्राचीन मानव जातियां हैं—देवता, दैत्य, दानव, पिशाच, नाग, वरुण, गरुड गंधर्व, किन्नर, मय, पणिय, वानर, रीछ आदि। इनके वंशज आज के हिन्दू-अहिन्दू कहे जाने वाले भरतवंशियों में अंतर्भुक्त हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि इस संसार में कोई क्या गर्व करता है। प्राचीन काल के प्रसिद्ध प्रतापी नागवंशी एवं गरुडवंशी लोग अपनी सत्ता शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पूर्व ही खो चुके हैं। महाभारत को पढ़िये तो छल-कपट करने में कौरव तथा पांडव दोनों ने कसर नहीं रखी थी। स्वयं महाराज कृष्ण ने भी इसमें विशेष रूप से हाथ बटाया था। परन्तु जुआ खेलने में शकुनि ने ज्यादा छल-कपट किया था। सद्गुरु कहते हैं कि कपट करने में निपुण शकुनि चले गये और सौ भाई दुर्योधन भी न रहे।

"बिनसे पाप पुण्य जिन्ह कीन्हा" पाप करने वाले मर जाते हैं, तो यह कोई अहंकार न करे कि पुण्य करने वाले नहीं मरेंगे। उनको भी मरना है 'आये हैं सो जायेंगे, राजा रंक फकीर।' फरक इतना ही है 'एक सिंहासन चढ़ि चला, एक बंधे जात जंजीर।' पाप करने वाले मरते हैं और पुण्य करने वाले मरते हैं। अंतर यही रहता है कि पुण्य करने वाला सिंहासन पर बैठकर जाता है और पाप करने वाला जंजीर में बंधकर जाता है। पवित्र संस्कारों से संपन्न रहकर प्रसन्नतापूर्वक जाना सिंहासन पर बैठकर जाना है, तथा गंदे संस्कारों में लिपटकर दुखपूर्वक जाना जंजीर में बंधकर जाना है। यही तो जीवन का सबसे बड़ा अन्तर है।

"बिनसे गुण निर्गुण जिन्ह चीन्हा।" कोई सगुणवादी है और कोई निर्गुणवादी। लोग कहते हैं कि कबीर निर्गुणवादी हैं। सच पूछा जाये तो कबीर सगुणवाद-निर्गुणवाद के ऊपर हैं। वे कितनी निष्पक्षता से कहते हैं कि जो सगुण की उपासना करते हैं वे भी मरते हैं और जो निर्गुण को पहचानते हैं, वे भी इस संसार से जाते हैं। अतएव सगुणवादी तथा निर्गुणवादी को भी इस संसार की वस्तुओं का अहंकार करने की गुंजाइश नहीं है।

यहां प्रसंगवश सगुण तथा निर्गुण के विषय में भी थोड़ा समझ लेना चाहिए। जहां तक भौतिक तथा मानसिक जगत है, सब सगुण है; क्योंकि इनमें सत, रज तथा तम तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। भौतिक जगत में निर्माण रज है, पुष्टि सत है तथा क्षय तम है, और मानसिक जगत में इच्छा तथा क्रिया रज है,

---

1. वही, (1/3/118)।

ज्ञान तथा प्रसन्नता सत है और आलस्य-निद्रादि तम है। इस प्रकार भौतिक तथा मानसिक जगत सगुण है। इनमें जितनी उपासनाएं होती हैं, सब सगुण-उपासना है। स्थूल प्रतीक-उपासना, मानसिक प्रतीक-उपासना, गुरु-उपासना—सब सगुण उपासनाएं हैं।

शुद्ध चेतन तीनों गुणों से परे होने से वह निर्गुण है। संकल्प समाप्त होने पर साधक की अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थिति हो जाती है, यही निर्गुण दशा है और यही कबीर साहेब का अंतिम सिद्धांत है। परन्तु यहां तक पहुंचने के लिए पहले सगुण-उपासना की उपयोगिता है। गुरु-उपासना के बाद ही स्वरूपस्थिति होती है। अतएव सद्गुरु कबीर निर्गुणवादी होते हुए भी मताग्रही नहीं हैं, वे सगुण के पक्ष को भी समझते हैं। सद्गुरु यहां तो यह बताना चाहते हैं कि इस संसार से सगुणवादी, निर्गुणवादी सभी को जाना है। 'का कोइ गर्व कराय।'

"बिनसे अग्नि पवन औ पानी। बिनसे सृष्टि कहाँ लों गनी॥" क्या मिट्टी, पानी, आग, हवा तत्त्व भी नष्ट हो जाते हैं? विज्ञान की दृष्टि से चारों तत्त्व भी अनेक सूक्ष्म तत्त्वों के योग हैं। फिर भी ये चारों महाभूत हर समय विद्यमान रहते हैं। संसार में कारण-कार्य की एक अटूट शृंखला है। मूल जड़ तत्त्व कारण हैं। उनमें अन्तर्निहित स्वाभाविक क्रियाएं हैं। उन क्रियाओं से अनेक कार्य-पदार्थ निर्मित होते तथा विनशते रहते हैं। मूल जड़ तत्त्वों में अबाध गति से क्रिया होती है। उन्हीं क्रियाओं में निर्माण तथा विनाश अपने आप घटते रहते हैं। यह धारा अनादि है तथा अनन्त भी, अतएव उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ यही है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जड़ तत्त्वों से निर्मित समस्त सृष्टि ही परिवर्तनशील है। अतएव कोई भी कार्य-पदार्थ स्थिर नहीं है।

"विष्णु लोक बिनसै छिन माहीं। हौं देखा परलय की छाहीं॥" सगुण उपासक लोग पुराणों की महिमापरक बातों से प्रभावित होकर आशा लगाये बैठे हैं कि विष्णुलोक में जाकर हम सदैव के लिए सुखी हो जायेंगे; क्योंकि वह अजर-अमर है। सद्गुरु कहते हैं कि पुराण ही उन्हें नाशवान बताते हैं। गीता कहती है—"ब्रह्मलोक से लेकर सारे लोक ऐसे हैं जहां से पुनरागमन होता है। परन्तु हे कुंतीपुत्र! मुझ तक पहुंच जाने के बाद पुनः जन्म नहीं होता।' 'मामुपेत्य'—मेरे को पाकर अर्थात अपनी आत्मा को पाकर पुनर्जन्म नहीं होता।"[1]

वैसे विष्णुलोक, ब्रह्मलोक, साकेतलोक, सत्यलोकादि सब काल्पनिक हैं। मनुष्य इस लोक में तृप्त नहीं होता है, तो अपनी अपूर्ण इच्छाओं की तृप्ति के

---

1. आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (गीता 8/16)

लिए अन्य सर्वसंपन्न लोकों (स्वर्ग) की कल्पना करता है; जो केवल दिवास्वप्न एवं मन को बहलाने का चिद्विलास है। दुर्जनतोष न्याय अन्य कोई लोक मान भी लें तो वहां जाकर भी मनुष्य तब तक सुखी नहीं हो सकता, जब तक वह अपने मन की भोग-इच्छाओं को नहीं त्याग देता; और यदि भोग-इच्छाओं को त्याग दे तो इसी पृथ्वी पर वह पूर्ण सुखी हो जायेगा।

सद्गुरु ने यहां इतना ही कहा है कि तुम जहां तक भोग के साधन मान रखे हो, सबका नाश अवश्यंभावी है। "हौं देखा परलय की छाँही" मैं सब कुछ को प्रलय की छाया में देखता हूं। प्रलय की छाया का अर्थ है 'नश्वरता के भीतर।'

"मच्छ रूप माया भई, जबरहिं खेले अहेर।" संसार में देखा जाता है कि शिकारी मछली को सहज ही मार लेता है; परन्तु यहां आश्चर्य की बात हुई कि मछली ने ही बलपूर्वक शिकारी के ऊपर धावा बोल दिया। कबीर साहेब के कहने का तरीका चौंकाने वाला होता है। वे इतने संवेदनशील हैं कि जगत की आश्चर्यमय स्थिति को देख लेते हैं। उनका कथन केवल चौंकाने वाला नहीं है, किन्तु वास्तविकता वही रहती है।

'माया' कोई स्वतन्त्र सत्ता की वस्तु नहीं है। मन का मोह ही माया है। किसी मनुष्य ने बीड़ी पीने में आसक्ति बना ली, अब उसे बीड़ी पीये बिना रहा नहीं जाता। हम जिन-जिन प्राणी-पदार्थों से नहीं जुड़े होते हैं, उनके विषय में हमें कोई बन्धन नहीं होता; और जब नये प्राणी-पदार्थों से जुड़ जाते हैं और उनमें आसक्ति कर लेते हैं, तब उनके बिना रह नहीं पाते। इसी प्रकार सारे मोह हमारे कल्पित होते हैं। अतएव मोह की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है जिसे हम न मिटा सकें। साधक को ठीक से बोध हो जाये कि मैं शरीर, मन एवं सारे दृश्यों से भिन्न शुद्ध चेतन हूं और काम, मोह, लोभ आदि जितने मनोविकार हैं, मेरे मनःकल्पित हैं, मोहादि विकार मेरे शांति के शत्रु हैं, तो उन्हें पूर्णतया ध्वंस कर देने में वह परम समर्थ है। मन का मोह रूप माया अभावात्मक अहंकार मात्र है, जो साधक के स्वरूपज्ञान के तेज के आगे टिक नहीं सकती। परन्तु मनुष्य को स्वरूपज्ञान न होने से वह दीन बना है और तुच्छ माया उस पर बलात हमला कर उसका शिकार करती है। अर्थात माया जीव को भटकाती है।

मछली दीन होते हुए भी वह चेतन प्राणी है। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। माया तो ऐसा कुछ नहीं है। मछली का उदाहरण माया के लिए उपलक्षण मात्र है। माया तो केवल मन का मोह है जो विवेक के प्रकाश में समाप्त हो जाती है। विवेक न जगने से माया बलवान-सी लगती है। किसी गुफा में लाखों वर्ष से अंधकार हो, प्रकाश जलाते ही उसका पता न लगेगा कि वह कहां गया। क्योंकि वह कुछ था ही नहीं। वह तो प्रकाश का अभाव मात्र था। वह अंधकार

लाठी, डंडे तथा तलवार-बन्दूक से नष्ट होने वाला नहीं था; किन्तु प्रकाश लाने से उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार विवेक-ज्ञान के अभाव से मोह होता है और यही है माया, जो विवेक आने पर समाप्त हो जाती है।

रमैनी-47

जरासिन्धु शिशुपाल सँघारा। सहस्त्रार्जुन छल सो मारा॥ 1॥
बड़ छल रावण सो गौ बीती। लंका रहल कंचन की भीती॥ 2॥
दुर्योधन अभिमाने गयऊ। पाण्डव केर मर्म नहिं पयऊ॥ 3॥
माया के डिम्भ गयल सब राजा। उत्तम मध्यम बाजन बाजा॥ 4॥
छौ चकवे बिति धरणि समाना। एकौ जीव प्रतीत न आना॥ 5॥
कहाँ लों कहौं अचेतहि गयऊ। चेत अचेत झगरा एक भयऊ॥ 6॥
साखी—ई माया जग मोहिनी, मोहिन सब जग झारि।
हरिचन्द सत्त के कारणे, घर घर सोग बिकाय॥ 47॥

शब्दार्थ—जरासिन्धु=जरासंध। डिम्भ=दंभ, अहंकार, पुत्र। छौ चकवे= छह चक्रवर्ती—जरासंध, शिशुपाल, सहस्त्रार्जुन, रावण, दुर्योधन, पांडव; या वेन, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु, सहस्त्रार्जुन; या पृथु, मांधाता, नहुष, सुहोत्र, शिवि तथा मरुत।

भावार्थ—माया-मोह के आवरण और घमंड में पड़कर ही जरासंध तथा शिशुपाल मार डाले गये। छल-बल के कारण ही सहस्त्रार्जुन मारा गया॥ 1॥ रावण बड़ा छली था, और ऐश्वर्य-बल इतना कि उसकी लंका नगरी की दीवारें सोने की बतायी जाती हैं; परन्तु वह भी मारा गया॥ 2॥ दुर्योधन अभिमान में पड़कर परिवार सहित नष्ट हो गया। उसने प्रमादवश पांडवों का रहस्य नहीं जाना कि इनके रक्षक कूटनीति-निगुण शूरवीर श्रीकृष्ण हैं॥ 3॥ माया के अहंकार में पड़कर सब राजे-महाराजे चले गये। पीछे उनकी सुकीर्ति तथा कुकीर्ति चर्चा का विषय बनी रही॥ 4॥ छह सार्वभौम सम्राट जो समुद्र पर्यंत पृथ्वी के अधिपति थे, मरकर जमीन में मिल गये; परन्तु मोह-माया की ऐसी महिमा है कि एक आदमी भी शरीर की नश्वरता पर विश्वास नहीं करता। वह अपनी देह को अजर-अमर ही माने बैठा रहता है॥ 5॥ कहां तक कहूं, लोग असावधानी ही में संसार से चले जाते हैं। कौन सावधान है कौन असावधान है यह झगड़ा बना रहता है, क्योंकि सब तो अपने आप को सावधान मानते हैं॥ 6॥

यह माया जगत के लोगों को मोहने वाली है। इसने संसार के सारे लोगों को मोह लिया है। हरिश्चंद्र भी सत्य के कारण मायावश काशी की गली-गली में बिकते फिरे॥ 47॥

व्याख्या—इस रमैनी में सद्गुरु ने जरासंध, शिशुपाल, सहस्त्रार्जुन, रावण, दुर्योधन आदि बड़े-बड़े नरपतियों का नाम लेकर बताया है कि ये प्रसिद्ध राजे माया-मोह एवं अहंकारवश मारे गये। ये बड़े-बड़े कहलाने वाले जीवन भर दूसरों को दुख दिये और अन्त में स्वयं भी दुखी होकर संसार से विदा हुए। यही है प्रमाद का फल। इन राजाओं के विषय में थोड़ा विवरण देखें—

जरासंध

जरासंध मगध नरेश[1] वृहद्रथ का पुत्र था। जब जरासंध राजगद्दी पर बैठा तब यह बड़ा प्रतापवान निकला। इसने बहुत-से राज्यों को जीतकर उनके राजाओं को कैद कर रखा था। शिशुपाल जरासंध का सेनापति था। कुरुष देश तथा पश्चिम के मुर तथा नरक देश के यवन राजा जरासंध के अधीन थे। वंग, पुंड्र, किरात देश के राजा जरासंध की शरण में थे। कृष्ण के सगे श्वसुर रुक्मिणी-पिता भीष्मक भी जरासंध के अनुगामी बने थे। उत्तर दिशा के अधिपति अठारह भोज-परिवार जरासंध के भय से पश्चिम की ओर भाग गये थे। शूरसेन, भद्रकार, शाल्व, योध, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिंद, कुंति, शाल्वायन, दक्षिण पंचाल, पूर्व कोशल, मत्स्य, संन्यस्तपाद आदि देशों के राजा जरासंध के डर से अपने-अपने राज्य छोड़कर पश्चिम तथा दक्षिण की ओर भाग गये थे।

जरासंध की दो पुत्रियां अस्ति और प्राप्ति दानवराज कंस को व्याही थीं। कंस मथुरानरेश उग्रसेन का पुत्र तथा श्रीकृष्ण का चचेरा मामा था। कंस के दुराचार से कृष्ण ने अपने मामा कंस का वध किया था। कंस की हत्या हो जाने पर उसकी दोनों पत्नियां अपने पिता मगधनरेश जरासंध के पास चली गयीं। जरासंध को अपने दामाद कंस की हत्या सुनकर बड़ा कष्ट हुआ। उसने तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई की। परन्तु वह स्वयं कृष्ण को बच्चा समझकर उनसे न युद्ध कर बलराम से किया। उसकी सेना कट गयी। अतः वह मगध लौट गया। इस प्रकार तेईस-तेईस अक्षौहिणी[2] सेना लेकर मथुरा पर सत्रह बार हमला किया और सेना कट जाने से मगध लौटता रहा।

श्रीकृष्ण ने यादवों के सहित मथुरा में रहना खतरे से खाली नहीं देखा, अतः उन्होंने सुदूर समुद्र के पास द्वारका नगर बसा लिया और परिवार के बहुत-से लोगों को वहां भेज दिया। इधर कालयवन ने तीन करोड़ सेना लेकर

---

1. बिहार में गंगा एवं पटना के दक्षिण स्थित क्षेत्र।
2. चतुरंगिणी सेना के एक परिमाण को अक्षौहिणी कहते हैं, जिसमें 1,09,350 पैदल; 65,610 घोड़े; 21,870 रथ और 21, 870 हाथी होते थे। (बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लि. कबीर रोड, वाराणसी)।

मथुरा को घेर लिया जो जरासंध से अलग शायद पश्चिम देशीय शूरवीर था। बलराम तथा कृष्ण उसके डर से भाग निकले। कालयवन ने उन्हें खदेड़ा। एक पर्वत में दोनों छिप गये। बीच में मुचुकुंद और कालयवन से मुठभेड़ हो गयी जिसमें कालयवन मारा गया।

श्रीकृष्ण तथा बलराम मथुरा लौट आये और कालयवन की सेना का तहस-नहस कर उसे खदेड़ दिया तथा मथुरा से धन-दौलत मनुष्यों और बैलों पर द्वारका ले जाने की तैयारी होने लगी। इसी बीच अठारहवीं बार जरासंध पुनः तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा पर आ धमका। श्रीकृष्ण तथा बलराम जरासंध के भय से वहां से भाग खड़े हुए। जरासंध ने हंसते हुए उनका पीछा किया। श्रीकृष्ण तथा बलराम एक 'प्रवर्षण' नामक पर्वत पर चढ़कर छिप गये। जब जरासंध द्वारा बहुत ढूंढ़ने पर भी वे नहीं मिले, तब उसने पर्वत पर चारों ओर से आग लगवा दी। जरासंध ने समझा कि श्रीकृष्ण तथा बलराम जल मरे होंगे; परन्तु वे दोनों भी कच्चे गोइयां नहीं थे। वे पर्वत से कूदकर द्वारका भाग गये।[1] इधर जरासंध मगध लौट गया।

श्रीकृष्ण के मन में जरासंध के प्रति वैर बना था ही। इन सब घटनाओं के बहुत दिनों बाद जब युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते थे, श्रीकृष्ण ने उन्हें जरासंध के वध करने के लिए उकसाया। युधिष्ठिर ने हिम्मत नहीं की। परन्तु श्रीकृष्ण के बल देने से उन्होंने स्वीकृति दी। श्रीकृष्ण भीम तथा अर्जुन को लेकर मगध की ओर चल दिये। ये तीनों मगधनरेश के किले में पीछे से घुसकर जरासंध के पास पहुंच गये और कृष्ण ने उसे युद्ध के लिए ललकारा। जरासंध अपने मंत्रियों को पुत्र सहदेव का राजतिलक करने की आज्ञा देकर मल्लयुद्ध में डट पड़ा। श्रीकृष्ण ने भीम को भिड़ा दिया। काफी हाथापाई के बाद भीम द्वारा जरासंध मारा गया। श्रीकृष्ण ने भीम और अर्जुन के साथ जाकर जरासंध द्वारा कैद किये गये सारे राजाओं को बंदीगृह से छुड़वाया।[2]

शिशुपाल

गंगा और नर्मदा के बीच का क्षेत्र चेदि देश कहलाता था। इसके राजा दमघोष थे। शिशुपाल दमघोष का पुत्र था। शिशुपाल मगधनरेश जरासंध का सेनापति भी था।

विदर्भ देश (आज के नागपुर का क्षेत्र) का राजा भीष्मक था। उसकी पुत्री रुक्मिणी थी और उसके पांच पुत्र थे जिसमें बड़े पुत्र का नाम रुक्मी था।

---

1. रण छोड़कर भागने के कारण श्रीकृष्ण का एक नाम रणछोड़ पड़ गया।
2. भागवत, स्कंध 10, अध्याय 50-52 तथा हरिवंश, विष्णु पर्व, 56।

रुक्मिणी के अन्य भाई-बन्धु चाहते थे कि रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण से हो; क्योंकि स्वयं रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण को ही अपना पति मन से चुन लिया था। परन्तु बड़ा भाई रुक्मी श्रीकृष्ण से वैर रखता था। उसने चेदि-राजपुत्र शिशुपाल से अपनी बहन रुक्मिणी का विवाह रचा।

रुक्मिणी यह सब जानकर घबरा गयी और उसने गुप्त रूप से एक ब्राह्मण को द्वारका भेजकर श्रीकृष्ण से अपने मन की बात बता दी। श्रीकृष्ण इस बात को पहले सुन रखे थे कि रुक्मिणी मुझे चाहती है। इधर शिशुपाल अपने सैकड़ों मित्रों, जरासंध आदि बड़े-बड़े नरेशों एवं सेना के सहित बरात लेकर विदर्भ पहुंचा। उधर श्रीकृष्ण-बलराम अपनी सेना के सहित रुक्मिणी के संदेशानुसार उन्हें हरण करने के लिए विदर्भ पहुंचे। विदर्भनरेश भीष्मक ने समझा कि श्रीकृष्ण रुक्मिणी और शिशुपाल का विवाह देखने आये हैं। उन्होंने तथा अन्य नरेशों ने श्रीकृष्ण का स्वागत किया। जब रुक्मिणी देवी-पूजन के लिए नगर के बाहर गयीं, तब रुक्मिणी के योजनानुसार श्रीकृष्ण उन्हें रथ पर बैठाकर भाग निकले।

शिशुपाल आदि क्षत्रियों को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने कहा 'हम क्षत्रियों के रहते हुए ये ग्वाले[1] रुक्मिणी को उड़ाये जा रहे हैं, हमें धिक्कार है।' वे उनके पीछे लड़ने दौड़े, परन्तु श्रीकृष्ण की सेना ने उन्हें परास्त कर खदेड़ दिया। इसके बाद रुक्मी बहुत उत्तेजित होकर तथा एक अक्षौहिणी सेना लेकर श्रीकृष्ण का पीछा किया। उसकी सेना भी मारी गयी। अन्त में श्रीकृष्ण ने रुक्मी का वध करना चाहा, परन्तु रुक्मिणी ने भातृ-स्नेह-वश छोड़वा दिया। तब श्रीकृष्ण ने रुक्मी को उसके ही दुपट्टे से बांधकर उसकी दाढ़ी, मूंछ तथा सिर के बाल यत्र-तत्र कटवा दिये। बलराम जब वहां आये तब उन्होंने श्रीकृष्ण को डांटकर रुक्मी को छुड़वा दिया और कहा कि ऐसा विरूपण किसी राजपुरुष को नहीं करना चाहिए। रुक्मी ने लज्जावश विदर्भ न जाकर एक अलग 'भोजकट' नाम की नगरी बसायी और वहां रहने लगा। उधर द्वारका जाकर श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी का विवाह हुआ। इसे राक्षस-विवाह कहते हैं।[2]

चेदिनरेश दमघोष श्रीकृष्ण के फूफा थे। उनकी बुआ का नाम 'सुप्रभा' था जो शिशुपाल की माता थीं। शिशुपाल का दूसरा भाई दंतबक्र था। कहा जाता है जब सुप्रभा की कोख से शिशुपाल पैदा हुआ, तब उसके चार हाथ तथा तीन नेत्र थे। इसे देखकर सुप्रभा डर गयीं; परन्तु आकाशवाणी हुई कि डरो मत, यह लड़का बड़ा बली तथा श्रीमान होगा। सुप्रभा ने आकाशवाणी से पूछा कि इसकी

---

1. गोपैर्हृतम् (भागवत 10/53/57)।
2. राक्षसेन विधानेन (भागवत 10/52/18)।

मृत्यु किसके हाथों होगी? आकाशवाणी ने बताया कि जिसकी गोद में जाने से इसके दो अतिरिक्त हाथ तथा तीसरा नेत्र लुप्त हो जायेगा, उसी के हाथों यह मरेगा।

शिशुपाल को देखने बहुत-से नरेश जाते थे। सुप्रभा उसे सबकी गोद में रखती थी। जब श्रीकृष्ण उसे देखने गये, तब उनकी गोद में रखने से शिशुपाल के दोनों अतिरिक्त हाथ तथा एक अतिरिक्त नेत्र लुप्त हो गया। सुप्रभा श्रीकृष्ण से डर गयी। उसने श्रीकृष्ण से शिशुपाल के अपराधों को क्षमा करने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने सुप्रभा से कहा 'बुआ जी, मैं अपने फुफेरे भाई शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा कर दूंगा।'

युधिष्ठिर के अपने अनुष्ठित राजसूय-यज्ञ में जब सभा जुड़ी, तब उन्होंने सभासदों से पूछा कि पहली पूजा किसकी हो? इस पर भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण की पूजा करने की राय दी। श्रीकृष्ण की अग्रपूजा देखकर शिशुपाल क्रोधित हो गया और वह भीष्म पितामह तथा युधिष्ठिर को धिक्कारते हुए श्रीकृष्ण को खरी-खोटी सुनाने लगा। शिशुपाल ने कहा—बड़े-बड़े नरपति सम्राटों के रहते हुए उनके सामने कृष्ण अग्रपूजा के पात्र नहीं हैं। पांडव बालक के तुल्य हैं। भीष्मपितामह सठिया गये हैं। कृष्ण कोई राजा नहीं है। यह सम्मान उनके अयोग्य है। वृद्ध वसुदेव, द्रुपद, द्रोणाचार्य, कृष्णद्वैपायन वेदव्यास, भीष्म पितामह, अश्वत्थामा, दुर्योधन, कृप आदि योग्य पुरुषों के रहते हुए कृष्ण की पूजा करना सबका अपमान करना है। हम नरेश लोग तो इसलिए यहां आये कि यह भोलाभाला युधिष्ठिर सम्राट हो जाये तो अच्छा ही है, तो आप लोग हम लोगों का अपमान करने लगे।

शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को संबोधित करते हुए कहा—"कृष्ण, मैं मानता हूं कि पांडव बेचारे डरपोक और तपस्वी हैं, इन्होंने यदि ठीक-ठीक नहीं समझा तो तुम्हें जना देना चाहिए था कि तुम किस पूजा के अधिकारी हो। यदि कायरता और मूर्खतावश इन्होंने तुम्हारी पूजा कर भी दी तो तुमने अयोग्य होकर उसे स्वीकार क्यों किया? जैसे कुत्ता लुक-छिपकर जरा-सा घी चाट ले और अपने को धन्य-धन्य मानने लगे, वैसे ही तुम यह अयोग्य पूजा स्वीकार कर अपने को बड़ा मान रहे हो। तुम्हारी इस अनुचित पूजा से हम राजाओं का कोई अपमान नहीं होता। ये पांडव तो स्पष्ट रूप से तुम्हारा ही तिरस्कार कर रहे हैं। नपुंसक का व्याह कराना, अन्धे को रूप दिखाना, राज्यहीनों को राजाओं में बैठा देना जिस प्रकार उन्हीं का अपमान है, वैसे ही तुम्हारी यह पूजा भी तुम्हारा अपमान है। हमने युधिष्ठिर, भीष्म और तुमको देख लिया! तुम सब एक-से-एक बढ़कर हो।" ऐसा कहकर शिशुपाल अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और

कुछ राजाओं को साथ लेकर वहां से जाने के लिए तैयार हो गया।"[1]

इसके बाद युधिष्ठिर ने शिशुपाल के पास जाकर मधुर वाणी में उसे बहुत समझाया, परन्तु वह नहीं समझा। शिशुपाल अन्य विरोधी राजाओं को लेकर यज्ञ तथा युधिष्ठिर का यज्ञान्त-अभिषेक नहीं होने देना चाहता था।

इसके पश्चात भीष्म ने शिशुपाल को भला-बुरा कहा। पीछे पुनः शिशुपाल श्रीकृष्ण की बहुत कटु शब्दों में आलोचना करता रहा। उसने कहा—"भीष्म ! तुम भाट के समान कृष्ण का क्या गुणगान करते हो। दूसरे राजाओं का गुणगान क्यों नहीं करते?... तुम अपने मन से भोजपति कंस के चरवाहे दुरात्मा कृष्ण को ही सब कुछ मानकर बातें बघार रहे हो?...कृष्ण ! मैं तुम्हें ललकारता हूं। आओ मुझसे भिड़ जाओ।"[2]

श्रीकृष्ण ने कहा—"राजाओ ! यह (शिशुपाल) हम लोगों का संबंधी है। फिर भी हमसे बड़ी शत्रुता रखता है। इसने हम यदुवंशियों का सत्तानाश करने में कोई कोरकसर नहीं की। इस दुरात्मा ने मेरे प्राग्ज्योतिषपुर[3] चले जाने पर बिना किसी अपराध के द्वारकापुरी जला देने की चेष्टा की। जिस समय भोजराज रैवतक पर्वत पर विहार करने के लिए गये हुए थे, इसने उनके सभी साथियों को मार डाला अथवा बांधकर अपनी राजधानी में ले गया। जब मेरे पिता अश्वमेध कर रहे थे, तब इस पापात्मा ने उसमें विघ्न डालने के लिए यज्ञीय अश्व को पकड़ लिया था। यदुवंशी तपस्वी वभ्रु की पत्नी जिस समय सौवीर देश के लिए जा रही थी, यह उन्हें देखकर मोहित हो गया और बलपूर्वक हर ले गया। इसकी ममेरी बहन भद्रा करूषराज के लिए तपस्या कर रही थी, परन्तु इसने छल से रूप बदलकर उसे हर लिया। इस सबको देख-सुनकर मुझे बड़ा कष्ट होता था, परन्तु अपनी बुआ की बात मानकर मैं अब तक सहता रहा। आज यह दुष्ट आप लोगों के सामने ही विद्यमान है। यहां इसने भरी सभा में मेरे प्रति जैसा व्यवहार किया है, यह आप लोग देख ही रहे हैं।"[4] अन्ततः श्रीकृष्ण ने चक्र से शिशुपाल का वध कर दिया।

सहस्त्रार्जुन

हैहयवंशी क्षत्रिय सहस्त्रार्जुन बड़ा प्रतापी राजा था। कहा जाता है कि यह दत्तात्रेय के वर से हजार हाथों वाला हो गया था। तात्पर्य है कि यह बहुत बली था। यह एक बार शिकार खेलने वन में गया। वहां जमदग्नि का आश्रम पड़ा।

---

1. संक्षिप्त महाभारत अंक, खंड 1, पृ. 198, गीता प्रेस गोरखपुर।
2. संक्षिप्त महाभारत, खंड 1, पृ. 201।
3. आज के असम प्रान्त के गोहाटी का पुराना नाम प्राग्ज्योतिषपुर था।
4. संक्षिप्त महाभारत 1/201।

जमदग्नि ने अर्जुन का सेना सहित आदर किया। जमदग्नि के पास एक गाय थी। उस पर अर्जुन ने लोभ किया और उसे बलपूर्वक अपनी 'राजधानी' ले गया। जब परशुराम अपने पिता जमदग्नि के पास आये, तब यह घटना सुनकर बहुत दुखी हुए। परशुराम क्रोधित होकर और जाकर अर्जुन की सेना का नाश कर अर्जुन को भी मार डाला।

एक बार जमदग्नि अपनी यज्ञशाला में बैठे यज्ञ कर रहे थे। सहस्रार्जुन के लड़के बदला की भावना से प्रेरित होकर आये और उनका सिर काटकर लेकर अपनी राजधानी चले गये। परशुराम जब पिता का वध जान पाये तब वे अर्जुन की राजधानी माहिष्मती में जाकर उसके पुत्रों तथा वहां के लोगों के सिर काटकर नगर के बीच में कटे हुए सिरों का एक पर्वत खड़ा कर दिये, और वे हैहयवंशी क्षत्रियों का इक्कीस बार सामूहिक वध करते रहे।"[1]

रावण

ब्रह्मा का पुत्र पुलस्त्य, पुलस्त्य का विश्रवा तथा विश्रवा का पुत्र रावण है। इस प्रकार रावण ब्रह्मा का प्रपौत्र है। सुमाली राक्षस की लड़की केकसी थी। केकसी और विश्रवा के संयोग से रावण पैदा हुआ था। माता राक्षस तथा पिता ब्राह्मण होने से रावण ब्राह्मण तथा राक्षस दोनों कहा जाता है। श्री राम अपने चौदह वर्ष के वनवासकाल में जब दक्षिणी भारत के दंडकारण्य में रहने लगे थे, तब रावण-शासित उस प्रदेश के लोग श्री राम से शंकित हो गये थे। इसी बीच श्रीराम द्वारा शूर्पणखा-विरूपण तथा खरदूषण-वध आदि से रावण उत्तेजित हो गया था।

रावण ने जब सीता की सुन्दरता का बखान सुना तो वह सब भूलकर उन्हें हरण कर ले गया और विभीषण तथा अपने सहयोगियों के लाख समझाने पर भी सीता को श्री राम के पास नहीं लौटाया। विभीषण की पत्नी सरमा ने सीता से कहा—"बूढ़े मंत्रियों तथा माता के बहुत समझाने पर भी रावण तुम्हें उसी प्रकार नहीं लौटाना चाहता जैसे लोभी धन को नहीं त्यागना चाहता। रावण युद्ध में मरे बिना तुम्हें छोड़ने का साहस नहीं करता।"[2] रावण ने माल्यवान के समझाने पर उससे कहा—"मैं सुन्दरी सीता को वन से लाकर अब मात्र राम से भय खाकर उसे लौटा नहीं सकता।"[3] रावण ने पुनः कहा—"मैं टूटकर दो टुकड़े भले हो जाऊं, परंतु किसी के सामने झुक नहीं सकता। यह मेरा सहज

1. भागवत, स्कंध 9, अध्याय 15-16। महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 49।
2. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग 34, श्लोक 23, 24।
3. वाल्मीकीय, युद्धकांड, सर्ग 36, श्लोक 8।

दोष है और स्वभाव को जीतना असंभव है।"[1]

इस प्रकार काम, मोह, क्रोध तथा अहंकार के वश होकर रावण श्रीराम द्वारा मारा गया।

दुर्योधन

वेदव्यास जी ने अपनी माता सत्यवती की आज्ञा से स्वर्गीय विचित्रवीर्य की दो विधवा पत्नियों तथा एक दासी का गर्भाधान किया और अंबिका से धृतराष्ट्र, अंबालिका से पांडु और दासी से विदुर को जन्म दिया। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र बताये जाते हैं जिनमें ज्येष्ठ दुर्योधन थे।

पांडु रोगी थे। उनकी पत्नी कुंती और माद्री ने पांडु की आज्ञा से पुत्र उत्पन्न किये। कुंती ने धर्मराज से युधिष्ठिर, पवन से भीम और इन्द्र से अर्जुन को पैदा किया तथा माद्री ने अश्वनीकुमारों से नकुल तथा सहदेव जुड़वा लड़के पैदा किये। आगे चलकर युधिष्ठिर को युवराज पद दिया गया। युधिष्ठिर का गुण-प्रभाव बढ़ने से धृतराष्ट्र को चिन्ता हो गयी। कूटनीति कर पांडवों को वारणावत भेजा गया। उन्हें लाक्षागृह में जलाने की भी योजना बनी। परन्तु पांडव बच निकले। उसके बाद पांचालनरेश द्रुपद की पोष्य पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन ने सफलता पाई। बात धृतराष्ट्र तक गयी, उन्होंने दुर्योधन के विरोध करने पर भी पांडवों को बुलाकर हस्तिनापुर से अलग इन्द्रप्रस्थ में उनकी राजधानी बनवा दी।

पीछे युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। उसमें कौरव भी सम्मिलित हुए। उसमें जो राजाओं द्वारा चढ़ावा आया, उसे तथा युधिष्ठिर की अन्य कीर्ति देखकर दुर्योधन ईर्ष्या से जल-भुन गया।

दुर्योधन के इस दुख को देखकर उसके मामा शकुनि ने उसे समझाया और कहा कि युधिष्ठिर बड़े जुआड़ी हैं। मैं उनको जुआ में निमंत्रित कर उन्हें छल से हराकर उनका सर्वस्व तुम्हें जिता दूंगा।

जुआ हुआ। जुआ में युधिष्ठिर सर्वस्व हारकर बारह वर्ष के लिए वनवास तथा एक वर्ष के लिए अज्ञातवास में चले गये। दुर्योधन ने यही शर्त रखी थी, कि तेरह वर्ष के बाद आने पर राज्य दिया जा सकेगा। परन्तु पांडवों के आने पर भी दुर्योधन ने उन्हें राज्य नहीं लौटाया और कहा कि बिना युद्ध के सूई के अग्र बराबर जमीन भी नहीं लौटाऊंगा। श्रीकृष्ण ने बहुत समझाया कि पांचों पांडवों

---

1. द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्।
   एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥
   (वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग 36, श्लोक 11)

को केवल पांच गांव दे दो। परन्तु दुर्योधन ने नहीं माना, सो नहीं माना। अंततः कौरव-पांडव में अठारह दिन का युद्ध हुआ और दोनों का घोर विनाश हुआ। दुर्योधन तो परिवार सहित नष्ट हो गया।

उपर्युक्त कहानियों में आकाशवाणी, हजार हाथ आदि काल्पनिक हैं तथा जरासंध का तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना अठारह बार लेकर धावा करना, कालयवन का तीन करोड़ सेना लेकर मथुरा घेरना आदि अतिशयोक्तिपूर्ण हैं।

सद्गुरु तो यह बताना चाहते हैं कि ये प्रतापी कहलाने वाले रजवाड़े माया-मोह एवं अहंकार-वश जीवन भर मनस्ताप में जलते रहे, खून-खराबा करते रहे तथा स्वयं भी मारे जाते रहे। सद्गुरु कहते हैं कि सारे राजे-महाराजे माया के दंभ तथा अहंकार में नष्ट हो गये। उनके मरने के बाद उनके अच्छे-बुरे कर्तव्यों के बाजे बजते रहे। उनकी अच्छी-बुरी चर्चाएं होती रहीं।

"छौ चकवे बिति धरणि समाना। एकौ जीव प्रतीत न आना॥" भू-मंडल के छह चक्रवर्ती सम्राट मरकर जमीन में गल गये। छह चक्रवर्ती ही क्यों, अनगिनत राजे-महाराजे एवं सारे प्राणी तो मर-मरकर पृथ्वी में समाये हैं। मिश्र के पिरामिड हजारों वर्ष पूर्व के ऐश्वर्यशाली राजाओं की नश्वरता की साक्षी दे रहे हैं। पुरातत्त्व विभाग की खुदाई में कितने ही विशाल राजभवनों, बौद्ध-अवशेषों एवं प्राचीन संस्कृतियों के साक्ष्य मिलते हैं, जिन सबके निर्माताओं एवं उपभोक्ताओं के नाम तक का पता नहीं चलता। ऐसे क्षणभंगुर संसार में रहकर भी हम यह नहीं ध्यान देते कि हमें भी आज-कल में यहां से जाना है। यही है माया-मोह का प्रमाद !

सद्गुरु कहते हैं कि नाम लेकर कहां तक गिनाया जाये, बड़े-बड़े नामी-ग्रामी लोग माया के उन्माद में पड़कर असावधानी ही में चले गये। परन्तु "चेत अचेत झगरा एक भयऊ" अर्थात संसार में एक झगड़ा है कि चेत कौन है, अचेत कौन है? कौन सावधान है और कौन असावधान है, यह जनमानस में विवाद का विषय है। जो अपने जीवनभर धन, स्त्री, राज्य के लिए या अपने अहंकार में ठेस लगने से मार-काट करता रहा, उसे भी बहुत-से लोग ज्ञानी, योगी तथा मुक्तात्मा मानते हैं, और कितने ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न पूर्ण अहिंसाव्रत में रहने वाले सन्त पुरुष को अपने मत से भिन्न मानकर बंधमान मानते हैं। अतएव कौन सावधान (ज्ञानी) है तथा कौन असावधान (अज्ञानी) है, इसका सर्वसम्मत निर्णय न हुआ है न होगा। परन्तु निष्पक्ष होकर समझा जा सकता है कि जो सांसारिक चीजों के लिए या अहंकारवश उलझा हो, हिंसा, काम, लोभ, मोह में ग्रस्त हो, वह असावधान है, वह चाहे जो हो। सावधान वही है जो मोह-माया तथा अहंकार को त्यागकर स्वरूपस्थिति में शांत है।

यह माया जग-मोहिनी है। यह सबको मोहती है। जो इसके मोह में न पड़े वही श्रेष्ठ है। हरिश्चंद्र सत्य-पालने के चक्कर में बहुत दुखी हुए। यह भी एक माया-मोह ही था।

हरिश्चंद्र

विश्वामित्र ने एक ब्राह्मण का रूप बनाकर अयोध्या-नरेश हरिश्चंद्र से सारा राज्य अपने लिए दान करवा लिया। पीछे विश्वामित्र ने ढाई भार सोना दक्षिणा मांगी। उसको देने के लिए हरिश्चंद्र ने अपनी पत्नी शैव्या तथा पुत्र रोहित को काशी में एक ब्राह्मण के हाथों बेच दिया तथा स्वयं को एक भंगी के हाथों बेचा।

सद्गुरु कहते हैं कि हरिश्चंद्र को ब्राह्मण नामधारी को दान से खुशकर स्वर्ग जाने का मोह था, फिर वह ब्राह्मण चाहे कितना ही छली हो। इस चक्कर में पड़कर वे अपनी तथा अपने बच्चों की बिक्री करने के लिए काशी की गलियों में भटकते फिरे और शोकित रहे। विवेकी पुरुष को कोई भी जालसाज हरिश्चंद्र के समान बेवकूफ नहीं बना सकता। सत्यपालन का अर्थ यह नहीं है कि अपने को ठगा दे। हरिश्चंद्र का सत्यपालन कम, भोलापन ज्यादा था जो इस मोह को लेकर था कि जैसे-कैसे ब्राह्मण को दान से खुशकर स्वर्ग जाना है। कहीं-कहीं लिखा मिलता है कि हरिश्चंद्र ने यह सब स्वप्न में देखा था। वस्तुतः यह ब्राह्मणों द्वारा दान की महिमा में रची गयी काल्पनिक कथा है।

मुसलिम मुल्लाओं से निवेदन

रमैनी-48

मानिकपुर कबीर बसेरी। मद्दति सुनी शेखतकि केरी॥ 1॥
ऊजै सुनी जौनपुर थाना। झूसी सुनी पीरन को नामा॥ 2॥
एकइस पीर लिखें तेहि ठामा। खतमा पढ़ें पैगम्बर नामा॥ 3॥
सुनी बोल मोहिं रहा न जाई। देखि मुकर्बा रहा भुलाई॥ 4॥
हबी नबी नबी के कामा। जहाँ लों अमल सो सबै हरामा॥ 5॥
साखी—शेख अकर्दी शेख सकर्दी, मानहु बचन हमार।
आदि अन्त औ युग युग, देखहु दृष्टि पसार॥ 48॥

शब्दार्थ—मानिकपुर=एक कस्बा, जो इलाहाबाद-कटनी रेलवे लाइन पर पड़ता है; दूसरा मानिकपुर इलाहाबाद-रायबरेली लाइन पर पड़ता है जिसका रेलवे स्टेशन गढ़ी मानिकपुर है। मद्दति=प्रशंसा। शेखतकि=शेख तकी, प्रसिद्ध सूफी संत, सिकन्दर लोदी का गुरु। जौनपुर=वाराणसी के पश्चिमोत्तर दिशा में

वाराणसी-लखनऊ रेलवे लाइन पर स्थित एक शहर। झूसी=प्रयाग (इलाहाबाद) संगम के पूर्व तरफ का एक कस्बा। पीरन=पीर (गुरु) का बहुवचन। खतमा=खुत्वः, धर्मोपदेश, भाषण, नमाज का खुत्वाः, प्रार्थना। पैगम्बरनामा=पैगंबरों की नामावली। मुकर्बा=मकबरा, कब्र। हबी (हबीब)=अतिशय प्रेम करने योग्य, मित्र, खुदा या नबी। नबी=ईश्वर का दूत, पैगंबर, मुसलमानी शास्त्रों के रचयिता, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने वाले। अमल=कार्य, अच्छे या बुरे कृत्य, लोकाचार; जप, मिस्मरेजम का अमल, यहां का अर्थ बाह्याचार जप आदि है। हरामा=हराम, वर्जित। शेख अकर्दी शेख सकर्दी=दो सूफी सन्तों के नाम। शेख=शैख, फकीरों का महंत, दरगाह का अधिपति। युग युग=सब समय।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैं एक समय मानिकपुर में निवास कर रहा था। वहां पर रहते हुए मैंने शेख तकी की प्रशंसा सुनी॥ 1॥ वहीं पर मैंने यह भी सुना कि उनके निवास-स्थान जौनपुर और झूंसी हैं तथा वहां पर बहुत-से पीरों के नाम प्रसिद्ध हैं॥ 2॥ झूंसी में इक्कीस पीरों के नाम कब्रों या दीवारों में खुदे हैं और वहां पर मुल्ला लोग पैगंबरों के नाम लेकर खुत्वः पढ़ते हैं। उनकी प्रशंसा में स्तुति करते हैं॥ 3॥ यह सब सुनकर मुझसे सहन नहीं हुआ और मैं वहां गया तथा उनसे बोला—'तुम लोग (हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा को तो नरक का द्वार बताते हो और स्वयं) जड़-कब्रों को देखकर भूल गये और इन्हीं बेजानों की प्रार्थना करने में लग गये हो!॥ 4॥ प्यारे नबियों ने क्या यही कर्तव्य-शिक्षा दी है? वस्तुतः सत्यप्रेमी के लिए सारे बाह्याचार वर्जित हैं। अथवा चाहे प्यारे नबियों के ही काम हों, जहां तक जड़-पूजन सम्बन्धी बाह्याचार हैं, सब त्याज्य हैं॥ 5॥

हे शेख अकरदी तथा शेख सकरदी मठाधीशो! मेरी बातों को मानो, और अपनी आंखें खोलकर देखो कि आदि-अन्त वाली नाशवान वस्तुएं क्या हैं तथा युग-युग रहने वाली नित्य वस्तु क्या है? वस्तुतः सारी भौतिक चीजें आदि-अन्त वाली एवं नाशवान हैं, अतएव वे उपासनीय नहीं हो सकतीं। उपासनीय तो सब समय रहने वाला अविनाशी आत्मस्वरूप ही है॥ 48॥

व्याख्या—यह 48वीं रमैनी ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करती है। प्रथम पंक्ति में अन्य पुरुष के रूप में कबीर साहेब की प्रस्तुति है जो प्रबन्ध में कहने का एक प्रकार है। वस्तुतः अन्य पुरुष के रूप में सद्गुरु कबीर स्वयं को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मैं एक समय मानिकपुर में निवास कर रहा था। वहीं पर रहते हुए शेख तकी की प्रशंसा सुनी।

यह मानिकपुर कौन हो सकता है, साफ नहीं है। जैसा कि शब्दार्थ में बताया गया है कि एक मानिकपुर इलाहाबाद-कटनी रेलवे लाइन पर है तथा

दूसरा मानिकपुर इलाहाबाद-रायबरेली लाइन पर है। ये दोनों ही प्राचीन हैं। कहा जाता है कि पनिका जाति के एक प्राचीन ग्रन्थ 'मानिक खंड' में भी यह बात लिखी है और पनिका जाति में यह माना जाता है। पनिका जाति छत्तीसगढ़ तथा मध्य प्रदेश की एक जाति है जो पूरी कबीरपंथी होती है। ये जन्मजात शाकाहारी एवं शुद्ध आचार-विचार के होते हैं। ये अपने आप को 'मानिकपुरी' भी कहते हैं। 'मानिकपुरी' इनकी प्रसिद्ध उपाधि है।

'जौनपुर' उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध शहर है। कहा जाता है कि 1394 से 1493 ई. अर्थात 100 वर्षों तक बदायूं और इटावा से लेकर बिहार तक फैला हुआ देश स्वतन्त्र मुसलिम राज्य की जौनपुर राजधानी था। कहा जाता है कबीर साहेब के समय में सिकन्दर लोदी ने जौनपुर पर हमला कर इसे हड़प लिया था। इसके शासन काल में विद्रोह और उथल-पुथल था। जौनपुर में मुसलमानों के पीर रहा करते थे।

झूंसी जो प्रयाग गंगा-यमुना-संगम के पूर्व छोर पर है, आज के कस्बा के पास दक्षिण तरफ खंडहर तथा कब्र विद्यमान हैं। लगता है शेख तकी जौनपुर तथा झूंसी दोनों जगहों में रहा करते थै। उनके ज्यादा रहने की बात झूंसी ही में बतायी जाती है।

इस रमैनी के अनुसार कबीर साहेब ने मानिकपुर में रहते-रहते शेख तकी तथा वहां के सूफी सन्तों के विषय में प्रशंसा सुनी थी। परन्तु साथ-साथ यह भी सुना कि दरगाहों के मठाधीश लोग कब्रों की प्रार्थना तथा अनेक कर्मकांड में लगे रहते हैं। कबीर साहेब ने झूंसी तथा जौनपुर की यात्रा की थी। इस रमैनी की यह चौपाई "सुनी बोलि मोहि रहा न जाई। देखि मुकर्बा रहा भुलाई॥" ध्यान देने योग्य है। कबीर साहेब ने जब मुल्लाओं की कब्रों के प्रति अधिक उपासना-भक्ति देखी, तब उनसे सहन नहीं हुआ। जो मुल्ला बुतपरस्ती को नरक का रास्ता बताये वही खुद कबरपरस्ती करे, यह कहां का ज्ञान है ! उन्होंने कहा 'तुम लोग कब्रों को देखकर भूल रहे हो।' यह एक विडंबना ही है कि जो मूर्ति-पूजा का विरोध करे, वह स्वयं कब्र पूजे, मक्का में जाकर काबे के पत्थर को चूमे, कागज के ताजिये बनाकर उनकी पूजा करे और इस प्रकार के अनेक कर्मकांडों में लिपटा रहे। जनाब अमीर मीनाई ने भी क्या खूब कहा है— "मुल्ला-मौलवी लोग ब्राह्मणों को शैतान या काफिर कहते हैं और ब्राह्मण उनको नास्तिक या म्लेच्छ कहते हैं। परन्तु मैं देखता हूं तो काबा और हिन्दू-मन्दिरों में पत्थर का जवाब पत्थर है। अर्थात हिन्दू-मुसलमान दोनों पत्थर पूजने वाले हैं।"[1]

---

1. शेख कहता है बिरहमन को, बिरहमन वाको सक्त।
काब और बुतखाने में, पत्थर है पत्थर का जवाब॥

"हबी नबी नबी के कामा। जहाँ लों अमल सो सबै हरामा॥" सद्गुरु कहते हैं कि प्यारे नबियों के क्या यही कर्तव्य-निर्देश हैं? सत्य-प्रेमी के लिए तो सारे जड़-पूजन वर्जित होने चाहिए। शब्दार्थ में अमल के कई अर्थ बताये गये हैं। यहां का अर्थ केवल बाह्याचार है। जितना जड़-पूजन का आडंबर है सभी त्याज्य होने चाहिए। अथवा कबीर साहेब कहते हैं कि भले ही प्यारे नबियों ने करने के लिए बताया हो, परन्तु अनात्म वस्तु की उपासना वर्जित होना चाहिए। सत्य इच्छुक को निष्पक्ष और उदार होना चाहिए।

रमैनी के अन्त की साखी में अकरदी तथा सकरदी दो शेखों के नाम आये हैं। शैख का अर्थ मुसलमानों की एक जाति भी होती है, जैसे शेख, सैयद, मुगल तथा पठान। परन्तु शैख मसजिद, दरगाह एवं फकीरों के अधिपति एवं महंत को भी कहते हैं। लगता है जब कबीर साहेब ने झूंसी या जौनपुर जाकर अपना वक्तव्य दिया था, तब ये अकरदी-सकरदी दो बड़े मुल्ला एवं महंत वहां थे जो शैख की उपाधि से जाने जाते थे। कबीर साहेब ने इन्हें जोर देकर कहा था "मानहु वचन हमार" मेरी बातों को मानो। उन्होंने जो अपनी बात कही वह निचली पंक्ति में है "आदि अन्त औ युग युग, देखहु दृष्टि पसार।" इस पंक्ति का भाव बड़ा गंभीर है। सद्गुरु कहते हैं कि आंखें खोलकर देखो कि आदि-अन्त वाली वस्तुएं कौन-कौन-सी हैं और युगयुग रहने वाली कौन-सी वस्तु है! जो कुछ निर्मित होता है उसका आदि तथा अन्त है। वह नाशवान है। अतएव सारे भौतिक कार्य-पदार्थ नाशवान हैं। अर्थात बनने-बिगड़ने वाले हैं। अतएव वे उपासनीय नहीं हैं। उपासनीय तो वह वस्तु है जो 'युग-युग' रहती है। यहां 'युग-युग' से नित्यता का भाव निकलता है। सब समय एकरस रहने वाली अपनी आत्मा है। सारी चीजें छूटती हैं। सारे संयोगों का आदि है और अन्त है, परन्तु अपनी आत्मा का न आदि है और न अन्त है। वह नित्य है। अपनी आत्मा अपने आप से कभी अलग नहीं हो सकती। अतएव सारे जड़ पदार्थ संयोग वाले होने से आदि-अन्त वाले हैं। उनसे उपरत होकर युग-युग रहने वाले अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ।

"आदि अन्त और युग युग' को हम एक दूसरे ढंग से भी समझने की चेष्टा करें। शरीर आदि-अन्त वाला है और जीव युग-युग रहने वाला। हमारा एक शारीरिक जीवन है जिसका आदि-अन्त है। यह जीवन बारंबार मिलता तथा छूटता है। परन्तु आत्मिक जीवन युग-युग रहने वाला है और उसका वियोग कभी नहीं होता। मुल्ला लोग इस बात को नहीं समझना चाहते कि जीव बारंबार शरीर धारण करता तथा छोड़ता है। अर्थात वे पुनर्जन्म नहीं मानते। परन्तु पुनर्जन्म सिद्धान्त को माने बिना आज के बुद्धिमान-बुद्धिहीन, कोढ़ी-सर्वांग-सम्पन्न आदि विषमताओं का समाधान कर ही नहीं सकते। यह कहने से काम

नहीं चल सकता है कि खुदा परीक्षा ले रहा है। यह अनावश्यक परीक्षा क्यों? "न्याव न कीन्ह कीन्ह ठकुराई। बिन कीन्हें लिखि दीन्ह बुराई॥"

'इसलाम धर्म की रूप-रेखा' नामक पुस्तक में राहुल जी ने लिखा है—"हिन्दी धर्म वालों (जैन, बौद्ध, ब्राह्मणधर्मी) ने जिस प्रकार अन्याय रूपी दोष-पात होने के कारण अनेक जन्मों को स्वीकार किया है, वैसे यद्यपि सारे मुसलमानों का मत नहीं है; किन्तु तो भी इसलाम में ऐसे भी संप्रदाय हैं जो पुनर्जन्म मानते हैं। संसार-प्रसिद्ध कवि-दार्शनिक महात्मा रूमी अपनी 'मस्नुई' में लिखते हैं—

"हम चु सब्ज़ा बारहा रोईद अम्।
हफ्त सद् हफ्ताद क़ालिब दीद अम्॥"

अर्थ—मैं उगा नव सस्यवत कितनी ही बार,
सात सौ सत्तर शरीरें देख लीं।

कुरान शरीफ में भी आता है—"जिन पर परमेश्वर कुपित हुआ उनमें से कुछ को वानर और सुअर बना दिया।" (कुरान 5/9/4; 7/21/3)

जिन पर खुदा कुपित हुआ वे जीव शरीरधारी ही रहे होंगे। आगे उन्हें बन्दर तथा सूअर योनियों में जाना पड़ा, इससे पुनर्जन्म सिद्ध हो गया।

रमैनी-49

दर की बात कहो दरबेसा। बादशाह है कौन भेसा॥ 1॥
कहाँ कूच कहाँ करे मुकामा। मैं तोहि पूछौं मूसलमाना॥ 2॥
लाल जर्द की नाना बाना। कौन सुरति को करो सलामा॥ 3॥
काजी काज करहु तुम कैसा। घर जबह करावहु भैंसा॥ 4॥
बकरी मुरगी किन्ह फुरमाया। किसके कहे तुम छुरी चलाया॥ 5॥
दर्द न जानहु पीर कहावहु। बैता पढ़ि पढ़ि जग भरमावहु॥ 6॥
कहहिं कबीर एक सैय्यद बोहावै। आप सरीखा जग कबुलावै॥ 7॥
साखी—दिन को रहत हैं रोजा, राति हनत हैं गाय।
यह खून वह बन्दगी, क्योंकर खुशी खुदाय॥ 49॥

शब्दार्थ—दर=द्वार, पता। दरबेसा=दरवेश, फकीर, सिद्ध संत। बादशाह=अल्लाह, खुदा। जर्द=पीला। नाना=बहुत प्रकार। बाना=वेष। सुरति=सूरत, शक्ल, रूप। काजी=मुसलिम न्यायाधीश। जबह=किसी प्राणी का गला रेतकर काटना, हत्या। फुरमाया=आज्ञा। पीर=गुरु। बैता=बैत, शेर, कविता। बोहावै=पुकारना, बोझा उठाकर दूसरे के सिर पर रखना।

भावार्थ—हे फकीरो ! यह बात बताओ कि अल्लाह का पता क्या है, वह कहां रहता है और किस वेष में रहता है?॥ 1॥ वह कहां से प्रस्थान करता है

तथा कहां अवस्थान करता है? हे मुसलमानो! मैं तुमसे पूछता हूं कि॥ 2॥ वह लाल वेष में रहता है या पीले वेष में अथवा अनेक वेषों में रहता है? तुम किस शक्ल-सूरत का सलाम करते हो?॥ 3॥ हे काजी साहब! तुम भी कैसा काम करते हो, जो घर-घर में भैंसे कटवाते फिरते हो?॥ 4॥ तुम किस ईश्वर की आज्ञा से मासूम बकरी-मुरगी आदि जानवरों के गले पर छूरी चलाते हो?॥ 5॥ प्राणियों की पीड़ा को जानते नहीं हो और पीर कहलाते हो तथा शेर, कविता पढ़-पढ़कर जगत के लोगों को भ्रम में डालते हो कि कुर्बानी नाम से जीववध करना धर्मानुकूल है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मुसलमानों में एक सैयद जाति के लोग होते हैं जो अपने आप को श्रेष्ठ मुसलमान मानते हैं। वे अपनी मान्यताओं का बोझा दूसरों पर बलात लादते हैं। वे लोगों से अपने इसलाम-मत को बलपूर्वक स्वीकार कराना चाहते हैं॥ 7॥

मुसलमान बन्धु रमजान महीने में दिन को रोजा रहते हैं, अन्न-पानी छोड़कर उपवास करते हैं और रात होते ही गाय काटते हैं या बकरी-मुरगी काटते हैं। एक तरफ खुदा के नाम पर जीव-हत्या करना और दूसरी तरफ खुदा की प्रार्थना करना, कितना विरोधी काम है? खुदा कैसे खुश हो सकता है?॥ 49॥

व्याख्या—मुसलमान बन्धु समझते हैं कि हमने ईश्वर का पता लगा लिया है; अतः हम लोग स्वर्ग में जायेंगे, बाकी जो गैर-मुसलमान हैं, वे नरक में जायेंगे। इस धारणा को लेकर वे काफी अहंकार में रहते हैं और गैर-मुसलिमों को काफिर एवं नरकगामी कहते हैं। इस धारणा से ही इनमें पुराकाल में, या कहना चाहिए कबीर साहेब के काल में गैर-मुसलमानों को जबर्दस्ती भी मुसलमान बनाने का दुराग्रह था और इसको लेकर वे दूसरे का खून-खराबा भी कर देते थे। इसी भाव को लेकर सातवीं पंक्ति में कहा गया है "आप सरीखा जग कबुलावै।" अतएव इन मिथ्या धारणाओं को दृष्टिगत रखते हुए सद्गुरु मुल्ला और फकीरों से पूछते हैं कि यदि आप लोग ईश्वर के दरवाजे का पता पा गये हैं कि वह अमुक जगह रहता है, तो जरा हमें भी बताइए जिससे हम भी उससे मुलाकात कर सकें। यदि वह एक जगह न रहता हो तथा प्रस्थान एवं अवस्थान करता हो तो उसका भी पता बताइए? उसके वेश को भी बता दीजिए जिससे वह शीघ्र पहचानने में आ जाये?

ये सारी-की-सारी बातें ईश्वर-ज्ञान के अभिमान पर व्यंग्य है। जड़ और चेतन के अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से जगत की व्यवस्था अबाध गति से चल रही है, यह बात समझ में आती है; परन्तु एक ज़ोरावर अल्लाह एवं ईश्वर कहीं बैठा है और वह जो कुछ चाहता है कर सकता है और करता रहता है और उस तक हमारा ही मजहब पहुंचा है, जो हमारे मजहब एवं सम्प्रदाय से चलेगा वही

वहां तक पहुंचेगा, हमारी किताब उसी की भेजी है, यह सब एक मिथ्या धारणा तथा झूठा अहंकार है। ईश्वर का पता तो आज तक किसी ने पाया नहीं, परन्तु उसके लिए नाना मतावलंबी यह झगड़ा करने लगे कि उस ईश्वर के हम ही ठेकेदार हैं। इससे अधिक भोलापन क्या हो सकता है! कुछ लोगों एवं कुछ मजहब वालों को यह अहंकार है कि केवल वे ही उस ईश्वर को समझ सके हैं और उन्हीं के द्वारा जनता उस तक पहुंच सकती है। यह दोष प्रायः सभी ईश्वरवादियों का है। इनमें कुछ नरम भी होते हैं; परन्तु मुसलिम-मुल्लाओं को यह पूरा गर्व है कि ईश्वर उन्हीं के द्वारा मिल सकता है। इसी पर साहेब का व्यंग्य है कि यदि आप उससे मुलाकात कर चुके हैं, तो उसके स्थान, पता, वेष आदि बताइए, क्या हैं?

इस रमैनी में दूसरी उनकी मुख्य बात है ईश्वर के नाम पर मूक, निर्दोष एवं निरीह प्राणियों के वध का विरोध करना। यह एक जंगलीपन है जो पुराकाल से करीब समस्त ईश्वरवादी एवं देववादियों के मत में रहा है। प्राचीन मत में जैन और बौद्ध, मनुष्य के अलावा कोई पूजनीय ईश्वर या देवता नहीं मानते, इसलिए इनके नाम पर इन मतों में जीव-हिंसा करने की बात ही नहीं उठती। ये दोनों अहिंसावादी होते हैं।

ईश्वर और देवता के नाम पर मूक प्राणियों की हत्या करना धर्म का दुरुपयोग है। कबीर साहेब मुल्लाओं से प्रश्न करते हैं कि ईश्वर के नाम पर जीववध करने की आज्ञा किसने दी? यदि किसी पुस्तक में ऐसी बात लिखी है तो उसका लेखक मनुष्य ही है जिसने अपने अल्पज्ञतावश ऐसा लिखा है। यदि कहो किसी ईश्वर ने आज्ञा दी, तो इसका क्या प्रमाण है!

कुरान-शरीफ में खुदा की तरफ से कहलवा लिया गया है—"हमने तुम्हारे लिए कुरबानी के ऊंटों को उन चीजों में कर दिया है जो खुदा के साथ नामजद की जाती हैं। उनमें तुम्हारे लिए फायदे हैं तो उनको खड़ा रखकर उन पर खुदा का नाम लो[1], फिर जब वह किसी पहलू पर गिर पड़े तो उनमें से खाओ और सब्र वालों और फकीरों को खिलाओ। हमने यों तुम्हारे बस में इन जानवरों को कर दिया है ताकि तुम शुक्र करो।"[2] कहना न होगा कि यह सब किसी ईश्वर ने नहीं कहा है, बल्कि मनुष्य ने कहकर अपनी बात चलायी है। लेकिन इसके आगे यह भी लिखा है "खुदा तक न तो इनके गोश्त ही पहुंचते हैं और न इनके खून, बल्कि उस तक तुम्हारी परहेजगारी पहुंचती है।" पहले कुरबानी का खून

1. ऊंट के हलाल करने का तरीका यह है कि उसको काबे की ओर खड़ा करते हैं, फिर उसकी छाती पर भाला मारते हैं ताकि उसका सारा खून निकल जाये और जब गिर पड़ता है तब काटते हैं।
2. हिन्दी कुरान, पृ. 339, श्री प्रभाकर साहित्य लोक, रानी कटरा, लखनऊ।

काबा की दीवारों पर छिड़कते थे। मुसलमानों को ऐसा करने से रोका गया और बताया गया कि खुदा तक केवल परहेजगारी ही पहुंचती है।

पीर (गुरु) तो वह है जो दूसरे के पीर (पीड़ा) को जाने। जो दूसरे की पीड़ा को नहीं समझता, वह तो बे-पीर काफिर है।[1] ईश्वर के नाम पर व्रत रखना तथा उसी के नाम पर जीव-हत्या करना दोनों में कोई मेल नहीं खाता।

जनाब अमीर मीनाई ने ठीक ही कहा है—"कर्तव्य बताने वाले काजी तो बरहना सर (गंजा सिर) अर्थात अविवेकी हैं और मुहतसिब (आचरण-निरीक्षक) जख्मी यानी अंधे हैं। ये अविवेक से ग्रसित बादाखोर (शराबी) शायद आजकल ज्यादा शराब पी गये हैं।"[2] जनाब हाली साहब कहते हैं—"खुदा के पास रहने वाला फरिश्ता (देवता) ही क्यों न हो, परन्तु वह इंसान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसमें थोड़ी-बहुत दया न आ जाये। खुदा ने इंसान को इसलिए दुनिया में पैदा किया है कि वह दूसरे प्राणियों पर दया करे। नहीं तो ताअत (प्रार्थना) करने के लिए खुदा के पास कर्रेबयां (फरिश्ते) कम नहीं थे।"[3] दूसरे इंसान को पीड़ा देना धर्म नहीं है। किसी ने कैसा अच्छा कहा है—"धर्मयुद्ध उसे नहीं कहते कि जिसमें मानव का रक्तपात हो। जो अपने नफ्स (बुरी इच्छा) रूपी काफिर (शैतान) को मारता है, वही गाजी (वीर) है।"[4]

इस रमैनी का सार दो बातों में है जैसा कि पहले भी बताया गया है। पहली बात है कि ईश्वर मनुष्य की एक अवधारणा है। अब उस अवधारणा को किसी प्रकार का रूप-रंग देकर किसी स्थान-मकान, लोक या आकाश पर उसे अवस्थित कर और केवल अपनी भाषा, रीति-रिवाज आदि में उसे बांधकर कोई उसका एकाधिकारी ठेकेदार बने, तो यह निरा भोलापन है। दूसरी बात उसको खुश करने के लिए मूक प्राणियों की हत्या करे, यह दोहरा भोलापन है। वस्तुतः व्यक्ति की अपनी आत्मा ही परमात्मा है और दूसरों पर करुणा करना ही उसे प्रसन्न रखने का तरीका है। जो दूसरे की आत्मा को दुखाता है, उसकी आत्मा प्रसन्न नहीं हो सकती। परन्तु जो दूसरे की आत्मा के प्रति करुणा रखता है, उसकी अपनी आत्मा सदैव प्रसन्न रहती है।

---

1. कबीर सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
   जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर॥
2. काजी बरहना सर है, तो जख्मी है मुहतसिब।
   शायद कि पी गये हैं, बहुत बादाखोर आज॥
3. हो फरिश्ता तो भी नहीं इन्सा, दर्द थोड़ा बहुत न हो जिसमें॥
   दर्द दिल के वास्ते पैदा किया इनसान को,
   वर्ना ताअत के लिए कर्रेबयां कुछ कम न थे।
4. जहाद उसको नहीं कहते कि होवे खून इन्सा का।
   करे जो कत्ल अपने नफ्से काफिर को वो गाजी है॥

बन्धनों का मूल ममता

रमैनी-50

कहइत मोहि भयल युगचारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥ 1॥
बंसहि आगि लगि बंसहि जरिया। भरम भूल नर धन्धे परिया॥ 2॥
हस्ति के फन्दे हस्ती रहई। मृगा के फन्दे मृगा रहई॥ 3॥
लोहे लोह जस काटु सयाना। त्रिया के तत्त्व त्रिया पहिचाना॥ 4॥
साखी—नारि रचंते पुरुषा, पुरुष रचंते नार।
पुरुषहि पुरुषा जो रचे, ते बिरले संसार॥ 50॥

शब्दार्थ—बंसहि=बांस में। सयाना=समझदार, चतुर। तत्त्व=स्वभाव। रचन्ते=रुचते, प्रिय लगना, प्रेम करना। रचे=प्रेम करे।

भावार्थ—मुझ-जैसे लोगों को उपदेश करते हुए चारों युग बीत गये; परन्तु जो लोग 'मेरा पुत्र, मेरी पत्नी तथा मेरे धन-घर' कहकर और मानकर उनमें आसक्त हैं, वे समझते नहीं॥ 1॥ आदमी उसी प्रकार अपने मन के अन्दर उत्पन्न हुए माया-मोह की आग में जल मरता है, जैसे बांस की कोठी अपने ही बांसों की रगड़ से जलकर भस्म हो जाती है। लोग स्थूल पदार्थों तथा मन की कल्पनाओं में भ्रमित होकर तथा अपने स्वरूप को भूलकर कर्म-बन्धनों के व्यापार में फंस जाते हैं॥ 2॥ जैसे सिखायी हुई हथिनी और मृगी के बन्धनों में जंगली हाथी और मृग फंस जाते हैं; जैसे चतुर लोग एक लोहा से दूसरे लोहे को काट देते हैं, जैसे एक स्त्री का स्वभाव दूसरी स्त्री द्वारा पहचाने जाने के कारण, कुटनी एवं मायावी स्त्रियों द्वारा सीधी स्त्रियां गलत काम करने के लिए फंसा ली जाती हैं, वैसे मनुष्य अपने माने हुए लोगों द्वारा ही भवबन्धनों में फंसाया जाता है। अथवा अपने मन का मोह ही उसे भवबन्धनों में डालता है॥ 3-4॥

स्त्री पुरुष में प्रेम करती है तथा पुरुष स्त्री में प्रेम करता है। परन्तु जो पुरुष-ही-पुरुष (स्वस्वरूप चेतन) में प्रेम करता है, वह संसार में बिरला है॥ 50॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस रमैनी में यह बताया है कि तुम्हें अपने मन के मोह तथा अपने माने हुए प्राणियों से ही बन्धन प्राप्त होते हैं।

"कहइत मोहि भयल युगचारी।" चौपाई की इस प्रथम अर्धाली का आपाततः अर्थ पौराणिक[1] विचार वालों के अनुकूल है। उनको यहां अपने भावुक विचारों के समर्थन में अर्थ लगाने में सरलता है। वे अर्थ लगा सकते हैं

1. पौराणिक कबीरपंथी मानते हैं कि कबीर साहेब सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमशः सत्सुकृत, मुनींद्र, करुणामय और कबीर नाम से अवतार लेते हैं।

'कबीर साहेब कहते हैं कि मुझे उपदेश करते हुए चारों युग बीत गये।' परन्तु ऐसा अर्थ करने वालों को समझना चाहिए कि वे अपनी भावुकता में कबीर साहेब को भी अत्यन्त भावुक बना देना चाहते हैं।

दूसरे ऐसे विद्वान लोग हैं जो बीजक में प्रक्षेप की टोह में रहते हैं। वे इस स्थूल अर्थ को मानकर इसे उन कबीरपंथियों द्वारा किया हुआ प्रक्षेप मानेंगे, जो कबीर साहेब को युग-युग में अवतार लेने वाला मानते हैं। परन्तु इसमें पहली धारणा श्रद्धातिरेक है और दूसरी धारणा बुद्धि-अतिरेक है।

"कहइत मोहि भयल युगचारी" में 'मोहि' शब्द उत्तम पुरुष कर्ता के रूप में कबीर साहेब के लिए होते हुए भी, उसका अर्थ केवल उन्हीं में सीमित नहीं है। किन्तु युग-युगों से होते आये सभी गुरुजनों के लिए है। क्योंकि संसार में सभी गुरुजन इस एक सामान्य विषय पर उपदेश देते आये हैं कि संसार की मोह-माया ही जीव के लिए बंधन है, इसलिए इसे तोड़ो। यह अर्थ स्वाभाविक है तथा इस अर्थ से कबीर साहेब के मन में अनादिकाल से होते आये सभी गुरुजनों के प्रति आदर का भाव भी झलकता है। अतएव इस प्रकार इस चौपाई का अर्थ हुआ कि मुझ-जैसे लोग चारों युगों से उपदेश करते आ रहे हैं; परन्तु पत्नी-बच्चों में मेरा-मेरा भाव रखने वाले लोग इस बात को नहीं समझते।

"समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥" इस अर्धाली में, जो विद्वान कबीर साहेब को गृहस्थ सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें अपने ढंग का अर्थ सूझेगा। वे कहना चाहेंगे "इस अर्धाली से कबीर के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। कबीर कहते हैं कि मेरे बच्चे तथा पत्नी समझ नहीं रहे हैं। अतएव कबीर पत्नी-बच्चे वाले थे। वे अपनी पत्नी तथा बच्चों को समझाते थे, परन्तु वे उनकी बातें समझते नहीं थे।" परन्तु ऐसे बहादुर विद्वानों से पूछना चाहिए कि कबीर के वे पत्नी-बच्चे क्या चारों युगों से उनके साथ थे? क्योंकि वे कहते हैं "कहइत मोहि भयल युगचारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥" कबीर साहेब ने यहां सहज भाव से कहा है कि मुझ-जैसे लोग सदैव से संसार की असारता को समझाते रहे हैं, परन्तु जो सुत-नारी में मेरी-मेरी भावना रखने वाले हैं, वे इस बात को नहीं समझ पाते। कबीर साहेब अखंड बाल-ब्रह्मचारी विरक्तात्मा संत थे। उनके सामान्य उपदेश को उनके ऊपर लगाना अ-समीक्षात्मक बुद्धि का फल है। बीजक के कुछ पाठों में "समुझत नाहिं मोर सुत नारी" में 'मोर' शब्द की जगह पर 'मोह' पाठ है। लगता है यही सही पाठ है, परन्तु लिखावट के दोष से कभी किसी ने 'मोह' की जगह पर 'मोर' लिख लिया। फिर भी अर्थ में कोई फर्क नहीं है।

"बंसहि आगि लगि बंसहि जरिया" अर्थात बांस अपनी ही रगड़ से जल जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपने माने हुए लोगों द्वारा उठाये हुए राग-द्वेष के रगड़े में जलकर राख हो जाता है। मनुष्य अपने मन के माया-मोह तथा अपने माने हुए प्राणी-पदार्थों के राग-द्वेष की आग में ही रात-दिन जलता है। हमारे चारों ओर फैले हुए हमारे माने गये प्राणी-पदार्थ, हमारे ही दुरुपयोग से हमारे लिए बन्धन बन जाते हैं। हम अविवेक-वश उनमें राग करते हैं और मन की अनुकूलता न होने पर उनसे द्वेष करते हैं। बस ये ही राग-द्वेष हमारे जी के जंजाल बन जाते हैं। ये ही हमारे गले की फांसी हो जाते हैं।

"भरम भूल नर धन्धे परिया" इस अर्धाली में 'भ्रम' तथा 'भूल' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। भ्रम का अर्थ है कुछ का कुछ प्रतीत होना; जैसे रस्सी में सांप, सीपी में चांदी, चांदनी या धूप की लहरियों में पानी आदि ! इसी प्रकार विषयों में सुख-भास महाभ्रम है। अनुकूल माने गये विषयों-भोगों में मनुष्य को सुख का भ्रम होता है कि इनमें आनन्द है। यह शरीर मेरा है, ये प्राणी-पदार्थ मेरे हैं, यह भी भ्रम ही है। क्योंकि यह सब कुछ भी तो साथ नहीं रह जाता है। मेरी अपनी आत्मा से अलग कोई परमात्मा है, उसी से परमानंद मिलेगा, यह सबसे बड़ा भ्रम है। भूल का अर्थ है अपने आपा को न जानना। मैं शुद्ध चेतन हूं, यह एक वास्तविकता है। इसे न समझकर मैं देह हूं, यह भूल है। संक्षेप में कहें तो जो कुछ अपने से अलग है उसमें सुख तथा स्वत्व का भास भ्रम है और अपने अविनाशी चेतन स्वरूप को न समझना भूल है। इस भ्रम तथा भूल के कारण जीव 'धन्धे परिया' कर्म बन्धनों का व्यापार करता है। भ्रम तथा भूल को हम विषयासक्ति तथा अज्ञान कह सकते हैं। इन्हीं के कारण तो जीव भटक रहा है ! कैसे अपने अन्दर की अज्ञान-अग्नि से आदमी जलता है, इसके लिए ऊपर बांस की रगड़ से बांस जलने का उदाहरण दिया गया है। आगे हस्ती, मृगा, लोह और स्त्री—इन चार उदाहरणों से सद्गुरु यह समझाना चाहते हैं कि तुम्हारे बंधन तुम्हारे मन से या तुम्हारे स्वजनों द्वारा ही बनते हैं। लोग सिखायी हुई हस्तिनी तथा मृगी द्वारा हाथी तथा मृग को फंसा लेते हैं, लोह से लोह काट देते हैं तथा कुटनी स्त्री द्वारा सीधी स्त्रियों को फंसा लेते हैं। इन चारों उदाहरणों में अपनी जाति ने ही अपनों को खाया। इसी प्रकार तुम्हारे अपने ही माने गये माता, पिता, भाई, बन्धु, पत्नी, पुत्र, मित्र, गोत्र, सगे-सम्बन्धी लोग तुम्हारे लिए बन्धनों का जाल बुनते हैं। जो जाल से बाहर होना चाहता है उसे समझा-बुझा कर फंसाते हैं। कितने ही मनुष्य अपने स्वजनों को विषय-वासना, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि का पाठ पढ़ाते हैं। किसी के सामने कोई बात बारंबार दोहरायी जाये तो उसका प्रभाव उस पर पड़ने लगता है।

यह परम सत्य है कि यदि आदमी सतत सावधान रहे, तो उसे कोई दूसरा मनुष्य बंधन नहीं दे सकता। मुख्य बंधन तो अपने भीतर की मोह-माया एवं अहंता-ममता है। जैसे लोहा से उत्पन्न मोरचा उसी लोहे को खा जाता है, वैसे हमारे अपने से उत्पन्न हुए अज्ञान एवं भ्रम हमें खा जाते हैं।

जैसे अपनों द्वारा सुख-सुविधाएं मिलती हैं, वैसे ही अपने लोगों द्वारा दुख तथा बंधन भी मिलते हैं। इसे हम ऐतिहासिक ढंग से भी समझ सकते हैं। राजा दशरथ को अपनी ही प्रिय पत्नी कैकेयी द्वारा मरणांतक कष्ट हुआ। अपने ही भाई विभीषण द्वारा शत्रु पक्ष को भेद देने से रावण का विध्वंस हुआ, "घर का भेदिया लंका ढावै" कहावत हो गयी। प्रचलित धारणानुसार राजा जयचंद विदेशियों से मिलकर देश का घातक हुआ। बादशाह शाहजहां अपने ही पुत्र औरंगजेब द्वारा जेल में डाला गया। यह लिस्ट बड़ी लंबी बनायी जा सकती है।

अंततः साखी की प्रथम पंक्ति में सद्गुरु कहते हैं कि स्त्री पुरुष में प्रेम करती है तथा पुरुष स्त्री में। अर्थात स्त्री और पुरुष एक दूसरे के शरीर में मोह करते हैं जो एक मृगतृष्णा है। यदि स्त्री के शरीर में आनन्द होता तो स्त्री अपने शरीर के आनन्द को लेकर सुखी रहती, परन्तु वह पुरुष के शरीर में आकर्षित है और यदि पुरुष के शरीर में आनन्द होता, तो वह अपने शरीर का आनन्द लेकर तृप्त रहता; परन्तु वह स्त्री के शरीर में आकर्षित है। इसलिए न स्त्री के शरीर में आनन्द है तथा न पुरुष के। स्त्री-पुरुष दोनों ही देहाध्यास की मृगतृष्णा में दौड़ रहे हैं और इस रेगिस्तान में वे दोनों ही जीवन भर प्यासे मर रहे हैं।

"पुरुषहिं पुरुषा जो रचे, ते बिरले संसार॥" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्य है। यहां का 'पुरुष' कोई स्थूल पुरुष की देह नहीं है। किन्तु 'पुरि शेते इति पुरुषः' अर्थात जो शरीर रूपी पुर में शयन करता है, वह पुरुष है। सांख्यदर्शन ने जड़ प्रकृति से भिन्न शुद्ध चेतन को पुरुष कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (4/7) ने भी 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो' कहकर चेतन के लिए ही पुरुष कहा है। अतएव सद्गुरु कहते हैं "पुरुषहिं पुरुषा जो रचे, ते बिरले संसार" जो केवल पुरुष-ही-पुरुष में प्रेम करता है, अर्थात जो केवल अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में ही लीन है, वह संसार में बिरला है। सारी विषयासक्ति मिट जाने पर ही अपने शुद्ध-चेतन में रति होती है। आत्मरति, आत्मप्रेम, आत्मतृप्ति जीवन की सर्वोच्च दशा है। जिसकी देहासक्ति सर्वथा मिट जाती है, वही अपने शुद्ध पारख चेतन-स्वरूप में स्थित होता है।

स्वरूपस्थिति रहनी का विषय है

रमैनी-51

जाकर नाम अकहुवा रे भाई। ताकर काह रमैनी गाई॥ 1॥

कहैं तात्पर्य एक ऐसा। जस पन्थी बोहित चढ़ि वैसा॥ 2॥
है कछु रहनि गहनि की बाता। बैठा रहै चला पुनि जाता॥ 3॥
रहै बदन नहिं स्वाँग सुभाऊ। मन अस्थिर नहिं बोलै काहू॥ 4॥

साखी—तन राता मन जात है, मन राता तन जाय।
तन मन एकै होय रहै, तब हंस कबीर कहाय॥ 51॥

शब्दार्थ—अकहुवा=कथन में न आने वाला, अनिर्वाच्य। रमैनी=प्रशंसा, प्रार्थना, कीर्तन। तात्पर्य=आशय, मतलब। बोहित=नाव, जहाज। काहू=किसी से। राता=आसक्त। एकै=एकाग्रता। हंस=विवेकी, स्वरूपस्थ।

भावार्थ—हे भाई! जिसका नाम ही कथन में नहीं आता, उसकी क्या कथा, कीर्तन एवं वंदना करते हो?॥ 1॥ विवेकीजन उसका इस प्रकार एक आशय कहते हैं कि जिस प्रकार पथिक नाव पर बैठकर पार हो जाता है उसी प्रकार उसकी स्थिति समझो॥ 2॥ स्वरूपस्थिति की प्राप्ति तो एक रहनी-गहनी की बात है। जैसे नाव में बैठे-बैठे मनुष्य अपने गंतव्य को चला जाता है, वैसे रहनी में रहने वाला साधक स्वयमेव शांति को प्राप्त कर लेता है॥ 3॥ साधक को चाहिए कि वह शरीर में बहुत छापा-तिलक आदि वेष का स्वांग न रचे, मन शांत रखे और किसी से व्यर्थ बातें न करे॥ 4॥

जहां शरीर आसक्त रहता है, वहां मन चला जाता है और जहां मन आसक्त रहता है वहां शरीर चला जाता है। जब शरीर और मन एकाग्र एवं संयत होकर एक स्वरूपस्थिति की रहनि में लग जाते हैं, तब जीव हंस हो जाता है। अर्थात वह सत्य और असत्य का पारखी एवं स्वरूपस्थ हो जाता है॥ 51॥

व्याख्या—मनुष्य अपनी आत्मा से अलग परमात्मा खोजता है, उसे वह अपना निधान ठहराता है और कहता है कि वह 'अकहुआ' है। 'अकहुआ' ग्रामीण शब्द है। इसका संस्कृतनिष्ठ शब्द 'अनिर्वचनीय' है। इन दोनों समानार्थक शब्दों का अभिप्राय है 'जो कहने में न आये'। एक तरफ तो कहा जाता है कि वह कथन में नहीं आ सकता, दूसरी तरफ उसके नाम की कल्पना, उसका जप, कथा, कीर्तन, वंदना आदि सब करने का प्रयत्न किया जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि जिसका नाम ही अकहुआ है, उसकी क्या वंदना, प्रार्थना एवं कीर्तन करते हो? वंदना-कीर्तन आदि केवल सात्त्विक मनोरंजन हैं। जिस दशा की प्राप्ति होने पर मनुष्य पूर्ण कृतार्थ होता है, वह वंदना, कीर्तन का विषय नहीं है, और फिर उसकी वंदना, जिसका नाम ही अकहुआ हो, एक हास्यास्पद विषय है। मूल चौपाई कितनी व्यंग्यात्मक है, व्यंजना से भरी है "जाकर नाम अकहुआ रे भाई। ताकर काह रमैनी गाई॥"

परमात्मा, भगवान, मोक्ष, निर्वाण आदि सारे शब्दों का एक ही तात्पर्य है दुखों से अत्यन्त छुटकारा। और यह रहनी-गहनी की बात है। 'रहनी' का अर्थ

है पवित्र आचरण में रहना और अंततः मन का स्थिर हो जाना और 'गहनी' का अर्थ है कल्याण के साधक अंगों को ग्रहण करना। इस प्रकार, रहनी-गहनी जोड़वा शब्द प्रायः एक ही भाव को प्रकट करते हैं। 'गहनी' पकड़ है, और 'रहनी' आचरण है। कल्याण की समझ एवं साधक-अंगों को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना 'गहनी' है और उनका आचरण करना 'रहनी' है। जिनसे दुख उत्पन्न होते हैं, ऐसे मन, वाणी, इंद्रियों के भाव तथा आचरणों का त्याग करने से सद्गुण तथा शांति स्वयं आते हैं। और जिनसे सहज सुख उत्पन्न होता है ऐसे दिव्य गुणों—दया, शील, क्षमा, धैर्य, विवेक, वैराग्य, विनम्रता तथा अपने अविनाशी चेतन-स्वरूप के स्मरण और व्यवहार से स्वतः चिरंतन शांति की अनुभूति होती है। सद्गुरु कहते हैं कि ज्ञान 'रमैनी गाने, कीर्तन करने' का विषय नहीं है, किन्तु 'रहनी-गहनी' का विषय है। रहनी-गहनी का भावार्थ ज्ञान एवं जानकारी को आचरण में लाना है। यह कठिन पड़ता है। इसमें मन-इंद्रियों को वश में करने की बात है। कीर्तन में सरलता है। नाम-जप में सारे पापों का नाश भी मान लिया गया है। आदमी सरलता की ओर जाना चाहता है, चाहे उसका उसमें विनाश ही हो जाये। सरल मार्ग सदैव हितकर नहीं होता। कहावत है 'महंगा रोवै एक बार, सस्ता रोवै बार-बार।

आजकल कीर्तन और अखंड पाठ का नशा बहुत बढ़ गया है। ढोल, मजीरा, हारमोनियम लेकर तथा लाउडस्पीकर लगाकर एक-दो घंटे नहीं, तीन-चार घंटे नहीं; चौबीस-चौबीस घंटे कानफाड़ू आवाज में कीर्तन तथा अखंड पाठ किया जाता है। यह मानवता के साथ शत्रुता करना है। सबकी शांति एवं नींद हराम की जाती है। पाप धोने के लिए पाप बटोरा जाता है। एक बाजार में तो नित्य के लिए लाउडस्पीकर से अखंड पाठ चल रहा था। इतने दिन के लिए अमुक सेठ की तरफ से तथा इतने दिन के लिए अमुक सेठ की तरफ से पाठ करने वालों को मेहनताना मिलता था। सेठों को तो अपने पाप धोने रहते हैं। पता नहीं, आस-पास वाले श्रोताओं के कौन-से पाप के फल रहते हैं जिससे उनकी शांति और नींद छीन ली जाती है।

सद्गुरु कहते हैं कि मोक्ष, परमशांति एवं परमतत्त्व कीर्तन एवं पाठ का विषय नहीं है। यह आचरण का विषय है। यदि आदमी अपनी प्राप्त जानकारी का आदर करता है, अर्थात वह जो कुछ जानता है, उसका आचरण करता है, तो वह अपने स्थान पर बैठे-बैठे अपने गंतव्य को उसी प्रकार पहुंच जाता है, जैसे जहाज पर बैठा व्यक्ति अपने गंतव्य पर पहुंच जाता है।

चलकर मिलने वाली मंजिल भौतिक होती है। यदि हमें कलकत्ता, दिल्ली या इसी प्रकार अन्य किसी स्थल पर जाना है, तो चलना पड़ेगा, परन्तु यदि हमें

अपने निधान में, अपने आश्रय-स्थान में जाना है, तो चलना नहीं है, केवल रहनी-गहनी की आवश्यकता है। यह वैज्ञानिक तथा विवेकसम्मत तथ्य है कि किसी भी मौलिक वस्तु का निधान (आश्रय स्थल) उसके अपने स्वरूप से अलग नहीं होता। निज चेतन-स्वरूप मौलिक एवं शाश्वत है। अतएव मेरा निधान मेरा अपना स्वरूप ही है। इसलिए मुझे कहीं अलग पहुंचना नहीं है। रहनी-गहनी ठीक न होने से, मैं अपने आप से अलग पड़ा हुआ-सा हूं। जिस दिन व्यक्ति त्याग करने योग्य को त्याग देता है तथा ग्रहण करने योग्य को ग्रहण कर लेता है, उसी दिन वह अपने आप को पा लेता है, अपने आप की भूमिका में पहुंच जाता है। यह "है कछु रहनि गहनि की बाता। बैठा रहै चला पुनि जाता" का मर्म है।

"रहै बदन नहिं स्वाँग सुभाऊ" सद्गुरु कहते हैं कि साधक को चाहिए कि वह अपना स्वांग रचने वाला स्वभाव न बनावे। वह अपने शरीर पर दिखाऊं वेष न बनावे। कितने साधक बहुत माला, चंदन, रंग-बिरंगे कपड़े, जटाजूट आदि बनाकर अपने आप को बहुत बड़ा भक्त, साधक एवं संत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। अपने आप को समाज से बहुत अधिक भिन्न प्रदर्शित करने के लिए ही तड़क-भड़क के वेष बनाये जाते हैं। और ये साधक के पूजे जाने के साधन बन सकते हैं, कल्याण के नहीं। अतएव साधक जिस श्रेणी में हो साधु या गृहस्थ, उसी के भीतर मध्यवर्तीय वेष रखे।

"मन अस्थिर नहिं बोलै काहू" अर्थात साधक को चाहिए कि वह अपना मन स्थिर रखे और किसी से व्यर्थ बातें न करे। इस अर्धाली में बड़ी महत्त्वपूर्ण बात बतायी गयी है; वह है मन और वाणी का संयम। मन की शांति के लिए वाणी के संयम की बड़ी आवश्यकता है। जो व्यक्ति अधिक बोलता है, वह असत्य बोले बिना रह नहीं सकता। उससे कटु तथा परनिंदा के वचन निकलेंगे ही। इस प्रकार असंयत बोलने वाले के मन में शांति नहीं आ सकती। वाणी के संयम से बहुत-सारे उपद्रव अपने आप शांत हो जाते हैं। जिसका मन संतुलित है और वाणी पर जिसका अधिकार है, उसके आचरण पवित्र रहेंगे ही। जिसके मन, वाणी और कर्म तीनों संतुलित हैं, उसके जीवन में केवल पवित्र संस्कारों का मधु होता है। वह सदैव प्रसन्न रहता है। वही स्वरूपस्थिति का अधिकारी है।

"तन राता मन जात है, मन राता तन जाय।" जहां शरीर तथा इंद्रियां आसक्त हैं, वहां मन दौड़ता है और जहां मन आसक्त है, वहां शरीर जाता है, इंद्रियां उधर ही दौड़ती हैं। इंद्रियों की विषयासक्ति मन को घसीटती है तथा मन की आसक्ति इंद्रियों को घसीटती है। तन-मन के विषयों में आसक्त आदमी

जीवन भर संसार-बाजार का टट्टू बना लादी लादता है। उसके जीवन में शांति कहां है! परन्तु—

"तन मन एकै होय रहै, तब हंस कबीर कहाय।" अर्थात जिसके तन-मन 'एकै' हो जाते हैं, वह हंस हो जाता है। 'एकै' का अर्थ है 'एकाग्रता'। जिस साधक के शरीर और मन उसके वश में हैं, वह हंस कहलाता है। बीजक में हंस शब्द बारम्बार आता है। हंस एक पक्षी होता है। वह स्वच्छ तालाब में रहता है। उसके लिए कहावत है कि वह नीर-क्षीर विवेक करता है। यहां तात्पर्य यह है कि जो मन और शरीर पर विजयी है, वही जड़-चेतन, सत्य-असत्य, खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, स्व-पर आदि की परख कर सकता है। स्वच्छ तन-मन वाला ही तो पारखी होता है।

जैसा कि इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी बताया गया है कि 'हंस' संस्कृत भाषा का शब्द है। इसमें दो पद हैं 'अहम्-सः।' अ तथा विसर्ग लुप्त होकर हंस शब्द बन गया है। इसका अर्थ होता है 'मैं-वह'। अर्थात मैं वही हूं जिसे मैं परमात्मा, ब्रह्म, राम, खुदा, अल्लाह, मोक्ष, निर्वाण आदि शब्दों के आधार पर खोज रहा हूं, शब्द तो सारे कृत्रिम हैं, किन्तु मैं उनका कर्ता अ-कृत्रिम हूं।

इस रमैनी में मुख्य चार बातें बतायी गयी हैं। पहली बात है, जीव की स्वरूपस्थिति कीर्तन, वंदना आदि का विषय नहीं है। दूसरी बात है कि वह रहनी-गहनी का विषय है। तीसरी बात है कि साधक को अपना वेष बहुत विलक्षण नहीं बनाना चाहिए। और चौथी बात है जिसने अपने तन और मन पर विजय पायी है उसी ने हंसत्व पाया है। वही असार को परखकर त्याग देता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, जो सार एवं सत्य है।

परमतत्त्व को अपनी आत्मा से अलग खोजना भ्रम है

रमैनी-52

जेहि कारण शिव अजहुँ वियोगी। अंग विभूति लाय भौ योगी॥ 1॥
शेष सहस्त्र मुख पार न पावै। सो अब खसम सही समुझावै॥ 2॥
ऐसी विधि जो मोकहँ ध्यावै। छठये माँह दरश सो पावै॥ 3॥
कौनेहु भाव देखाई देहों। गुप्तहिं रहों स्वभाव सब लेहों॥ 4॥
साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, सबका उहै विचार।
कहा हमार मानै नहीं, कैसे छूटे भ्रमजार॥ 52॥

शब्दार्थ—वियोगी=प्रिय से बिछुड़ा हुआ, विरही। खसम=पति, मालिक, ब्रह्म। ध्यावै=ध्यान करे। छठये माँह=पांच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठें मन में। भ्रमजार=भ्रम का जाल।

भावार्थ—जिस परमतत्त्व के लिए शिव जी योगी बनकर शरीर में राख लगाये लोक धारणानुसार आज तक घूमते हैं, परन्तु अभी भी उससे वियोगी बने हैं, आज भी उसे नहीं पा सके हैं॥ 1॥ और शेष जी अपने हजार मुखों से वर्णन कर भी उसका पार नहीं पाये, उसी कुल-मालिक को आज के गुरु लोग सही-सही समझाने का दावा करते हैं॥ 2॥ वे कहते हैं कि इस प्रकार जो मेरा ध्यान करेगा, अथवा मेरी बतायी हुई प्रक्रिया से ध्यान करेगा, वह अपने मन में दर्शन पायेगा॥ 3॥ मैं किसी प्रकार दिखा दूंगा। मैं गुप्त रहकर तुम्हारे मन के स्वभाव की सारी जानकारी रखूंगा॥ 4॥

कबीर साहेब सबके बीच में जोर देकर कहते हैं कि सबका यही विचार है कि गुरु भगवान के दर्शन करा देता है। मेरी इस बात को लोग मानते नहीं कि मन में जो कुछ दर्शन होते हैं वह माया है, फिर इनका भ्रमबंधन कैसे छूटे॥ 52॥

व्याख्या—जिस ब्रह्म एवं मालिक की खोज करते-करते शिव-शेष आदि हार गये और उसके विषय में कोई निर्धारित निर्णय नहीं दे सके तथा न उसको पा सके, आज के गुरु लोग उसके दर्शन झट से करा देने का दावा करते हैं। "सो अब खसम सही समुझावै" वे कहते हैं कि हम उस मालिक की वास्तविकता को जानते हैं और उसको सही-सही समझा रहे हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रक्रिया से हम तुम्हें ध्यान करने के लिए बता रहे हैं उसके अनुसार ध्यान करो, तो अपने मन में उसके दर्शन पाओगे।

"मो कहँ ध्यावै, दिखाई देहों, गुप्तहि रहों, स्वभाव सब लेहों"—इन चारों वाक्यांशों में प्रथम पुरुष की क्रिया के रूप में मेरा ध्यान करो, मैं दिखाई दूंगा, मैं गुप्त रहूंगा तथा तुम्हारे स्वभाव की जानकारी रखूंगा—वर्णन है। यह प्रथम पुरुष की क्रिया गुरु तथा ब्रह्म—दोनों के लिए उपयुक्त अर्थ प्रकट करती है। भावुकता से भरे हुए भावनावादी गुरु लोग कहते हैं—'हे शिष्य! मेरा ध्यान करो, मैं तुम्हें मन में किसी भी वेष या रंग-रूप में दिखाई दूंगा और गुप्तरूप से रहकर तुम्हारे मन की सारी जानकारी रखूंगा।' गुरुओं के इस भावुक उपदेश से शिष्यों का कुछ भावनात्मक हित हो सकता है, परन्तु उनका विवेक नहीं जग सकता।

इन उपदेशों को ब्रह्म के प्रथम पुरुष की क्रिया के रूप में मानकर कहा जा सकता है कि मानो ब्रह्म कह रहा हो कि मेरा ध्यान करो, मैं नाद, ज्योति, शब्द आदि किसी रूप में दिखाई दूंगा, मैं गुप्त रहकर तुम्हारे स्वभाव की जानकारी रखूंगा, इत्यादि।

सब मिलाकर इसका अभिप्राय यही है कि जिस ईश्वर या ब्रह्म का पता शिव-शेष नहीं पाये, उसका सत्यवत स्वरूप बताने के लिए आज के गुरु लोग दावा करते हैं। गुरु लोग शिष्यों को ध्यान करने की राय देते हैं। वे अपनी कल्पित प्रक्रिया बताते हैं। कोई कहता है कि उसे चार भुजा वाला समझो। कोई कहता है कि उसे अमुक शक्ल में समझो। कोई कहता है उसे प्रकाश-रूप, ज्योति-रूप, नाद एवं शब्द-रूप में समझो। जब तुम्हें नाद सुनाई दे, समझ लो वही ब्रह्म है। जब तुम्हें ज्योति दिखाई दे, समझ लो वही ईश्वर या ब्रह्म है। तुम कल्पना करो कि तुम्हारे चारों तरफ ब्रह्म फैला है, इत्यादि।

कहना न होगा कि उक्त सारी बातें मन की अवधारणाएं हैं, मनःकल्पित हैं। यह कह सकते हैं कि इन अलीक धारणाओं से भी मनुष्य का कुछ-न-कुछ हित है। परन्तु यह सब सत्य नहीं है। यह सब तो मन का व्यापार है। अपनी आत्मा, अपने चेतन-स्वरूप से अलग परमात्मा खोजना एक भ्रम है और यह भ्रम पुराकाल से चला आया है। यदि शेष-महेश को भी यह भ्रम रहा हो, तो यह सत्य तो नहीं हो सकता।

"कहहिं कबीर पुकारि के, सबका उहै विचार।" कबीर साहेब निर्भयतापूर्वक हल्लाकर कहते हैं कि 'संसार में प्रायः सबका यही विचार है कि गुरु शिष्य को ईश्वर-दर्शन करा देता है और शिष्य कृतार्थ हो जाता है।' परन्तु इससे अधिक भोलापन क्या हो सकता है? वस्तुतः गुरुओं के उपदेशानुसार मनुष्य अपने मन में जो कुछ धारणा बना लेता है, उसे ही ध्यान में देखता रहता है और वह उसे ही ईश्वर-दर्शन मान लेता है। परन्तु व्यक्ति जो कुछ मन में देखता है वह सब मन की अवधारणाएं एवं कल्पनाएं हैं। सच्चा ध्यान तो है संकल्पों का त्याग, और संकल्पों के त्याग हो जाने पर कोई ईश्वर नहीं बचता जिसके दर्शन हों, क्योंकि सारे ईश्वर तो मन की कल्पनाएं हैं और संकल्पों के त्याग में मन ही शांत हो जाता है। इसलिए सारे दृश्य समाप्त हो जाते हैं। फिर रह जाता है चेतन आत्मदेव जो 'स्व' के रूप में विद्यमान रहता है और उसके साथ रहती है शांति, जो उसका अभिन्न स्वरूप है।

"कहा हमार मानै नहीं, कैसे छूटे भ्रमजार॥" सद्गुरु कहते हैं कि मैं कहता हूं कि मन के व्यापार को छोड़ो और अपने स्वरूप में स्थित होओ; परन्तु लोग मन के व्यापार के बाहर नहीं होते, तो इनके भ्रम-बन्धन कैसे कटेंगे!

रमैनी-53

महादेव मुनि अन्त न पाया। उमा सहित उन जन्म गमाया॥ 1॥
उनहूँ ते सिध साधक होई। मन निश्चय कहु कैसे कोई॥ 2॥
जब लग तनमें आहै सोई। तब लग चेति न देखै कोई॥ 3॥

तब चेतिहो जब तजिहो प्राना। भया अयान तब मन पछताना॥ 4॥
इतना सुनत निकट चलि आई। मन का विकार न छूटै भाई॥ 5॥

साखी—तीन लोक मुवा कौवाय के, छूटि न काहु कि आस।
एकै अँधरे जग खाया, सबका भया निपात॥ 53॥

शब्दार्थ—अन्त=रहस्य, वास्तविकता, कल्पना का अन्त। सोई=प्राण। अयान=अज्ञानी। तीन लोक=त्रिगुणी जीव। एकै अँधरे=अविवेकी मन। निपात=पतन, नीचे गिरना।

भावार्थ—महादेव मुनि ने अपनी पत्नी उमा के साथ जीवन गवां दिया, किन्तु वे ईश्वर या ब्रह्म का रहस्य नहीं समझ सके॥ 1॥ क्या उनसे भी अधिक कोई सिद्ध या साधक ईश्वर का खोजी हो सकता है! जब महादेव जैसे योगी ब्रह्म के विषय में किसी निश्चय पर नहीं पहुंच सके, तब पीछे के कहे जाने वाले सिद्ध-साधकों के मन में ब्रह्म के विषय में क्या निश्चय हो सकता है?॥ 2॥ जब तक शरीर में प्राण चलते हैं, यदि तब तक कोई सावधान होकर वास्तविकता की परख नहीं करता है, तो क्या वह तब जग सकेगा, जब प्राण छोड़ने पर तत्पर होगा। तब तो वह मूढ़ बनकर अपने पूरे जीवन के लेखा-जोखा को लेकर मन में पश्चाताप करेगा॥ 3-4॥ सत्संग और शास्त्रों की इतनी सारी ज्ञान की बातें सुनते-गुनते हुए मौत निकट आ जाती है, परन्तु हे भाई, लोगों के मन के विकार नहीं छूटते॥ 5॥

संसार के सारे लोग जीवन-पर्यन्त उसी प्रकार असंबद्ध प्रलाप करते हुए मरते हैं, जैसे मनुष्य स्वप्न में कौआता है; क्योंकि स्वात्म-भिन्न कुछ पाने की आशा मिटती नहीं। एक अविवेकी मन ने संसार के सारे लोगों को ग्रस रखा है। इसी में सबका पतन होता है॥ 53॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने सत्य कहने में कभी भय नहीं किया। महादेव की नगरी काशी में रहकर उन्होंने कहा—"महादेव मुनि अन्त न पाया। उमा सहित उन जन्म गमाया॥" ब्रह्म को अपने से अलग मानकर उसकी कल्पना का अन्त हो ही नहीं सकता। मनुष्यों द्वारा अपनी आत्मा से भिन्न ब्रह्म या ईश्वर के जितने रूप मन से गढ़े जायेंगे, वे सब मन के स्वप्न होंगे। उनमें वास्तविकता का बोध असंभव है।

साधारण साधकों की बात तो जाने दीजिए, बड़े-बड़े कहलाने वाले सिद्ध-साधकों के मन डगमगाते रहते हैं। वे ऊपर से ईश्वर-ब्रह्म कहते-सुनते हुए भी भीतर से संदेहशील बने रहते हैं। क्योंकि संसार में नाना अत्याचार एवं विषमताओं को देखते हुए उसकी सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता का भी उन्हें प्रदर्शन नहीं होता, और मन के आभासों के अलावा उसका कोई वास्तविक बोध, दर्शन एवं पाना भी नहीं होता।

भावुकों द्वारा लिखी या कही हुई बातों को सुनकर दूसरे भावुकों के मन उद्वेलित होते हैं और वे अपने से अलग आकाश में, बादलों में, बिजली की चमक तथा समुद्र की लहरों में, चांद में, सूरज में या मन की उड़ानों में ईश्वर या ब्रह्म को खोजते हैं। ऐसे लोग मन की कल्पनाओं में आंदोलित होते हुए जीवन को खो देते हैं, और कहीं के नहीं रह जाते।

"जब लग तन में आहै सोई। तब लग चेति न देखै कोई॥" बड़ा मार्मिक वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि जब तक शरीर में सांस चल रही है, तब तक ही सावधान होकर सत्य को देखने का प्रयास करना चाहिए। इस सुनहले अवसर को पाकर कोई चेतकर देखता नहीं है। "तब लग चेति न देखै कोई" इस अर्धाली में चेतना और देखना—ये दो शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। कोई सावधान होकर नहीं देखता कि वास्तविकता क्या है। 'देखने' शब्द का प्रयोगकर जिस वास्तविकता की तरफ सद्गुरु संकेत करते हैं वह बीजक में छिपा नहीं है, किन्तु सर्वत्र उजागर है। उनका संकेत है तुम अपनी ओर लौटो। तुम सोचो कि परमात्मा या ब्रह्म को कौन पाना चाहता है? तुम कौन हो? क्या तुमसे भिन्न कोई परमात्मा या ब्रह्म है जो मिलेगा? तुम बाहर की सारी आशाओं को छोड़कर अपने आप को क्यों नहीं समझते तथा अपने आप में क्यों नहीं तृप्त होते हो?

"तब चेतिहो जब तजिहो प्राना" प्राणांत के समय कोई चांस नहीं रह जायेगा चेतने का। स्वस्थ जीवन विषय-वासनाओं की मलिनताओं में तथा मन की भ्रांतियों में पड़कर भटकने में बिता दिया जाता है। जब शरीर का आखिर आ जाता है, तब पैर डगमगाते हैं, हाथ हिलते हैं, आंखों से दिखता कम है, कानों से सुनाई कम देता है, मन से बातें भूल जाती हैं, इस प्रकार जब जीवन की संध्या-बेला आ जाती है, प्राण अब निकले कि तब निकले होता रहता है, तब जागने का कोई अवसर नहीं रह जाता। इस अवस्था में तो "भया अयान तब मन पछताना" मनुष्य मूढ़ बना रहता है और अपने पूरे जीवन के अच्छे-बुरे कर्मों को लेकर उठाव-पटक में पड़ा रहता है। यदि उसने जीवन में अधिकतम अच्छे कर्म किये हैं, तब तो ठीक, अन्यथा अपने गलत कर्मों को लेकर उसकी अंतरात्मा उसे कचोटती रहती है। जिसने स्वस्थ अवस्था में अपने आप को नहीं सम्हाला, वह जरजर अवस्था में पछताने के सिवा क्या करेगा!

"इतना सुनत निकट चलि आई। मन का विकार न छूटे भाई॥" कितने लोग बहुत-से शास्त्रों, पुराणों एवं धर्मग्रन्थों के विचार, कथा एवं महात्माओं के प्रवचन सुन डालते हैं और इसी में उनके जीवन का आखिर आ जाता है, परन्तु उनके मन के विकार नहीं छूटते। सद्गुरु कहते हैं कि यदि कुछ करने की बात है तो यही है कि मनुष्य अपने मन के विकारों को छोड़े। सब शास्त्र पढ़े-सुने,

अनेक प्रकार के सन्तों के सत्संग किये तथा बहुत कुछ धार्मिक कृत्य किये; परन्तु मन के विकार नहीं छूटे, तो क्या हुआ ! मन के विकारों को छोड़ देना ही संतत्व है, जिसका मन निर्मल है, वह जगतीतल पर धन्य है।

"तीन लोक मुवा कौवाय के, छूटि न काहु कि आस।" यह वाक्य हृदय को झकझोर देने वाला है। कुछ लोग स्वप्न में अनुकूल तथा प्रतिकूल दृश्य देखकर आवाज करने लगते हैं। वे स्वप्न में अपने मित्र तथा शत्रु से बातें करते हैं और उनकी बातें मुख से शब्द के रूप में फूट पड़ती हैं। परन्तु वे बातें स्वप्न की हैं। उनमें कुछ सार नहीं है। मान लो, कोई व्यक्ति स्वप्न में अपने मित्र से मिला हो और उसके मित्र ने उसे एक लाख रुपये दिये हों और उसकी चर्चा के हर्षातिरेक में उसके मुख से बातें निकल रही हों, तो क्या उन स्वप्न दृश्यावलियों तथा उन बातों से उसे कोई लाभ है ! कोई लाभ नहीं है। अथवा स्वप्न में किसी दुखातिरेक में वह भयभीत होकर हल्ला करता हो और उसी में उसके मुख से आवाज निकल रही हो, तो उसकी उसमें वस्तुतः हानि भी नहीं है।

ठीक इसी प्रकार मनुष्य जीवनभर हानि और लाभ, शत्रु और मित्र, अनुकूल और प्रतिकूल, सुख और दुख मान-मानकर कौआता है। वह रात-दिन व्यर्थ में बक-बक करता है। सद्गुरु कहते हैं—"तीन लोक मुवा कौवाय के।" तीन लोक का सहज अर्थ होता है पृथ्वी, अंतरिक्ष एवं द्युलोक। अर्थात ऊपर, नीचे और मध्य। भावार्थ है प्राणिमात्र। सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण मानो यही तीन लोक हैं। सभी प्राणी इन तीनों गुणों में बरतते हैं। रजोगुणी तथा तमोगुणी तो कौआते ही हैं, सतोगुणी भी कौआ रहे हैं। क्योंकि "छूटि न काहु कि आस।" किसी की कुछ प्राप्ति की आशा नहीं छूटती है। मनुष्य का मन हर समय कुछ पाने की ललक रखता है। यही इसके मोक्ष में अवरोधक है। "कुछ खाने-पीने-पहनने की चीजें मिल जायें, कुछ जमीन, मकान या रुपये मिल जायें, कुछ मान-बड़ाई मिल जाये, ईश्वर-परमात्मा मिल जाये।" हर समय कुछ पाने की आशा मन में बनी रहती है और यही बंधन का कारण है। सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है—"केवल मुक्ति आशा रहे, तेऊ है बंधमान। सुखिया सदा निराश पद, सुनु वैराग्य निधान॥" मुक्ति की आशा लगी है, तो इसका अर्थ है कि अभी मुक्ति हुई नहीं है, तो बंधन है ही। जब जीव मुक्त हो जायेगा, तब उसे मुक्ति की आशा नहीं रहेगी। मुक्ति पाने की वस्तु नहीं है; क्योंकि जीव से अलग वह कुछ नहीं है। वासना का क्षय ही मोक्ष है।

"छूटि न काहु कि आस।" यह वाक्यांश अबोध के सूक्ष्म स्वरूप का परदाफाश करता है। जो कुछ आत्मा से, अपने चेतन-स्वरूप से अलग है, चाहे वह द्रव्यात्मक हो या भावनात्मक हो, उसको पाने की ललक 'आशा' है और

यही जीव का बंधन है। सांसारिक चीजों को पाने की आशा जीव के लिए जितना बंधन है, उतना ही बंधन है ईश्वर-परमात्मा पाने की आशा। जब हम ईश्वर-परमात्मा पाना चाहते हैं, तो इसका अर्थ यही होता है कि हम उसे अपने से अलग मानते हैं और अलग मानना घोर अज्ञान है। इसीलिए सद्गुरु पिछली रमैनी में कह आये हैं "जेहि कारण शिव अजहुँ वियोगी।" पृथक की वस्तुओं में सदैव वियोग की भावना बनी ही रहेगी। यदि हम आत्मा से भिन्न किसी भी वस्तु की आशा करते रहेंगे, तो उसके विषय में हमें कौआकर मरना ही होगा। भौतिक वस्तुएं, जितना चाहो, एक तो सब मिलती नहीं, और जो मिलती भी हैं वे छूट जाती हैं, और ईश्वर-परमात्मा आदि जो कुछ अपने से भिन्न भावनात्मक रूप में मान रखा है, उनका कभी मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि आत्म-भिन्न उनका कोई तथ्य ही नहीं है। अतएव हम जब तक आत्मा से अलग कुछ भी आशा रखेंगे, कौआकर मरते रहेंगे, भटकते रहेंगे।

"एकै अँधरे जग खाया, सबका भया निपात॥" एक ही अंधे ने सबको खा लिया है और सबका पतन हो गया है। एक अंधा यह अविवेकी मन है। हमारा बनाया अबोधी मन हमारे पतन का कारण बना हुआ है। हम मन को जीतें, मन के व्यापार से ऊपर उठें, बस स्वरूपस्थिति। सबको परखकर छोड़ देना और अपने पारख स्वरूप में स्थित हो जाना, यही तो जीवन का सार है, यही तत्त्व-सार है।

काम-वासना, स्त्री-पुत्रादि-वासना, धन-वासना, प्रसिद्धि-वासना, लोक-लोकान्तर-वासना, विद्या-वासना, ईश्वर-ब्रह्म-वासना—स्वरूपस्थिति के अतिरिक्त जहां तक वासनाएं हैं—सबका त्यागकर स्वतः चेतन पद में जब तक स्थित नहीं होता, तब तक जीव का कल्याण नहीं। जीवन क्षणभंगुर है, मायामोह के भुलावे में फंसना उचित नहीं। आसक्ति बंधन ने जीव को भीतर-बाहर से जकड़ रखा है। तत्परतापूर्वक उसी को काटना कल्याणार्थी का परम कर्तव्य है।

कुछ लोग मानते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम आदि शरीर से अमर हैं। इसलिए उनसे मिलने के लिए लोग तपस्या करते हैं। इस भ्रम के निवारणार्थ सद्गुरु आगे की दो रमैनियां कहते हैं।

देहधारी मरणधर्मा है

रमैनी-54

मरिगौ ब्रह्मा काशी को बासी। शीव सहित मूये अविनासी॥ 1॥
मथुरा को मरिगौ कृष्ण गोवारा। मरि मरि गये दशों अवतारा॥ 2॥
मरि मरि गये भक्ति जिन्ह ठानी। सर्गुण मा निर्गुण जिन्ह आनी॥ 3॥

साखी—नाथ मछन्दर बाँचे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई सब परे काल के फाँस॥ 54॥

शब्दार्थ—अविनाशी=विष्णु जी। गोवारा=गोपाल। दशों अवतारा= मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि। नाथ मछन्दर=मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ के गुरु। दत्त=दत्तात्रेय। व्यास=वेदव्यास।

भावार्थ—ब्रह्मा जी, काशी के निवासी शिव जी के सहित अविनाशी कहलाने वाले विष्णु जी शरीर छोड़कर संसार से चले गये॥ 1॥ मथुरा के गोपाल श्री कृष्ण जी नहीं रहे और दस अवतारों में जिनकी गणना की गयी है वे सब शरीर त्याग-त्याग कर चले गये॥ 2॥ जिन्होंने इनकी भक्ति की और सगुण में ही निर्गुण तत्त्व की कल्पना की, वे सब यहां से चले गये॥ 3॥

मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ और दत्तात्रेय-जैसे योगी तथा वेदव्यास-जैसे महापण्डित कालबली से नहीं बचे। कबीर साहेब घोषणा कर कहते हैं कि ये सब काल के फांस में पड़ गये॥ 54॥

व्याख्या—ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव बड़े देवता माने जाते हैं; श्री राम, श्री कृष्ण आदि अवतार माने जाते हैं; मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ तथा दत्तात्रेय सिद्धयोगी माने जाते हैं और वेदव्यास त्रिकालदर्शी महर्षि माने जाते हैं। इन सबके लिए प्रायः जनता में यह भ्रम है कि ये शरीर सहित अमर हैं, या ये जब जहां चाहें तब प्रकट हो सकते हैं।

कबीर साहेब धर्म, देवता, ईश्वर, योगी, महर्षि आदि के नाम पर चलाये जाने वाले सारे अंधविश्वासों को दूर कर देना चाहते थे। कोई ऐसा देवता नहीं है जो अदृश्य रूप में रहता हो और जब चाहे तब प्रकट होकर जो चाहे सो कर सकता हो या उसकी वन्दना-पूजा करने से मनुष्यों को वह ऋद्धि-सिद्धि देता हो। ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर यदि कभी रहे होंगे, तो वे निश्चित ही मनुष्य रहे होंगे और अपने काल के महापुरुष रहे होंगे। अब वे नहीं हैं।

मस्त्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि—ये दस अवतारों की कल्पना है। इनमें राम, कृष्ण तथा बुद्ध ही ऐतिहासिक पुरुष लगते हैं, शेष सब काल्पनिक प्रतीत होते हैं। राम, कृष्ण तथा बुद्ध के जीवन एवं वचनों से प्रेरणा लेना चाहिए। परन्तु ये सब मनुष्य थे। कभी थे। अब उस रूप में नहीं हैं। उनसे हम केवल सत्प्रेरणा ले सकते हैं, अन्य कुछ भी उनसे मिलने वाला नहीं है। परन्तु सत्प्रेरणा ही तो जीवन के लिए सब कुछ है।

एक बात, यहां आयी है 'मरि मरि गये दशों अवतारा।' तो कल्कि अवतार तो अभी हुआ ही नहीं है। फिर वह कहां मर गया? भई, अवतारवादी मानते हैं

कि ये दसों अवतार चारों युगों में होते रहते हैं, तो कबीर साहेब कहते हैं कि जो हुए, वे मरे।

लोग मानते हैं गुरु गोरखनाथ देह से अमर हैं, दत्तात्रेय अमर हैं। यह सब भ्रम है। कोई भी शरीर से अमर नहीं होता। इसी प्रकार ऋषि-महर्षि भी शरीर से अमर नहीं। सबसे हमें केवल सत्प्रेरणा लेना चाहिए। उनसे ऋद्धि-सिद्धि तथा मुफ्त में मोक्ष पाने की आशा मिथ्या भ्रम है।

"मरि मरि गये भक्ति जिन्ह ठानी। सर्गुण मा निर्गुण जिन्ह आनी॥" किसी देहधारी को सगुण ब्रह्म कहकर उसकी भक्ति की गयी और उसे ही सगुण के रूप में निर्गुण ब्रह्म, जगन्नियंता एवं सुप्रीम पावर मान लिया गया। यह सब ऋद्धातिरेक है। वस्तुतः सभी मनुष्यों की आत्माएं पूर्णतया समान हैं। उनमें से अनेक जन्मों की शुद्ध संस्कारी आत्माएं महानता को लेकर जन्म लेती हैं जैसा कि दूसरी आत्माएं भी अपनी आध्यात्मिक उन्नति द्वारा वैसे तथा उससे भी बढ़कर उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकती हैं। स्वरूपस्थिति तो सबकी समान होती है, परन्तु भौतिक प्रतिभा गुण-कर्मों में एक-से-एक घट-बढ़ रूप जीवों की होती रहती है। इन देहधारी मनुष्यों में, भले उनमें से किसी का नाम अवतार रख लिया हो, कोई समस्त विश्व का नियंता नहीं होता। विश्व तो जड़-चेतन के अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से निरंतर चल रहा है। उससे अलग किसी नियंता की अवधारणा वस्तु-विवेक के अभाव का परिणाम है। और फिर किसी देहधारी को अनन्त विश्व का नियंता मान लेना महा भोलापन है।

पाठकों के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक उठ सकता है कि कबीर साहेब ने तो सभी बड़े-बड़े लोगों को कह दिया कि ये सब मर गये, तो क्या कबीर स्वयं नहीं मर गये? वे भी तो मर गये। पाठकों को विदित होना चाहिए कि यदि कोई यह कहता है कि कबीर साहेब अपने पूर्व शरीर से आज भी कहीं स्थित हैं या वे जब चाहें तब आकर संसार में जो चाहें वह कर सकते हैं। वे परब्रह्म हैं। विश्व के नियंता हैं। तो ये सारी बातें काल्पनिक हैं। निश्चित है जैसे ब्रह्मादि, कृष्णादि, गोरखादि मर गये, वैसे कबीर भी मर गये। उनका तो यह अमर वाक्य है "आये हैं सो जायेंगे, राजा रंक फकीर। एक सिंहासन चढ़ि चला, एक बंधे जात जंजीर॥" और भी "मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय। ऐसा होय के न मुवा, जो बहुरि न मरना होय॥"

इस रमैनी की विषय-वस्तु ही यही है कि अलौकिकता नाम की कोई चीज नहीं है। मनुष्य अपने आप को धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलने वाले चमत्कार एवं अतिशयोक्तियों से बचाये तथा मानवीय बुद्धि का विकास करे। मानवीय विवेक एवं वस्तुपरक बुद्धि के अभाव में धर्म तथा अध्यात्म के नाम पर मानव का मानसिक, आर्थिक हर प्रकार का शोषण हो रहा है।

रमैनी-55

गये राम औ गये लछमना। संग न गई सीता ऐसी धना॥ 1॥
जात कौरवे लागु न बारा। गये भोज जिन्ह साजल धारा॥ 2॥
गये पाण्डव कुन्ता ऐसी रानी। गये सहदेव जिन बुधि मति ठानी॥ 3॥
सर्व सोने की लंका उठाई। चलत बार कछु संग न लाई॥ 4॥
जाकर कुरिया अन्तरिक्ष छाई। सो हरिश्चन्द देखल नहिं जाई॥ 5॥
मूरख मनुसा बहुत सँजोई। अपने मरे और लग रोई॥ 6॥
ई न जानै अपनेउ मरि जैबे। टका दश बिढ़ै और ले खैबे॥ 7॥

साखी—अपनी अपनी करि गये, लागि न काहु के साथ।
अपनी करि गये रावणा, अपनी दशरथ नाथ॥ 55॥

शब्दार्थ—धना (धन)=युवती, सुन्दरी वधू। धारा=धार या धारा नगरी। अन्तरिक्ष=आकाश। मनुसा=मनुष्य। सँजोई=संग्रह। बिढ़ै=वृद्धि करना, बढ़ाना।

भावार्थ—लक्ष्मण जी चले गये, श्री राम जी भी चले गये, परन्तु उनके साथ सीता जी-जैसी सुन्दरी युवती या पतिव्रता पत्नी न जा सकीं॥ 1॥ अपार कौरव दल को जाते विलंब न लगा। संपत्ति एवं कला से धारा नगरी को सजाने वाले राजा भोज भी चले गये॥ 2॥ वीर पांडु चले गये और कुन्ती-जैसी उनकी महारानी चली गयीं और बुद्धि तथा मति के अगाध भंडार सहदेव जी भी चले गये॥ 3॥ कहा जाता है प्रसिद्ध प्रतापी महाराज रावण ने लंका के सारे महल सोने के बनवाये थे, परन्तु चलते समय वे भी कुछ न ले जा सके॥ 4॥ जिनके राज-प्रासाद आकाश चूम रहे थे, वे अयोध्याधीश महाराज हरिश्चंद्र दिखाई नहीं देते॥ 5॥ मूर्ख मनुष्य बहुत संग्रह करता है। स्वयं तो मौत के कगार पर है, परन्तु दूसरे स्वजनों के लिए रो रहा है॥ 6॥ यह नहीं जानता कि अन्यों की तरह मैं भी मर जाऊंगा, बल्कि सोचता है कि दस टके धन और बढ़ जाये और उसे लेकर भोग लूं॥ 7॥

सांसारिक प्राणी-पदार्थों को 'मेरा-मेरा' मानकर सब मर गये, परन्तु किसी के साथ कभी कुछ भी नहीं गया। रावण भी 'मेरा-मेरा' कर चले गये और राजा दशरथ भी 'मेरा-मेरा' कर चले गये॥ 55॥

व्याख्या—आदमी जब तक जीता है, तब तक सांसारिक प्राणी-पदार्थों के लिए नामालूम कितने पाप-पुण्य कर्म करता है। वह सारे संसार को मानो समेटकर रख लेना चाहता है। परन्तु मनुष्य की अंतिम दशा क्या होती है यह सब जानते हैं। जब शरीर भी जीव से अलग होकर यहीं रह जाता है तब उसके साथ और क्या जायेगा। हम-तुम जैसे साधारण लोग ही नहीं, अपने जीवन-चरित से दुनिया का इतिहास बनाने वाले लोग भी एक दिन खाली हाथों चले जाते हैं। फिर यहां किस वस्तु को अपनी मानकर अहंकार किया जाये!

इसी संदर्भ में लक्ष्मण, राम, सीता, कौरव, पांडु या पांडव, भोज, सहदेव, हरिश्चन्द्र, रावण, दशरथ आदि प्रसिद्ध नाम गिनाये गये हैं कि इन सबके जाने में देरी नहीं लगी। इनमें से कई के परिचय पीछे 47वीं रमैनी में आ चुके हैं। यहां शेष के परिचय प्राप्त करें—

राजा भोज

भोज उज्जैन के धर्मवान राजा थे। इनके बालकपन में ही इनके पिता का देहावसान हो गया। उस समय इनके चाचा 'मुंज' राजगद्दी पर प्रतिष्ठित थे। पहले मुंज के मन में कुमार भोज के प्रति अगाध स्नेह था। एक दिन राजा पाठशाला में गया, वहां पर अध्यापकों एवं छात्रों द्वारा कुमार भोज की प्रशंसा सुनी और स्वयं भी उसकी प्रतिभा को देखकर वह धीरे-धीरे मन में उसके प्रति ईर्ष्या करने लगा।

राजा मुंज सोचने लगा कि कुमार भोज प्रतिभावान है। आगे यह हमारी गद्दी ले-न-ले; अतः पहले इसे ही समाप्त करा दिया जाये। फिर अपने मंत्रियों के साथ में कुमार भोज को वन में भेज दिया और मंत्रियों से कह दिया कि इसका सिर काटकर लाना। जब वन में ले जाकर मंत्रियों ने भोज का सिर काटना चाहा, तब भोज ने चाचा मुंज के लिए एक श्लोक लिखा; जिसका अर्थ यह था—"सत्युग के राजा मान्धाता, त्रेता के श्रीराम तथा द्वापर के युधिष्ठिर आदि अनेक प्रतापवान राजा काल के गाल में चले गये, परन्तु पृथ्वी किसी के साथ नहीं गयी, अब कलियुग में स्यात् चाचा मुंज के साथ (पृथ्वी) जाये।"

यह श्लोक देखकर मंत्रीजन प्रभावित हो गये और कुमार भोज को कहीं छिपाकर और नकली सिर ले जाकर मुंज को दिखा दिये और साथ-साथ वह श्लोक भी दिखाये। श्लोक पढ़कर मुंज ने बड़ा पश्चाताप किया और आत्महत्या करने को तत्पर हो गया। फिर मंत्रियों ने सच्ची बातें कह सुनायीं और कुमार भोज को लाकर मुंज को सौंप दिया। मुंज ने कुमार भोज से क्षमा मांगी, तथा उसे राजगद्दी देकर स्वयं विरक्त हो गया।

राजा भोज ने अपनी राजधानी धारा नगरी में स्थापित की। राजा भोज का राज्य-प्रबन्ध अत्यन्त उत्तम था। धारा नगरी में विशाल रमणीय भवन थे। सुन्दर सड़कें, विभिन्न विद्याओं के अध्ययन के लिए विभिन्न विद्यालय, अनेक औषधालय, अनाथालय थे तथा प्रत्येक के प्रबन्ध के लिए पृथक-पृथक समितियां भी। राजा भोज की प्रजा सन्तुष्ट थी। राजदरबार में विद्वानों का बड़ा आदर था। संस्कृत भाषा की बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी।

पाण्डव

युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—ये पांचों पाण्डव कहलाते हैं। ये कुन्ती तथा माद्री के गर्भ से उत्पन्न राजा पाण्डु के पुत्र कहे जाते हैं। ये बड़े वीर थे। श्री कृष्ण की सहायता से इन्होंने महाभारत में विजय पायी थी।

जब यदुवंशियों का सर्वनाश हो गया और श्री कृष्ण भी बधिक के बाण से विंधकर मारे गये, तब यह सुनकर पाण्डवों के मन में बड़ा वैराग्य हुआ और परीक्षित को राज्य देकर द्रौपदी सहित पांचों पाण्डव तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े और हिमालय में जाकर सब गल गये। कहा जाता है केवल युधिष्ठिर बच सके थे, वही इन्द्र के विमान में बैठकर स्वर्ग में गये; परन्तु यह तो कोरी कल्पना है। वास्तविकता यह है कि सबको गलना पड़ा।

सहदेव

ये पांचों पाण्डव में से एक हैं, और सबसे छोटे हैं। कहा जाता है कि ये अश्विनी के वीर्य से तथा माद्री के गर्भ से पैदा हुए थे। ये विद्वान तथा बुद्धिमान माने जाते हैं।

"गये सहदेव जिन बुधि मति ठानी" इस अर्धाली में बुद्धि और मति दो शब्द आये हैं जो पुनरुक्ति जैसे लगते हैं, क्योंकि दोनों का अर्थ सरसरी तौर पर एक ही लगता है। स्थान-भेद से उक्त दोनों का अर्थ एक माना जा सकता है, परन्तु विद्वानों ने इनके अलग-अलग अर्थ माने हैं, वह इस प्रकार हैं—"मन की वह शक्ति जो वर्तमान में निर्णय देती है 'बुद्धि' है, भविष्य के लिए निर्णय देने वाली 'मति' है और बुद्धि में नये-नये भावों का उदय होते रहना 'प्रतिभा' है।"[1]

कहते हैं रावण की नगरी लंका सोने की बनी थी। इसका अर्थ है कि वह धन-धान्य से संपन्न थी। जिस क्षेत्र में ज्यादा दूध होता है, लोग कहते हैं कि वहां तो दूध की नदी बहती है। बस इतना ही अर्थ है।

सद्गुरु कबीर इन महान संपदाशाली राजाओं का विनाश बताकर हमें यह समझाना चाहते हैं कि बताओ, तुम कब तक यहां रहोगे? किसलिए पाप-पर-पाप किये जा रहे हो? किसलिए ममता-मोह में जलते हुए अपना रत्न-जीवन खो रहे हो? वे कहते हैं—"मूरख मनुसा बहुत सँजोई। अपने मरे और लग रोई॥" यह मूर्ख मनुष्य बहुत संग्रह करने में लगा है। स्वयं तो मौत के निकट पहुंच चुका है; परन्तु कुटुम्बियों के लिए रो रहा है कि वे क्या खायेंगे, क्या

---

1. बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा।
   बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते॥

भोगेंगे? मूढ़ मानव! सबके पुरुषार्थ और प्रारब्ध उनके साथ हैं। तू उनके लिए क्या कर सकता है? "पूत सपूत तो का धन संचै। पूत कुपूत तो का धन संचै॥" कु-पुत्र के लिए धन संचय करना बेकार है। वह शराब-कबाब तथा गलत रास्ते में उसे नष्ट कर देगा। और यदि सु-पुत्र है तो उसकी चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए। वह स्वयं कमाकर खायेगा।

आदमी अपने मरने की बात ही नहीं सोचता है कि आज-कल में हमें यहां से जाना है। यदि आदमी अपनी मौत का ख्याल रखे, तो वह भौतिकता से हटकर आध्यात्मिक कमाई करे जो जीवन की सच्ची पूंजी है। वह तो इन बातों से बेहोश है। वह तो इस फिक्र में है "टका दश बिढ़ै और ले खैबे" हमारा धन कुछ और बढ़ जाये और उसे लेकर और भोग-विलास कर लूं। यहां 'दस टका' का अभिधा (शाब्दिक) अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है। मतलब है कुछ धन। आदमी अधिक से अधिक ब्याज लेकर, कालाबाजारी, घूस, चोरी, डाका आदि नाना कुकर्म करके भी धन बढ़ाने तथा उन्हें भोगने की लालसा में डूबा रहता है। परन्तु देखते-देखते उसे काल उठा ले जाता है। तृष्णा की विशेषता का चित्रण करते हुए संत कवि सुन्दर दास जी कहते हैं—

जो दस बीस पचास भये शत, होय हजार तो लाख मंगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति होन की चाह जगेगी॥
स्वर्ग पताल कै राज करौ, तृष्णा अधिकी अति आगि लगैगी।
सुन्दर एक संतोष बिना शठ, तेरी तो भूख कभी न भगैगी॥

श्री पूरण साहेब कहते हैं—

निर्धनिक कछु धन चहै, धनिक चहै विशेष।
विशेषहू विशेष चहै, होवन चहै नरेश॥
नरेश चहै इन्द्रपद, इन्द्र चहै रणजीत।
असुर चहै सुरपति बनन, यह तृष्णा की रीत॥

"अपनी अपनी करि गये, लागि न काहु के साथ। अपनी करि गये रावणा, अपनी दशरथ नाथ॥" संसार के प्राणी-पदार्थों को सब अपना-अपना कहकर यहां से चले जाते हैं, परन्तु किसी के साथ कुछ नहीं जाता। "इकट्ठे कर जहां के जर, सभी मुल्कों के माली थे। सिकन्दर जब गया दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे।"

रावण और दशरथ—इन दोनों राजाओं के आदर्शों में बड़ा अंतर है; परन्तु दोनों ही सांसारिकता में डूबकर और ममता-मोह में फंसकर, हाय-हाय कर चले गये। उनके साथ क्या गया?

अतएव जीवन क्षणभंगुर है। यहां का सब कुछ यहीं रह जायेगा। शरीर भी तो छूटकर जल जाता है या सड़-गल जाता है। हमें इसकी ममता एवं मोह त्यागकर अपने आप का कल्याण करना चाहिए। महाकवि जौक कहते हैं—

ऐ जौक गर है होश तो दुनिया से दूर भाग।
इस मयकदे[1] में काम नहीं होशियार का॥

विषयी जीवन की सारहीनता

रमैनी-56

दिन दिन जरै जलनी के पाऊ। गाड़े जाय न उमँगे काहू॥ 1॥
कन्धन देइ मस्खरी करई। कहुधौं कौन भाँति निस्तरई॥ 2॥
अकर्म करै औ कर्म को धावै। पढ़ि गुनि बेद जगत समुझावै॥ 3॥
छूँछे परै अकारथ जाई। कहहिं कबीर चित चेतहु भाई॥ 4॥

शब्दार्थ—जलनी=जलाने वाली। पाऊ=पैर, अधीनता, आसक्ति। उमँगे =उबरना। कन्धन देइ=गला मिलाकर आलिंगन करना। धौं=भला। अकर्म =बुरे कर्म। कर्म=अच्छे कर्म के फल। छूंछे=खाली। अकारथ=व्यर्थ।

भावार्थ—जीव कनक-कामिनी की आसक्ति में पड़कर प्रतिदिन मनस्ताप में जलते हैं। उन्हें मानो कोई उत्तरोत्तर उन्हीं विषय-वासनाओं में गाड़ता जा रहा हो। प्रायः किसी को उससे निकलते नहीं देखा जाता॥ 1॥ नर-नारी यहां तक बेशर्म हो जाते हैं कि शील और मर्यादा छोड़कर सरेआम एक दूसरे का आलिंगन करते हुए हंसी-मजाक करते हैं। कहो भला, ऐसे लोगों का कैसे कल्याण होगा॥ 2॥ लोग बुरे कर्म करते हैं और अच्छे कर्मों के फल के लिए इच्छा रखते हैं, और वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर संसार के लोगों को अच्छे कर्म करने का उपदेश देते हैं॥ 3॥ ऐसे लोगों के जीवन कल्याण से खाली रह जाते हैं और व्यर्थ चले जाते हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं—हे भाई, मन में सावधान हो जाओ॥ 4॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पिछली रमैनी में बताया था कि सभी प्राणी-पदार्थ काल के चबैना हैं। फिर भी मनुष्य छूटने वाले प्राणी-पदार्थों को मेरा-मेरा करके पचता है। इस रमैनी में सद्गुरु विषय-वासनाओं के अधीन हुए लोगों की दयनीय दशा का वर्णन करते हैं।

"दिन दिन जरै जलनी के पाऊ" जलनी का अर्थ है जलाने वाली। जलाने वाली मन की विषय-वासना है। इसका प्रतीकात्मक शब्द कनक-कामिनी है। कनक से अर्थ केवल सोना नहीं, किन्तु धन-दौलत है और कामिनी से अर्थ

---

1. मयकदे=मदिरालय।

केवल कामनायुक्त स्त्री नहीं, किन्तु कल्याणार्थी नारियों को दृष्टि में रखते हुए कामनाबद्ध पुरुष भी है। कामिनी बन्धन है पुरुष के लिए, तो कामी बंधन है नारी के लिए। वस्तुतः दोनों के लिए विषय-कामना ही बंधन है। स्त्री पुरुष की कामना में जलती है और पुरुष स्त्री की कामना में जलता है। वे एक दूसरे के मिलन में क्षणमात्र के लिए भ्रम-वश तृप्ति का अनुभव करते हैं, परन्तु वह तृप्ति नहीं, बल्कि इच्छित विषय में वृत्ति की स्थिरता तथा शक्ति की क्षीणता है। जिस प्रकार दौड़ता हुआ आदमी थककर रुक जाता है और थोड़ा सुस्ताकर दौड़ने की शक्ति अर्जित कर लेता है और पुनः दौड़ता है, इसी प्रकार भोगों की इच्छा वाले आदमी का मन सदैव विषय-चिंतन में दौड़ता है। कुछ काल के लिए भोग-क्रियाओं में रुककर उसे तृप्ति लगती है, परन्तु वह तृप्ति नहीं है बल्कि अतृप्त इच्छाओं के वेग को बढ़ाने वाली शक्ति-अर्जन क्रिया है। भोग-क्रिया के जिस क्षण को मन तृप्ति समझता है, उसी की आसक्ति मन में दृढ़ होकर पीछे उसी के लिए पुनः रात-दिन बेचैनी होती है। बीड़ी-तम्बाकू आदि सेवन के समय लगता है कि मन तृप्त हो गया, परन्तु वह तो बीड़ी-तम्बाकू की तृष्णा बढ़ाने का साधन है। भोगों को भोगने से उसकी तृष्णा की ज्वाला निरंतर बढ़ती है।

अतएव यह काम-वासना, लोभ-वासना, पुत्र-वासना, लोक-वासना एवं विषयों की तृष्णा जीवों के लिए 'जलनी' है, जलाने वाली है। आग में घी डालने से आग कभी ठंडी नहीं होती, इसी प्रकार संसार के भोगों में पचने वाले कभी काम-ज्वाला से बच नहीं सकते।

"गाड़े जाय न उमँगे काहू" संसार के प्रायः सारे लोग मानो इस काम-वासना के दलदल में बलात गाड़े जा रहे हैं। न चाहते हुए भी जीव को कौन वासनाओं में डुबा देता है? दूसरा कोई डुबाने वाला नहीं है। जीव ही ने अपने आप को भूलकर वासनाओं को बलवान बना रखा है और अब वे ही वासनाएं उसे उसी प्रकार बलात खींचती हुई लगती हैं जिस प्रकार झूले में वेग भर देने पर झूलने वाले को न चाहते हुए वह कुछ समय तक झुलाता रहता है। परन्तु यदि झूले वाला व्यक्ति पुनः झूले में वेग न भरे तो झूला कुछ क्षण में अपने आप रुक जायेगा और झूले से मनुष्य सहज उतरकर उससे मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार मनुष्य यदि भोग-क्रिया रूपी वेग मन में न भरे, तो धीरे-धीरे वासनाएं शांत हो जायेंगी और जीव वासनाओं से मुक्त हो जायेगा।

सद्गुरु कहते हैं "न उमँगे काहू" कोई इन विषयों के दलदल से निकलता नहीं। प्रश्न होता है कि क्या कोई नहीं निकलता? यदि कोई न निकलता, तो संसार में त्यागी कैसे देखे जाते? उत्तर है कि यहां का लक्षणा अर्थ है कि कोई बिरला ही इस दलदल से निकलता है। शेष सब तो उसी में धंसे जा रहे हैं।

लोग पढ़ते हैं, लिखते हैं, और अपनी आधी जिंदगी तक तैयारी करते हैं उसी संसार के दलदल में धंसने के लिए। कोई बिरला ही इस दलदल में न धंसकर या यदि उसमें पैर पड़ गये हैं, तो झिटककर भाग खड़ा होता है।

पामर नर तथा नारी धीरे-धीरे निर्लज्ज हो जाते हैं। वे सबके बीच में ऐसे हाव-भाव, हंसी-मजाक करते हैं जो सामाजिक मर्यादा को तोड़ने वाले होते हैं। इन भद्दी क्रियाओं का दूसरों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे लोगों के संस्कार बिगड़ते हैं। कहा जाता है कम्युनिस्ट देश सोवियत रूस में गाय-भैंस को गर्भवती करने के लिए बन्द जगह होती है। वहां खुली जगह में ऐसा कराना वर्जित है, क्योंकि इससे लोगों पर तथा अधिकतर किशोरों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

जो पति तथा पत्नी अपने बच्चों या अन्य लोगों के सामने शृंगारिक चर्चा, कुत्सित अंगचालन एवं भद्दी बातें करते हैं, वे यह नहीं समझते कि इससे उनके बच्चे तथा दूसरों में बुरे संस्कार जमेंगे तथा उनकी दृष्टि में वे श्रद्धास्पद नहीं रह जायेंगे। कितने ही माता-पिता अपनी खुली कामुक प्रवृत्ति के कारण ही अपने बच्चों द्वारा घृणा के पात्र हो जाते हैं। पति-पत्नी सम्बन्ध का हेतु है संतान। इसे जल-भोजन की तरह जीवन की आवश्यकता नहीं समझना चाहिए। भोगी होने पर रोगी, शोकी बनकर जीवनभर तृष्णा में जलना ही फल होगा।

साधु-ब्रह्मचारी को तो अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। उन्हें मन से भी विषय-चिंतन नहीं करना चाहिए। परन्तु गृहस्थों को भी यह समझ लेना चाहिए कि वैवाहिक जीवन का अर्थ काम-भोग की चक्की में जीवन भर पिसना नहीं है। मूढ़ मन जिसको परम सुख मानता है वह काम-भोग क्या है, बस, तृष्णा की ज्वाला में जलते हुए दो अस्थि-मांस के पिंजरों का सम्मिलन, नसों की झनझनाहट, शक्ति का क्षय और परिणति—मूढ़ता एवं पश्चाताप। विषयी जीव की विवेकशक्ति खो जाती है। वह सांसारिकता में डूबा हुआ बच्चों की तरह बिलबिलाता है, ऐसे मनुष्यों को जीवन में कहां शांति?

"अकर्म करे औ कर्म को धावै। पढ़ि-गुनि बेद जगत समुझावै॥" अकर्म का अर्थ है निष्क्रियता अर्थात कर्मों का अभाव और दूसरा अर्थ है बुरे कर्म। यहां अकर्म का अभिप्राय बुरे कर्म ही है। विषयी-पामर आदमी बुरे कर्म करता है। विषयों का ऐसा प्रमाद है कि यह जितना बढ़ता है उतना ही व्यक्ति को व्यभिचार, चोरी, हत्या, धोखाधड़ी एवं सारे पाप कर्मों की ओर ले जाता है। विषय-वासनाओं से अविवेक तथा अविवेक से सारे पाप होते हैं। आश्चर्य है कि मनुष्य सारे दुष्कर्म करते हुए भी चाहता है कि इनके फल अच्छे हों। वह आग छूकर शीतलता तथा जहर पीकर जीवन चाहता है।

सद्गुरु कहते हैं कि यह मत समझिए कि ऐसे कर्म केवल अनपढ़-अनाड़ी करते हैं, किन्तु बड़े-बड़े शिक्षित, विद्वान ही नहीं, धर्मशास्त्रों के ज्ञाता भी करते हैं, जो रात-दिन वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर संसार को उपदेश देते फिरते हैं। सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में भी कहा है—"पढ़ना गुनना चातुरी, औरों बात सहल्ल। काम दहन मन बस करन, गगन चढ़न मुसकल्ल॥" संसार में लबरे विद्वानों की कमी नहीं है। वे ऊपर से तो विद्या और धर्म के अवतार बने बैठे रहते हैं, किन्तु भीतर घोर मलिनता में डूबे रहते हैं। पामर विद्वानों का सारा शास्त्र-ज्ञान अपने भोगों की सिद्धि के लिए ही होता है। वे प्राप्त ज्ञान से अपने दोषों को ढकने का प्रयत्न करते हैं। वे मसालची के समान दूसरों को प्रकाश दिखाते हैं और स्वयं अंधियारे में रहते हैं।

"छूँछे परै अकारथ जाई" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग छूंछे हैं। ऐसे लोग जीवन भर रोते ही रह जाते हैं। जिनमें ईमानदारी एवं सत्यता नहीं है, जो विषयों से ऊपर उठकर संतोष में तृप्त नहीं हुआ है, जिसके भीतर शांति नहीं है, जो शुभाचार से नहीं चलता, ऐसा आदमी खाली-का-खाली है। बाहर से कोई भरा दिखे, परन्तु भीतर से खाली हो, तो क्या मतलब! संतोष रूपी धन से जो तृप्त है, वह धनी है। वही भरा है। जो भीतर-भीतर काम-वासना, तृष्णा एवं दुष्प्रवृत्तियों से जलता है, वह बाहर से सम्पन्न भी हो, तो भी वह छूंछा ही है। असली धन तो मनुष्य के भीतर है जो पवित्र संस्कारों का है। सुव्यवस्थित व्यक्तित्व, पवित्र संस्कार, अच्छी समझ, संतोष एवं आत्म तृप्ति—ये ही सच्चे धन हैं। जो इनसे सम्पन्न है वह भरा-भरा है। बाकी लोग तो छूंछे हैं। इसलिए उनका जीवन अकारथ है, व्यर्थ है। "आया कबीरा फिर गया, झूठा है हंकार।"

सद्गुरु अन्त में चेतावनी देते हैं "चित चेतहु भाई" हे भाई! मन में सावधान हो जाओ। ज्ञान-प्रकाश में जागो। विषयों की नींद छोड़ो। इसमें तुम लुट जाओगे। तुम्हारी विद्या कुछ काम न आयेगी। तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान विषयों के त्याग बिना केवल भूसी पछोरना है। अतः सावधान!

स्वर्ग आकाश में नहीं, मन की पवित्रता में है

रमैनी-57

कृतिया सूत्र लोक एक अहई। लाख पचास की आयू कहई॥ 1॥
विद्या वेद पढ़े पुनि सोई। बचन कहत परतक्षै होई॥ 2॥
पैठी बात विद्या की पेटा। वाहुक भरम भया संकेता॥ 3॥
साखी—खग खोजन को तुम परे, पाछे अगम अपार।
बिन परचै कस जानिहो, कबीर झूठा है हंकार॥ 57॥

शब्दार्थ—कृतिया=कृत्रिम, बनावटी, कल्पित। सूत्र=वाणी, मन्त्र। सोई= वही कल्पित। पेटा=अंतःकरण। वाहुक=सामान्य लोगों को। संकेता=इशारा। खग=पक्षी। पाछे=भूतकाल। बिन परचै=बिना परख।

भावार्थ—धर्मग्रन्थों की कृत्रिम वाणियों ने यह बयान दिया है कि आकाश में एक स्वर्ग-लोक है, जिसमें रहने वालों की आयु पचास लाख वर्षों की होती है अर्थात स्वर्गीय लोग बहुत दिनों तक जीते हैं॥ 1॥ ऐसे ही धर्मग्रन्थों की कल्पित वाणियों को पढ़कर नाना मत के गुरु लोग ऐसा बढ़ा-चढ़ा कर स्वर्ग का वर्णन करने लगे कि मानो वे स्वयं प्रत्यक्ष देखकर आये हैं॥ 2॥ धर्मग्रन्थों की ऐसी कल्पित बातें साधारण जनता के मन में पैठ गयीं। भ्रामक गुरुओं के इशारे से जनता भ्रम में पड़ गयी॥ 3॥

सद्गुरु कहते हैं कि तुम स्वर्ग रूपी कल्पना के उस पक्षी को खोजने के चक्कर में पड़े हो जिसके विषय में पीछे के पण्डितों ने अगम-अपार वाणियां कही हैं। परन्तु बिना परख के तुम इसकी वास्तविकता कैसे जान सकोगे? तुम्हारा स्वर्ग का अहंकार झूठा है॥ 57॥

व्याख्या—सूत्र उस वाणी को कहते हैं जो अपनी विषय-वस्तु को संक्षेप में बता दे। यहां सूत्र का सरल अर्थ मंत्र तथा वाणी है। कृतिया का अर्थ है कृत्रिम एवं बनावटी। धर्मग्रन्थों में यह बनावटी तथा नकली बातें हैं कि आकाश में एक स्वर्गलोक है। यह सूत्र कृतिया है, अर्थात यह वाणी नकली है कि एक स्वर्गलोक है और उसमें रहने वाले पचास लाख वर्ष जीते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि यहां भारतीय स्वर्ग की कल्पना की ही आलोचना है; क्योंकि भारतीय स्वर्गवादी ही यह मानते हैं कि स्वर्गस्थ जीव चाहे कितने ही युग स्वर्ग में रह ले, उसे पुनर्जन्म में इस पृथ्वी पर आना ही है। अभारतीय स्वर्गवादी जैसे ईसाई, मुसलमान आदि पुनर्जन्म न मानने से वे यह मानते हैं कि जो जीव एक बार स्वर्ग या नरक में गया वह वहां का सदा निवासी हो गया। अतएव उन्हें स्वर्ग से लौटने की बात ही नहीं है। यह तो भारतीय मूल पौराणिकों के स्वर्ग से जीव संसार में आते हैं, वे चाहे ब्राह्मण के स्वर्ग के हों या श्रमण के।

इसका यह अर्थ नहीं है कि कबीर साहेब ईसाई, मुसलमानादिकों के स्वर्ग का खण्डन नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि से इस लोक से अलग स्वर्ग की कल्पना ही व्यर्थ है, वह चाहे जिसके द्वारा की गयी हो। भारतीयों के स्वर्ग की समीक्षा यहां इसलिए है, क्योंकि वे भारतीयता एवं विशेषतर हिन्दू संस्कृति, धर्म एवं पौराणिक माहौल में पले थे। उन्होंने इन्हें ही निकट से जाना-समझा था, इसलिए सारी बातें इन्हीं को लेकर अधिकतर कहा था।

नाना मतों द्वारा स्वर्ग की कल्पना क्यों की गयी? क्या इस धरती के बाहर कहीं स्वर्गलोक का अस्तित्व है?

वस्तुतः इस धरती पर रहने वाले मनुष्यों की अपूर्ण इच्छाओं की सृष्टि ही स्वर्ग है। मनुष्य इस पृथ्वी पर अल्पायु है। उसकी अपने जीने की इच्छा पूरी नहीं होती, इसलिए उसने कल्पित स्वर्गलोक में लाखों वर्ष जीते रहने की धारणा कर ली। इस धरती पर जवानी बहुत थोड़े काल की है, सुन्दरता भी मनोनुकूल नहीं, पत्नी की जवानी तथा सुन्दरता भी क्षणभंगुर, भोगने की अन्य वस्तुएं भी बहुत थोड़ी, पृथ्वी भी अनसुहाती धूल, कीचड़, कांटे-खोभरों से भरी। इसलिए मनुष्यों ने कल्पना की कि आकाश में एक लोक है। वह दिव्य तथा चमकता हुआ है। वहां के भवन हीरे-मोती आदि के बने हैं। सड़कें भी चमकती धातुओं की हैं। वहां के रहने वाले लाखों-करोड़ों वर्ष जीते हैं और वे सदा जवान रहते हैं। उनको बड़ी सुन्दर-सुन्दर स्त्रियां मिलती हैं जिनके रूप, सौन्दर्य एवं जवानी स्थिर रहते हैं। वहां इच्छानुसार भोगों को भोगते रहो, कभी इन्द्रियां शिथिल नहीं होतीं इत्यादि। यह सब विषयी मन की कल्पना की उपज है। अविवेकी मनुष्य विषयों में लीन है। वह इन्हीं विषयों का उत्कर्ष रूप कल्पित स्वर्ग में भोगना चाहता है जो मलिन ही हैं। शूकर-शूकरी का भोग तथा इन्द्र-इन्द्राणी का भोग—दोनों एक ही समान मलिन हैं। परन्तु पामर जीव उनका इतना बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं कि मानो वही जीवन का लक्ष्य हो। वस्तुतः इस पृथ्वी से अलग न कहीं स्वर्गलोक है, न वहां देवता हैं और न दिव्य भोग हैं। यह सब विषयी मनुष्य का मनोराज्य मात्र है।

मुसलमानों के स्वर्ग में तो पानी की नदियां, शराब की नदियां, बड़े-बड़े बाग, हूरें (सुन्दरियां) तथा गिल्में (सुन्दर युवक) मिलते हैं। अरब में ही मुसलमानों के स्वर्ग कल्पे गये। अरब में पानी तथा पेड़ दोनों का काफी अभाव है। इसलिए स्वर्ग में उनका भी प्रबंध कर लिया गया। महाकवि ग़ालिब जन्नत का मजाक उड़ाते हुए लिखते हैं—

यों तो मालूम है हमें भी जन्नत की हक़ीक़त।
लेकिन दिल को बहलाने को ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है॥

जितने स्वर्गवादी पण्डित, मुल्ला, पादरी, महंत आदि हैं वे स्वर्ग की कल्पित कहानियों को पढ़-पढ़कर भक्तों के सामने उनका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं। वे उसका इतना भावुक होकर वर्णन करते हैं कि मानो प्रत्यक्ष देखकर आये हैं।

इस कल्पित वाणी की बात आम जनता के मन में पैठ गयी है। जब धार्मिक क्षेत्र के अगुवा मुल्ला-पण्डित ही दिग्भ्रमित हैं तब साधारण जनता

बेचारी क्यों न भटकाव में आ जाये। इसी झूठे स्वर्ग की कामना को लेकर वैदिक कर्मकांडियों ने हजारों वर्षों से यज्ञ के नाम पर मूक पशुओं की निर्मम हत्याएं की हैं। इसी के विरोध में भौतिकवादी ऋषि आचार्य बृहस्पति, उपनिषद् के अनेक ऋषि, तथागत बुद्ध तथा महात्मा महावीर ने अपने-अपने अभियान चलाये थे। भारतीय परंपरा विचारों में उदार होने से उसने यज्ञ में हिंसा का त्याग कर दिया; मुसलिम समाज में विचारों की उदारता न होने से वह आज भी कुर्बानी के नाम पर प्रतिवर्ष लाखों पशु काट डालता है, जो अत्यन्त जघन्य है।

सद्गुरु कहते हैं "खग खोजन को तुम परे, पाछे अगम अपार।" अर्थात पीछे हो चुके पण्डितों की स्वर्गविधायक अगम-अपार वाणियों को सुनकर हे मनुष्य ! तुम कल्पना के पक्षी को खोजने के चक्कर में पड़ गये हो। स्वर्ग एक कल्पना का पक्षी है।

अथवा खग का अर्थ आकाश भी माना जा सकता है। ख=आकाश, ग=गति=दशा—जिस स्वर्ग की दशा आकाश के समान अभावात्मक-शून्य है, तुम उसकी खोज के पीछे पड़े हो, जो अगम-अपार मन की कल्पना मात्र है।

"बिन परचै कस जानिहो, कबीर झूठा है हंकार॥" सद्गुरु कहते हैं कि तुम बिना परख के स्वर्ग का मिथ्यात्व नहीं समझ सकते हो। जिनको वस्तु-विवेक है, वे ही समझ सकते हैं कि स्वर्ग मन की एक उड़ान एवं शेखचिल्ली की कहानी है। अतएव तुम्हें यदि यह अहंकार है कि हम अमुक प्रकार तप, दान, यज्ञ, वलि या कुर्बानी के नाम पर जीव-हत्या कर स्वर्ग जायेंगे, तो यह तुम्हारा अहंकार मिथ्या है।

श्री कृष्ण ऋग्वैदिक काल में एक महान क्रांतिकारी पुरुष थे, जिसने आर्यों के नेता इन्द्र से लोहा लिया था। आर्य लोग यज्ञों के नाम पर पशु-वध करते थे। पशुपालक श्री कृष्ण को यह सब गलत लगता था। ऋग्वेद के अनुसार श्री कृष्ण वन्यजाति की दस हजार सेना के नायक थे। उन्होंने आर्यों के इस कृत्य का विरोध किया और इन्द्र से युद्ध किया था।[1] गीता श्री कृष्ण की रचना तो नहीं है, परन्तु गीतालेखक ने यह ध्यान रखा है कि कृष्ण के स्वर कहीं-न-कहीं उसमें अवश्य आयें। कृष्ण का मौलिक स्वर आप गीता के दूसरे अध्याय में देख सकते हैं—

"हे अर्जुन ! जो अज्ञानी हैं, वेद के शब्दों में आसक्त हैं, जो यह कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो विषय-अभिलाषी हैं और स्वर्ग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं; वे इस प्रकार की सेमलफूल जैसी दिखाऊ वाणियों को कहते

---

1. ऋग्वेद, मंडल 8, सूक्त 85, मंत्र 13 से 16। ऋग्वेद के जिस संस्करण में 11 सूक्त खिल्य (परिशिष्ट) रूप रहते हैं, उसमें यह सूक्त 85 की जगह 96 में पड़ता है।

हैं जिनका निदान कर्मों के फल में पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है और जो भोग तथा मायावी शक्तियों की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की विशेष कर्म-विधियां बताती हैं। उपर्युक्त वेद-वाणी द्वारा जिनकी बुद्धि मारी गयी है और जो भोग तथा मायावी वस्तुओं में आसक्त हैं उनकी निश्चयात्मक बुद्धि एकाग्रता में स्थिर नहीं होती। वेदों का सम्बन्ध तीनों गुणों की क्रियाओं से है, अतएव हे अर्जुन! तू त्रिगुणात्मक प्रकृति से मुक्त हो जा और दुनियादारी झगड़ों से स्वतन्त्र होकर नित्य सत्य में स्थित, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा की इच्छा से निवृत्त एवं स्वरूपनिमग्न हो जा। जब सब ओर से जल ही जल भरा हो तब छोटी तलैया से जितना प्रयोजन रहता है, उतना ही प्रयोजन ब्रह्मज्ञानी को सभी वेदों से रहता है।"[1]

उक्त उदाहरणों को पेश करते हुए लब्धप्रतिष्ठ विद्वान आचार्य चतुरसेन लिखते हैं—"इन उदाहरणों से आप एक ही निर्णय पर पहुंच सकते हैं कि कृष्ण अवैदिक अनार्यों का नेता तथा वैदिक देवों के नेता इन्द्र का विरोधी और प्रतिस्पर्धी है तथा गीता में वेद-विरोधी अनार्य तत्त्व है। दान और यज्ञ का वह विरोधी है। स्वर्ग और कर्मविधि का विरोधी है। वह अपने को सर्वश्रेष्ठ पूजार्ह कहता है।"[2]

वस्तुतः मन की पवित्रता, पवित्र संस्कार, अच्छी समझ, अहिंसा, करुणा, समता का बरताव, जीव मात्र पर दया, दूसरे की यथाशक्ति सेवा, अनासक्ति और थोड़े में कहें तो मानवमात्र के प्रति प्रेम और जीव मात्र के प्रति दया का भाव ही मनुष्य के मन के अन्दर का स्वर्ग है। यह जितना ही विकसित होता जाये और जितने लोगों में विकसित होता जाये, पृथ्वी पर स्वर्ग होता जायेगा। मन की बातें ही व्यवहार में आती हैं। मन पवित्र होगा, तो व्यवहार पवित्र होगा, फिर घर, समाज, देश तथा संसार स्वर्ग बन जायेंगे। यही कबीर साहेब चाहते हैं।

---

1. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
   वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
   कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
   क्रियाविशेषबहुलां भौगैश्वर्यगतिं प्रति॥
   भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
   व्यवसायात्मिकता बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
   त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
   निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
   यावानार्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
   तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ (गीता 2/42-46)
2. वैदिक संस्कृति पर आसुरी प्रभाव, पृ. 211।

सद्गुरु की असीम अनुकम्पा

रमैनी-58

तैं सुत मान हमारी सेवा। तो कहँ राज देउँ हो देवा॥ 1॥
अगम दृगम गढ़ देउँ छुड़ाई। औरों बात सुनहु कछु आई॥ 2॥
उतपति परलय देउँ देखाई। करहु राज सुख बिलसो जाई॥ 3॥
एकौ बार न होइहैं बाँको। बहुरि जन्म न होइहैं ताको॥ 4॥
जाय पाप सुख होइहैं घना। निश्चय बचन कबीर के मना॥ 5॥

साखी—साधु सन्त तेई जना, जिन्ह मानल बचन हमार।
आदि अन्त उत्पति प्रलय, देखहु दृष्टि पसार॥ 58॥

शब्दार्थ—सुत=शिष्य। राज=स्वरूपस्थिति। अगम=अगम्य, देखने-जानने में न आने वाला, परोक्ष दैवीकल्पना। दृगम=दृष्टिगोचर, प्रत्यक्ष विषय। गढ़=किला, आवरण। उतपति परलय=निर्माण-विनाश, जन्म-मरण। आदि अन्त=जन्म-मरण।

भावार्थ—हे प्रिय शिष्य! मैं तेरी सेवा करना चाहता हूं, तू उसे स्वीकार कर! हे देव! मैं तेरे को स्वरूपस्थिति का राज्य दे रहा हूं॥ 1॥ मैं तुम्हें परोक्ष और प्रत्यक्ष एवं देववाद तथा विषयासक्ति के कारावास से छुड़ा दूंगा। हे प्रिय शिष्य! तुम निकट आकर कुछ बातें और सुनो॥ 2॥ तुम्हें जन्म-मरण का रहस्य दिखला दूंगा, जिससे तुम उससे छूटकर अपरोक्ष स्वरूपस्थिति के स्वराज्य-सुख में सदैव निमग्न रहोगे॥ 3॥ फिर तो तुम्हारा एक बाल भी बांका न होगा। तुम जीवनपर्यंत जीवन्मुक्ति के आनन्द में विहरते हुए अन्त में जन्म-मरण से सदा के लिए मुक्त हो जाओगे॥ 4॥ तुम्हारे सारे कल्मष धुल जायेंगे और तुम्हें आत्यन्तिक सुख की अनुभूति होगी। कबीर की यह पक्की बात तुम मानो॥ 5॥

वे ही साधु हैं, वे ही सन्त हैं, जिन्होंने मेरी बातों को स्वीकार किया है। मैं तुम्हारे लिए जन्म-मरण और उत्पत्ति-प्रलय का रहस्य ऐसा स्पष्ट समझा दूंगा कि तुम विवेक की आंखें खोलकर उसे ठीक से देख सकोगे॥ 58॥

व्याख्या—समीक्षक व्यक्ति इस रमैनी को पढ़ने के बाद यह कह सकता है कि यह पूरी रमैनी कबीर की गर्वोक्ति है। परन्तु गुणातीत, अनासक्त एवं स्वरूपस्थिति में सिद्ध पुरुष ऐसा बड़े सहज ढंग से कह सकते हैं। कुछ ऐसे अधिकृत पुरुष होते हैं जो कह सकते हैं "मामेकं शरणं व्रज।"[1] अर्थात तू एक मेरी शरण में आ जा। वैसे महापुरुष का सारा संसार अपना है; परन्तु जो उनके

1. गीता 18/66।

निकट हैं, उन्हें समर्पित हैं, उनके लिए वे ऐसा कह सकते हैं। यह दूषण नहीं, किन्तु भूषण है। यह साधक को दृढ़ आधार देना है।

"तैं सुत मान हमारी सेवा" सद्गुरु ने शिष्य के लिए कितना प्यारा वचन कहा है। सद्गुरु का वात्सल्य-हृदय यहां शिष्य के लिए करुणा से छलक पड़ा है। गुरु शिष्य की सेवा करने के लिए तैयार हैं। गुरु द्वारा जो शिष्य की सेवा की जाती है वह अद्भुत है। गुरु शिष्य को स्नेह देकर उसकी सब प्रकार की रक्षा तो करता ही है, परन्तु शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए गुरु द्वारा किया गया योगदान अनन्त फल वाला है। शिष्य तो बेचारा गुरु की भौतिक सेवा ही कर सकता है, परन्तु गुरु शिष्य की आध्यात्मिक सेवा करता है।

खेद है, ऐसे गुरु कम होते हैं जो शिष्यों को स्नेह देते हैं और हर प्रकार उनको उन्नतपथ पर अग्रसर कर आध्यात्मिक प्रेरणा देते हैं। अधिकतम गुरु तो ऐसे होते हैं जो जैसे-कैसे लोगों को बिना परीक्षा किये शिष्य के रूप में बटोरते जाते हैं, परन्तु उन्हें शुद्ध स्नेह न देकर, कुछ दिनों में उनसे उलझने लगते हैं। साधारण गृहस्थ जैसे अपने पुत्रों से खीजता तथा झींखता रहता है, वैसे अधिकतम गुरु लोग अपने शिष्यों से जीवनभर उलझते रहते हैं। वे सदैव शिष्यों की शिकायत ही में पड़े रहते हैं। यदि शिष्यों को बटोरने में जीवन में अशांति ही आये, तो यह गुरुत्व बेकार है। वही काम करना चाहिए जो शांतिप्रद हो।

परमार्थ-पथ के—जिज्ञासा, मुमुक्षुत्व, साधुत्व, संतत्व—चार स्तरों के बाद गुरुत्व पद आता है। पहले मनुष्य को सत्यज्ञान की जिज्ञासा—जानने की इच्छा होती है। जान लेने के बाद मुमुक्षा अर्थात मोक्ष की इच्छा होती है। तब साधना करते हुए साधक साधुत्व जीवन बिताता है। इन तीनों स्तरों के बाद संतत्व आता है जो निष्कामदशा एवं जीवन्मुक्ति स्थिति है। यह स्थिति संसार से पूर्ण अनासक्ति दशा की है। ऐसी अवस्था में पहुंचकर साधक को कोई बन्धन नहीं रहता। ऐसा पुरुष महान सद्गुरु है। यह अवस्था प्राप्त हो जाने पर जो महान पुरुष शिष्यों को शरण में लेता है, वह उन्हें ठीक से निभाता है, उनको शुद्ध स्नेह देता है, परन्तु उनमें उलझता नहीं। वह पूर्ण अनासक्त होने से उसे द्वन्द्व आ ही नहीं सकते।

जो लोग अनासक्त हुए बिना अर्थात अपने में पूर्ण निर्बंध हुए बिना शिष्यों को बटोरने लगते हैं उनका जीवन अशान्त होता है। वे शिष्यों से रात-दिन कलह करते हुए जीवन को अशान्ति में बिता देते हैं।

गृहस्थ-शिष्य भी अपने गुरु में पूर्णता देखना चाहते हैं, और जो घर-दुवार छोड़कर विरक्त शिष्य गुरु के पास जीवनभर के लिए आ जाते हैं, वे तो निश्चित ही गुरु में पूर्णता देखना चाहते हैं। अतएव विरक्त शिष्यों को सम्हालना कोई

मामूली बात नहीं है। जब तक गुरु स्वयं पूर्ण नहीं होगा, तब तक वह विरक्त शिष्यों को शान्तिपूर्वक नहीं सम्हाल सकता।

गुरु को 'मां हृदय' होना चाहिए। उसके हृदय का प्यार शिष्यों के लिए सदैव छलकता रहे। इससे कोई यह भ्रम न कर ले कि उसे ममतालु बनने के लिए कहा जा रहा है। वस्तुतः पूर्ण अनासक्त गुरु ही शिष्यों को प्यार दे सकता है। आसक्त व्यक्ति तो कुछ समय ममता करता है, और मन में विघ्न पड़ने पर द्वेष करता है। शुद्ध एकरस प्यार उसी के मन में हो सकता है जो सर्वथा अनासक्त है। परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वह गलत शिष्य को भी बटोरे रहेगा। वह शिष्यों को स्नेह देने वाला होते हुए भी अपने साधुत्व नियम में पक्का रहेगा। बराबर अन्यथा करने वाले शिष्य को दंडित भी करेगा, उनका त्याग भी करेगा। अनुशासन के बिना तो समाज भ्रष्ट हो जायेगा।

अथर्ववेद में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में एक बड़ा सुन्दर मन्त्र आया है। ऋषि कहते हैं, 'ब्रह्मचारी को अपने निकट कर लेने वाला आचार्य उसे अपने गर्भ में ले लेता है। वह तीन रात्रि तक उसे अपने गर्भ में रखता है। जब ब्रह्मचारी अपना दूसरा जन्म लेकर गुरु के उदर से पैदा होता है, तब उसके शुभ दर्शन के लिए देवता लोग इकट्ठे होते हैं।"[1] मां का खाना, पीना, सांस लेना ही गर्भस्थ शिशु का खाना, पीना तथा सांस लेना है। क्योंकि गर्भस्थ शिशु मां को पूर्ण समर्पित होता है। इसी प्रकार जो सद्गुरु को पूर्ण समर्पित होता है, जो शिष्य गुरु का गर्भ बन जाता है, पूर्णतया गुरु के इशारे पर नाचने लगता है, उसका जीवन शीघ्र ही आध्यात्मिक दिशा में उन्नत हो जाता है। बस, दोनों का बानक यही होना चाहिए कि गुरु पूर्णतया निष्काम तथा अपने पद में स्थित हो, और शिष्य निष्कपट भाव से समर्पित हो। आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक अज्ञान तीन रात्रि हैं। इनके निवृत्त होने पर शिष्य मानो दूसरा दिव्य जन्म लेता है। तब वह सज्जनों का दर्शनीय एवं प्रेरणास्रोत हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं—हे पुत्र, हे शिष्य, मैं तेरी सेवा करना चाहता हूं, तुम्हें स्वरूपस्थिति का स्वतन्त्र राज्य देना चाहता हूं। तुम मेरी तरफ ध्यान दो। हे देव, तुम अपने स्वरूप को समझो।

कितने लोग शिष्यों को तुच्छ समझते हैं। यह बड़ी भारी भूल है। जो कल्याण की इच्छा लेकर गुरु के पास है, वह तुच्छ कैसे है ! वह तो देवता है। शिष्य देवता है। गुरु को चाहिए कि वह अपने हृदय में शिष्यों के प्रति आदर का भाव रखे। कबीर साहेब शिष्य को देव कह रहे हैं।

---

1. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ अथर्ववेद 11/5/3॥

"अगम दृगम गढ़, देउँ छुड़ाई।" अगम है अदृश्य, मन-वाणी तथा समस्त पकड़ से रहित परोक्ष कल्पित पदार्थ के प्रति अवधारणा। ऐसा ईश्वर, ऐसा ब्रह्म तथा ऐसा मोक्ष जिन्हें हम नहीं जान सकते, ऐसी वस्तुओं की कल्पना अपने मन में पाले रखना एक मानसिक कारावास है। यह गढ़ है, किला है, जेलखाना है, जिसमें हमारा मन कैद है। यह परोक्ष कारावास है, न दिखने वाला जेलखाना है, इसमें संसार के बड़े-बड़े लोग बन्द थे, आज भी बन्द हैं!

दूसरा गढ़ जेलखाना, कारावास दृगम है, जो 'दृग' से 'गम' हो। अर्थात जो इन्द्रियों से दृश्यमान हो। यह प्रत्यक्ष पांच विषय है। सारे प्राणी-पदार्थ एवं मोटी माया दृगम है। शरीर, परिवार, धन, घर, पांच विषयों के भोग, यह प्रत्यक्ष का पसारा दृगम है। यह दूसरा कारावास है। इसमें सब जीव बन्द हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हे प्रिय शिष्य, मैं तुम्हें इन दोनों कारावासों से छुड़ा दूंगा। तुम मेरी बातों पर ध्यान दो। हम अगम और दृगम अर्थात परोक्ष और प्रत्यक्ष—इन दोनों कारावासों में बन्द हैं। इन्हें ही क्रमशः कहा जाता है वाणी और खानी। इन दोनों बन्दीखानों से जो छूट जाये वही भाग्यशाली है। जब तक साधक परोक्ष तथा प्रत्यक्ष के कैद से नहीं छूटता तब तक अपरोक्ष बोध, अपरोक्षस्थिति नहीं होती।

परोक्ष, प्रत्यक्ष और अपरोक्ष—ये तीन विषय हैं। अपनी आत्मा से भिन्न माने गये ईश्वर-ब्रह्म परोक्ष हैं, जड़ पांच विषय प्रत्यक्ष हैं। इन्हीं दोनों में हमारा मन बंधा है। इन्हें छोड़कर हमारा अपना चेतन-स्वरूप अपरोक्ष है। अपनी चेतना, अपनी आत्मा, अपना ज्ञानस्वरूप चेतन, व्यक्ति के भीतर बैठा परखने वाला 'मैं' ही तो अपरोक्ष है, स्वयं-प्रत्यक्ष है। जड़ विषय तो पर-प्रत्यक्ष हैं, परन्तु अपनी चेतन-सत्ता स्वयं-प्रत्यक्ष अर्थात अपरोक्ष है। सद्गुरु कहते हैं तुम मेरी बातों को मानो, तो मैं तुम्हें अगम-दृगम के दोनों जेलखानों से छुड़ाकर तुम्हारी अपनी स्वरूपस्थिति के रास्ते को बता दूंगा।

"उतपति परलय देउँ देखाई" मैं तुम्हें ऐसी दिव्य दृष्टि दूंगा कि तुम उत्पत्ति-प्रलय को देख सकोगे। यहां कोई जादुई दिव्यदृष्टि के चक्कर की बात नहीं है जैसा कि गीतादि धर्मग्रन्थों में जगह-जगह कहा गया है जो सर्वथा काल्पनिक है। वास्तव में जब तत्त्वचिंतन द्वारा मनुष्य को विवेक जग जाता है तब वह सारे दृश्य पदार्थों को निरन्तर उत्पत्ति-प्रलय की लीला में देखता है। यदि हम रासायनिक दृष्टि से जगत को देख पाते, तो देखते कि संसार का हर निर्मित पदार्थ अपनी वर्तमान अवस्था को छोड़कर, दूसरी अवस्था में हरक्षण जा रहा है। शिशु को बालक, कुमार, युवा, अधेड़, वृद्ध तथा जरजर के रूप में हम लम्बे अन्तर में देख पाते हैं। हम विवेक से देखें तो वह क्षण-क्षण बदलकर ही उन विलक्षण दृश्यों एवं रूपों में पहुंचता है।

हम स्थूल दृष्टि से एक मकान को देखते हैं, तो उसका बाहरी ठोस रूप ही दिखता है। परन्तु विवेक से जब हम उसे देखने लगते हैं तब वह ईंट, सीमेंट, लोहा, लकड़ी, मिट्टी आदि का ढेर लगता है। जब हम उसे थोड़ी और गहराई में देखते हैं तब वह मिट्टी का एक धूह लगता है। और यदि हम उसे अधिकतम सूक्ष्म दृष्टि से देख पाते तो देखते कि वह सारा मकान सूक्ष्म कणों का एक कांपता हुआ पुंज है।

गुरुविवेक और चिंतन से वे सारी स्थूल चीजें खो जाती हैं, जो स्थूल दृष्टि से देखने पर मोहने वाली लगती हैं। हमें निर्मित कार्य-पदार्थों में ही तो मोह होता है और वे असली नहीं हैं, किन्तु मायिक हैं। सत तो इकाई है, योग नहीं। योग ही दिखता है, मोहता है, जो असत्य है और इकाई दिखती नहीं, जो सत्य है। सद्गुरु कहते हैं कि सब कुछ सब समय बदल रहा है 'ददा देखहु बिनसनहारा। जस देखहु तस करहु विचारा॥'[1]

"करहु राज सुख बिलसो जाई" जो सारे दृश्यों को क्षणभंगुर समझकर अपने अविनाशी स्वरूप में निमग्न है, उसी का स्वराज्य है, सुराज्य है। भौतिक राजकाज तो सदैव द्वंद्वमय है। यह स्वरूपस्थिति, आत्मस्थिति, पारखस्थिति द्वंद्वातीत है, निष्कंटक राज्य है। जो परोक्ष तथा प्रत्यक्ष के मोह से मुक्त होकर अपरोक्ष स्वरूप में स्थित है, वह कृतार्थ है, निर्भय है और सदैव आनंदमय है। वह 'आनन्द सिन्धु अहंतातीता' है।

"एकौ बार न होइहैं बाँको" जिसने नाशवान देहादि पदार्थों का राग छोड़ दिया है और जो अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित है, उसकी इस संसार में क्या हानि है! जिसने अपनी हानि करना छोड़ दिया है उसकी हानि कोई दूसरा कैसे कर सकता है! नाशवान पदार्थों के प्रति आसक्ति रखना अपनी हानि करना है। जो सांसारिक वस्तुओं में रात-दिन आसक्त है, उसी को सर्वत्र हानि-लाभ के भाव प्रदर्शित होते हैं। जिसने मोह, द्वेष, आसक्ति, लालसा-कामना आदि का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसकी इस नश्वर संसार में क्या हानि हो सकती है! अनासक्त तथा स्वरूपस्थ पुरुष जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। सद्गुरु कबीर जड़ प्रकृति से भिन्न आत्म-अस्तित्व, पुनर्जन्म, कर्म-फल-भोग तथा वासना-त्याग से मोक्ष मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं "बहुरि जन्म न होइहैं ताको।" वे केवल जीवन्मुक्ति ही नहीं, विदेहमुक्ति भी मानते हैं।

"जाय पाप सुख होइहैं घना" अनासक्त व्यक्ति के सारे पाप, सारे कल्मष भाग जाते हैं। आसक्ति ही तो पाप है और अनासक्ति ही पुण्य है, यही परम सुख है।

---

1. बीजक, ज्ञानचौंतीसा।

संसार के सारे पाप—चोरी, हत्या, व्यभिचार, अभक्ष्य सेवन, ठगाई आदि आसक्ति के कारण ही होते हैं। जो विषयों में आसक्त है वही पाप करता है और जो जितनाधिक आसक्त है वह उतनाधिक पाप करता है। सद्गुरु कहते हैं कि अनासक्त व्यक्ति के सारे पाप उसी प्रकार गायब हो जाते हैं जैसे सूर्य उगने पर अन्धकार। बस यही घना सुख है, निष्पाप जीवन ही तो आनन्द का सागर है।

धर्म के छूमन्तर से जो जीवन में अनन्त सुख चाहते हैं वे भ्रम में हैं। सद्गुरु कबीर सब क्षेत्र में तथ्य रखते हैं। उनके सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक भवन कंक्रीट सत्य के धरातल पर खड़े होते हैं। वे हवा में बातें नहीं करते। वे कहते हैं कि पूर्ण निष्पाप जीवन ही पूर्ण सुखी जीवन होता है।

आनन्द से भरा जीवन सब चाहते हैं। परन्तु दिग्भ्रमित आदमी इसे विषयों की मलिनता में खोजता है। और इसके लिए सारा छल-छद्म करता है। दूसरे के हक को मारकर ही तो संसार का ज्यादा सुख मिल सकता है ! और निश्चित है कि वह सुख का नहीं, दुख का रूप धारण करता है। तुम निश्चय समझ लो कि दूसरे को दुखी बनाकर सुखी नहीं हो सकते हो।

जीवन जितना निष्पाप होता जाता है उतना सुखी होता जाता है और जब वह पूर्ण निष्पाप हो जाता है, तब पूर्ण सुखी हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं "निश्चय बचन कबीर के मना" कबीर की यह बात निश्चय करके मानो। प्रबन्ध में ग्रन्थकार द्वारा अपने लिए अन्य पुरुष के रूप में कहने का प्रचलन पुराकाल से है। यदि कबीर साहेब कहते हैं कि यह मेरी बात पक्की करके मानो कि निष्पाप जीवन ही सुखी जीवन है, तो यह कथन क्या बुरा है ! यही तो तथ्य है और तथ्य पर जोर देना ठीक ही है और फिर सत्पात्र शिष्यों के लिए यह और स्वाभाविक है।

"साधु सन्त तेई जना, जिन्ह मानल बचन हमार।" वही साधु है, वही सन्त है जो मेरी बातों को मानता है। हो सकता है कबीर साहेब ने अपने सामने उपस्थित शिष्यों पर सत्यज्ञान एवं सदाचार का जोर डालने के लिए ऐसा कहा हो, जो अनवस्थान में गर्वोक्ति जैसी लगती है और अपने स्थान में ठीक ही रहा हो। परन्तु इस पंक्ति का इतना संकुचित ही अर्थ नहीं है। वस्तुतः कबीर साहेब ऐसे विराट पुरुष थे कि उनका व्यक्तित्व घुलकर गुरु का समष्टि रूप हो गया था। वे अपने में सारे सद्गुरुओं को तथा सारे सद्गुरुओं में अपने को देखते थे। उनके कहने का अर्थ लगता है कि वही साधु है, वही संत है, जो सद्गुरु के वचनों को स्वीकारता है, अनुशासन में चलता है और उनके उपदेश के अनुसार जीवनयापन करता है। यहां सद्गुरु कबीर गुरु के समष्टि रूप हैं। निष्काम सद्गुरु की शरणागति, अनुशासन, उपदेश, प्यार, संरक्षण में चलकर ही साधु, संत एवं भक्त सबका कल्याण है।

"आदि अन्त उत्पति प्रलय, देखहु दृष्टि पसार॥" जब तुम सद्गुरु के उपदेश को ग्रहण कर लोगे, तब तुम्हारी ढपी दृष्टि खुल जायेगी। तुम अपनी विवेक-दृष्टि से जन्म-मरण के रहस्य तथा संसार के उत्पत्ति-प्रलय को अर्थात इसकी निरन्तर परिवर्तनशीलता को देख सकोगे। तब तुम्हें पता चलेगा कि तुम केवल अचल हो, और तुम्हारे चारों तरफ समुद्र की तरंगों की तरह शेष सारी चीजें परिवर्तित हो रही हैं, उस समय तुम अपने आप को निर्विकार तथा शेष सारी जड़ वस्तुओं को परिवर्तनशील समझकर शोक से मुक्त हो जाओगे।

दृश्य से हटकर अपने द्रष्टास्वरूप में लौटो

रमैनी-59

चढ़त चढ़ावत भँड़हर फोरी। मन नहिं जाने केकरि चोरी॥ 1॥
चोर एक मूसै संसारा। बिरला जन कोइ बूझनहारा॥ 2॥
स्वर्ग पताल भूम्य ले बारी। एकै राम सकल रखवारी॥ 3॥
साखी—पाहन ह्वै ह्वै सब गये, बिन भितियन के चित्र।
जासो कियउ मिताइया, सो धन भया न हित॥ 59॥

शब्दार्थ—भँड़हर=बरतन, शरीर। चोर एक=अज्ञान। बारी=फुलवारी, बाग, विश्व। पाहन=अविवेकी।

भावार्थ—हठयोगी लोग प्राणायाम क्रिया द्वारा श्वास को ब्रह्मांड में चढ़ाते हैं और श्वास द्वारा स्वयं को भी मानते हैं कि हम ब्रह्मांड में चढ़ जाते हैं। इसी स्थूल खेल में वे शरीर-भांड़े को फोड़ देते हैं और जीवन समाप्त हो जाता है। उनका मन जीवन में यह नहीं जान पाता कि यह किसकी की हुई चोरी है॥ 1॥ अज्ञान एक चोर है जो संसार के सारे लोगों के हृदय-घर से स्वरूपज्ञान-धन को चुराता है। कोई बिरला व्यक्ति इसकी परख कर पाता है॥ 2॥ स्वर्ग-पाताल से लेकर भूमि तक की प्रकृति की इस फुलवारी में एक स्वात्मराम ही अपना रक्षक है॥ 3॥

स्वरूपज्ञान बिना केवल शारीरिक साधना कर सब अविवेक में ही जीवन खो दिये। निराधार चित्र बनाने के समान वे शून्य में अपने लक्ष्य को खोजते रहे। उन्होंने जिससे मित्रता की, वह धन उनका कल्याणकारी नहीं हुआ॥ 59॥

व्याख्या—हठयोगी लोग प्राणायाम-क्रिया द्वारा श्वास को ब्रह्मांड में नियोजित करते हैं। इसके लिए वे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा चक्रों को बेधते हुए ब्रह्मांड में प्राण ले जाते हैं। वे बताते हैं कि तब जीव पिंड छोड़कर ब्रह्मांड में पहुंच जाता है और ब्रह्मांड में स्थित ज्योतिस्वरूप ब्रह्म में मिल जाता है। वस्तुतः वे प्राण को जीव तथा ज्योति (गरमी) को ही ब्रह्म मान लेते हैं। इस प्रकार प्राण तथा ज्योति की चमक-

दमक जो हठयोग नाम से शारीरिक व्यायाम का विकार है जीव-ब्रह्म का मिलन मान लेते हैं। इसी अवधारणा में उनका जीवन बीत जाता है, परन्तु वे यह नहीं जान पाते कि हम योग के नाम पर ठगे गये हैं। उन्हें अपने रमैया राम स्वरूप का ज्ञान नहीं है। वे यह नहीं जान पाते कि प्राण, ज्योति आदि का द्रष्टा अपना चेतन-स्वरूप उनसे श्रेष्ठ है।

अज्ञान एक चोर है जो सबके हृदय-घर में चोरी करता है, यह कहने का एक तरीका है। अज्ञान कोई स्वतन्त्र सचैतन्य नहीं है जो चोरी करे। अभिप्राय यह है कि अपने स्वरूप का ज्ञान न होना व्यक्ति का लुट जाना है। जो अपनी सत्ता और महत्ता को नहीं समझता वह दर-दर भटकता ही है। जिसका धन चुरा गया हो वह कितना दुखी होता है! और अज्ञान द्वारा जिसकी आत्मा ही चुरा गयी हो, उसकी क्या दशा होगी? 'मैं कौन हूं?' जिसे इसका ही पता नहीं, वह मानो सब तरफ से लूट लिया गया है। अपनी सत्ता और महत्ता का भान होना और अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित रहना जीवन की सबसे बड़ी ऊंचाई है। और जिसको इसका पता न हो, उसके पास क्या रखा है? सद्गुरु कहते हैं "बिरला जन कोई बूझनहारा" इसे कोई बिरला समझता है।

"स्वर्ग पताल भूम्य ले बारी" हम जिस पर रहते हैं वह भूमि है, भू-मंडल है। इसके नीचे जो कुछ हो वह पाताल है और इसके ऊपर जो कुछ हो वह स्वर्ग है। इसको हम स्वर्ग, पाताल और मृत्युलोक भी कहते हैं। यह सब कहने का तरीका है। सार यह है कि हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं इसे हम देखते हैं। परन्तु यही सब कुछ नहीं है। इसके ऊपर हम आकाश में देखते हैं तो बहुत-सारे गोले चमकते हैं। वे भी कुछ हमारी पृथ्वी की तरह हैं। हम जिस भूमंडल पर बैठे हैं, अपने पैर के नीचे पृथ्वी ही है, उसके नीचे क्या होगा, हम नहीं जानते। उधर भी हमारी पृथ्वी के बाद शून्य में गोले चमकते होंगे। यह सब मिलाकर हम क्रमशः स्वर्ग, भूमि और पाताल कहते हैं। स्वर्ग, भूमि तथा पाताल कहने का तरीका मात्र हुआ। अर्थ है समस्त प्रकृति की यह फैली फुलवारी। इसमें जीव जहां कहीं भी रहता है "एकै राम सकल रखवारी" एक राम ही सब जगह इसका रक्षक है। यह भी कहने का एक तरीका ही है; क्योंकि जीव और राम दो नहीं हैं। आत्मा-परमात्मा को दो मानना ही गहरी भूल है।

यहां का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति कहीं भी रहे, जीव कहीं भी चला जाये उसके रक्षक उसके अपने कर्म ही होते हैं। अपनी आत्मा ही राम है। आत्मा ही स्वयं का रक्षक है। यदि आत्मा से अलग कोई सर्वसमर्थ राम मान लिया जाये, तो वह लोगों की रक्षा क्यों नहीं करता! कितने देहधारी गर्भ में से ही अपंग होकर पैदा होते हैं। वहां सर्वसमर्थ राम की शक्ति कहां गयी! वस्तुतः

उस जीव के कर्म ही ऐसे थे कि वह अपंग होकर पैदा हुआ। यदि उस जीव के कर्म अच्छे होते, तो स्वस्थ पैदा होता। यह आत्मा राम ही अपना रक्षक है। यदि इसने अपनी रक्षा नहीं की है, इसने बुरे कर्म किये हैं, तो इसे दुख भोगना ही होगा। बाहर का कोई कल्पित राम इसकी सहायता नहीं कर सकता।

राम यह जीव है, अपनी आत्मा है। यह अपने कर्मों का कर्ता और विधाता है। यह जैसा करेगा, वैसा भरेगा। यदि इसने बुरे कर्म कर लिये हैं, तो बाहर के हजार भगवान इसको सुख नहीं दे सकते और यदि इसने अच्छे कर्म किये हैं, तो इसे हजार शैतान दुख नहीं दे सकते।

अतएव हम चाहे पृथ्वी पर रहें, पाताल में रहें या ऊंचे स्वर्ग में अर्थात किसी अन्य लोक में रहें, सकल जगह, सभी स्थानों पर राम ही हमारा रक्षक है। अपनी अंतरात्मा ही हमारा अपना निधान है। यदि हमने अपने रामरूप को समझा है, अपने कर्म को सुधारे हैं, अपने राम-स्वरूप में रमते हैं, तो हम सब जगह सुरक्षित हैं, चाहे भूमि से लेकर स्वर्ग-पाताल कहीं हो।

परन्तु "पाहन ह्वै ह्वै सब गये" लोग तो अविवेक-वश पत्थर हो-होकर संसार से जा रहे हैं। वे केवल हठयोग-जैसे शारीरिक व्यायाम से उत्पन्न नाद, ज्योति आदि को परमात्मा मान बैठते हैं। भीत के बिना, फलक के बिना कहीं चित्र बनाया जा सकता है! परन्तु लोग फलक के बिना ही चित्र बना रहे हैं। अर्थात अपनी आत्मा से अलग कहीं शून्य में परमात्मा या राम खोज रहे हैं। परन्तु शून्य में कल्पित राम हमारा अपना धन नहीं होगा। वह हमारा कल्याणकारी नहीं हो सकता। हमें मानसिक और शारीरिक विकारों से उत्पन्न भास, अध्यास, कल्पना, अनुमान आदि को अपना स्वरूप न मान लेना चाहिए। हमें जड़ दृश्यों को छोड़कर अपने द्रष्टा राम में स्थित होना चाहिए।

इस रमैनी में हठयोग से तथा नाना कल्पित अवधारणाओं से हटकर स्व-स्वरूप-राम में स्थित होने का निर्देश है।

विषय-वैराग्य

रमैनी-60

छाड़हु पति छाड़हु लबराई। मन अभिमान टूटि तब जाई॥ 1॥
जिन ले चोरी भिक्षा खाई। सो बिरवा पलुहावन जाई॥ 2॥
पुनि सम्पति औ पति को धावै। सो बिरवा संसार लै आवै 3॥
साखी—झूठ झूठा कै डारहू, मिथ्या यह संसार।
तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार॥ 60॥

शब्दार्थ—पति=स्वामी[1], स्वामीपन, मालिकत्व, साख-रोब, दबदबा, मान-मर्यादा। बिरवा=वृक्ष, संसार-वृक्ष, भवबंधन। पलुहावन=हरा-भरा, पल्लवित। धावै=दौड़ना, ध्यान करना।

भावार्थ—सांसारिक प्राणी-पदार्थों के प्रति अपने स्वामित्व की भावना, मान-मर्यादा और इन सबको लेकर बड़ी-बड़ी डींगे मारना छोड़ दो, तब तुम्हारे मन के अहंकार का बंधन टूट जायेगा॥ 1॥ जो लोग चोरी का माल खाते हैं और काम करने में समर्थ होते हुए भी भिक्षा मांगकर खाते हैं; वे मानो भवबन्धन के वृक्ष को पुष्पित-पल्लवित करते हैं॥ 2॥ और जो लोग दुनियवी धन-दौलत, स्वामित्व एवं मान-मर्यादा के लिए ही रात-दिन ध्यान लगाये रखते हैं और उन्हीं के लिए दौड़ते रहते हैं, उनकी वासना उन्हें पुनः संसार-वृक्ष का पक्षी बनाती है॥ 3॥

संसार की भौतिक वस्तुएं अन्ततः झूठी हैं, इसलिए इन्हें झूठी समझकर इनका लोभ छोड़ दो। यह संसार मिथ्या है। मिथ्या इसलिए कहता हूं कि तुम इसका राग छोड़ दो और तुम्हारा उद्धार हो जाये॥ 60॥

व्याख्या—"छाड़हु पति छाड़हु लबराई" मनुष्य अपने आप को ऐसी वस्तुओं और व्यक्तियों का स्वामी मानता है, जो उसके बिलकुल नहीं हैं। एक सेठ जी ने करोड़ों की लागत से विशाल भवन बनाया। उनको उसका, अपने बहुत धन का तथा परिवार का बड़ा गर्व था। गृह-भोज हो गया था। घूर पर पड़े पत्तल और कुल्हड़ का अन्न अभी कुत्ते और कौए खा रहे थे। सेठ जी बीमार हुए। अस्पताल ले जाये गये। वहां चार घण्टे में मर गये। घर पर उनकी लाश लाते शाम हो गयी। बच्चों ने कहा मकान के ऊपर ले जाने की झंझट करना निरर्थक है। आखिर सुबह श्मशान ले जाना ही है। सेठ की लाश को मोटर-गाड़ी के गैरेज में रख दिया गया। शटर बन्द कर दिये। सुबह ले जाकर श्मशाम में फूंक आये। यह है संसार की मालिकी के अहंकार का परिणाम !

माया के मद में अंधा आदमी समझता है कि मैं युवक हूं, सुन्दर हूं, विद्वान हूं, धनवान हूं, सुन्दर युवती तथा सन्तान से सम्पन्न हूं, मेरे बहुत-सारे मित्र हैं,

---

1. अपने ऊपर जो कल्पित पति मान रखा है उसे छोड़ दो और उसको सिद्ध करने वाली लबरी वाणी को भी छोड़ दो। जीव का पति शिव है यह एक लबराई ही है। क्योंकि जीव स्वयं शिव है। जब अपने ऊपर लगी ईश्वर की कल्पना तथा उसको सिद्ध करने वाली लबरी वाणी को छोड़ दोगे, तब तुम्हारे मन का सांप्रदायिक अहंकार समाप्त हो जायेगा। जो तुम्हारे आत्मधन की चोरी करते हैं, तुम्हें दीन-हीन सिद्ध कर तुम्हारे ऊपर एक कल्पित पति सिद्ध करते हैं और तुम्हीं से भिक्षा तथा दान-दक्षिणा लेकर अपने पेट पालते हैं वे ही मानो तुम्हारे भवबन्धन के वृक्ष को हरा-भरा करते हैं। फिर सम्पत्ति और मर्यादा के लिए वे संसार में दौड़ते हैं, यह वासना उन्हें संसार में घसीटती है। अथवा जो कोई सांसारिक सम्पत्ति और मान-मर्यादा का दास होता है, वह संसार में भटकता है। इसलिए सद्गुरु सांसारिक चीजों को झूठ, मिथ्या आदि कहकर जीव के मन में इन सबसे वैराग्य कराना चाहते हैं।

मेरी बड़ी मर्यादा और सम्मान है, मेरे समान कौन है इत्यादि। परन्तु उस विमोहित व्यक्ति को यह पता नहीं है कि इनके समाप्त होते तथा छूटते देरी नहीं लगेगी। सद्गुरु कहते हैं कि इनके प्रति जो तुम्हारे मन में स्वामित्व की भावना है कि मैं इन सारे प्राणी-पदार्थों का मालिक हूं, इसे छोड़ दो। इतना ही नहीं, जो इन मायावी वस्तुओं के मद में लबराई करते हो, गप्पबाजी, झूठी बातें एवं लम्बी-चौड़ी डींगे हांकते हो, इन्हें भी छोड़ दो।

एक सज्जन के यदि दो सौ मन धान पैदा होता, तो गांव वालों से कहते कि चार सौ मन हुआ है। गांव के बाहर वालों से हजार मन तथा दूर जाने पर दो या तीन हजार मन बताते थे।

एक बार एक गांव में जाना हुआ। वहां सत्संग कार्यक्रम था। एक युवक सज्जन आये। उन्होंने कहा—"साहेब, क्या कहूं। प्रधानी के लिए चुनाव में खड़ा हो गया था। लोग जालसाजी से मुझे हरा दिये। मैंने दावा दायर किया। उसमें सत्ताइस सौ रुपये खर्च हो गये।"

वे सज्जन चले गये। उनका बड़ा भाई आया। उसने कहा—"साहेब, छोटा भाई धन बेकार में फूंक रहा है। उसने अभी दावा दायर करने में पांच सौ रुपये खर्च कर दिये।" इसके बाद वह चला गया। उन दोनों के पिता आये। उन्होंने दुखी होकर कहा—"साहेब, क्या कहें, छोटा लड़का बिना काम का काम करता है। उसने प्रधानी के चुनाव में हार जाने के कारण दावा दायर कर दिया। उसमें उसने बेकार के पचास-साठ रुपये खर्च कर दिये।"

वे तीनों मीटिंग कर तय कर लेते कि सबको इतनी रकम बताना है और सब सत्ताइस सौ बताते तो अच्छा होता। परन्तु असत्य बात के लिए मीटिंग करना भी बड़ा मुश्किल है। हमारे असत्य के लिए हमारे लोग ही घृणा करते हैं, भले ही वे अलग-अलग अनमिल असत्य बोलते रहें। असत्य अनमिल होता ही है। एकता तो केवल सत्य में है।

"जिन ले चोरी भिक्षा खाई" जो चुराकर खाते हैं और काम करने में समर्थ होते हुए भी भिक्षा मांगकर खाते हैं, वे दोनों डूबे हैं। वे अपने भवबंधनों को हरा-भरा करते हैं।

चोरी और भिक्षा कोई उपार्जन नहीं है। जीवन में पहली आवश्यकता अन्न की है। एक सम्राट, एक पदुमपति सेठ भूख से तड़पता हो, तो वह अपना सब कुछ देकर एक रोटी पाना चाहेगा। अतएव अन्न के उपार्जन करने वाले कृषक का सबसे बड़ा महत्त्व है। कृषक—कर्षक-खींचने वाला, अर्थात खेत और बीज से खींचकर अन्न पैदा करने वाला कृषक है। अन्न पहली आवश्यकता है जिसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इसके बिना जीवन चल नहीं सकता।